संस्कृत महाकाव्यों में चामत्कारिक शैली का उद्भव, विकास एवं प्रवृत्तियाँ

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध
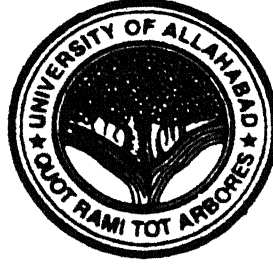
निर्देशिका
डॉ० (श्रीमती) रञ्जना
एम०ए०, डी०फिल्०, डी०लिट्०
उपाचार्य
संस्कृत-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रस्तोत्री
कु० रंजना अग्रवाल
एम०ए०

संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

दिसम्बर, 2002

श्री कामतानाथ जी के दर्शन

कामदगिरि भय रामप्रसादू। अवलोकत अपहरत विषादू
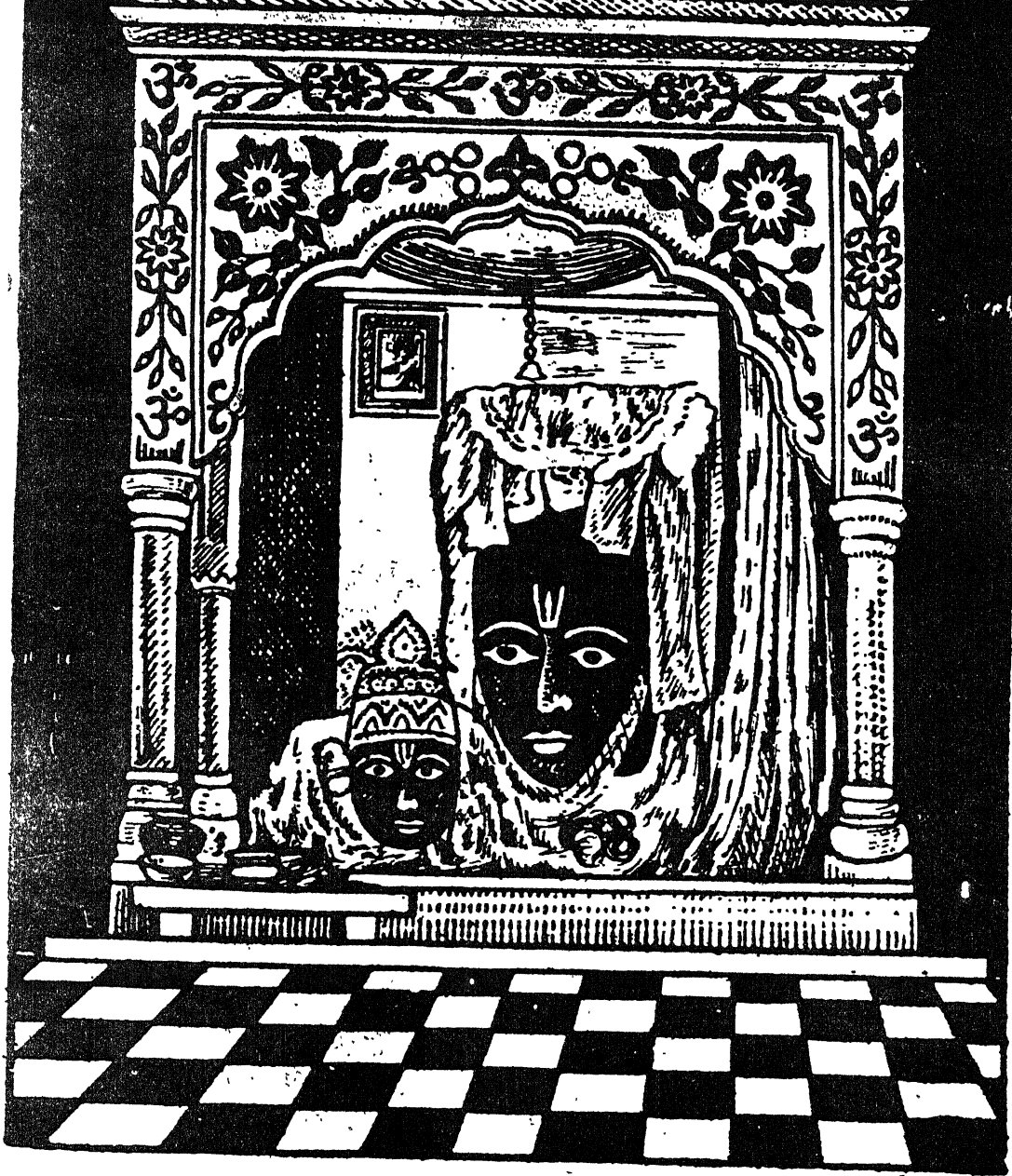
— : समर्पण : —

परमपूजनीया ममतामयी माता **श्रीमती पुष्पलता अग्रवाल**

एवं

परमपूज्यनीय प्रेरणास्रोत पिता **श्री विजय कृष्ण अग्रवाल**

को

सादर समर्पित

— : : —

प्राक्कथन

आज अनिर्वचनीय खुशी का अनुभव कर रही हूँ, क्योंकि कई वर्षों की सुदीर्घ–साधना पूर्ण हो गयी है। इस शोध–प्रबन्ध को पूर्ण करने के लिए जितने संघर्षों को झेलना पड़ा, उन्हें कभी विस्मृत नहीं कर पाऊँगी।

प्रारम्भ से ही संस्कृत साहित्य वर्ग की छात्रा होने के कारण इस विषय में मेरी अत्यधिक रूचि थी, जिसके कारण ही इस आयाम तक पहुँचने में सफल हुई। संस्कृत की विविध परीक्षाओं में उत्साहवर्धक सफलता के फलस्वरूप मेरा झुकाव इस विषय की ओर निरन्तर बढ़ता गया और मैंने यह निश्चय कर लिया कि संस्कृत विषय में ही शोध–कार्य करूँगी। उस दिन से ही संस्कृत भाषा मेरी चिरसंगिनी बनी रही।

समय आने पर मैने अपनी श्रद्धेया डा0 रञ्जना जी से शोध विषयक कुछ महत्त्वपूर्ण जानकारी ली और उन्हीं से मैने अपने शोधकार्य करने की जिज्ञासा व्यक्त की। उन्होंने जब मेरी अभिरूचि जाननी चाही तो मैंने अपनी रूचि महाकाव्यों के विधिवत् गहन अध्ययन की ओर व्यक्त किया। फलतः मेरे मनचाहे विषय को ध्यान में रखते हुए "संस्कृत महाकाव्यों में चामत्कारिक शैली का उद्भव, विकास एवं प्रवृत्तियाँ" विषय पर शोध कार्य करने को कहा और मेरे अनुरोध पर निर्देशन का कार्य भार स्वीकार कर लिया। एतदर्थ मैं उनकी बहुत आभारी हूँ। इस शोध विषयक रूचि को और भी ज्यादा प्रोत्साहन प्रदान किया मेरे पूज्य पिता जी एवं माताजी ने जिनके आशीर्वाद का संबल लेकर मैं इस क्षेत्र में प्रविष्ट हुई।

इस शोध–प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में काव्य का उद्भव विभिन्न मत, काव्य की परिभाषा विभिन्न मत, काव्य का प्रयोजन तथ काव्य के शोभाधायक तत्त्व यथा अलङ्कार, गुण, रीति, वृत्ति, औचित्य, रस (रस ध्वनि), छन्द आदि का वर्णन किया गया है।

द्वितीय अध्याय में –अ– आर्षकाव्य रामायण एवं महाभारत, वाल्मीकि की करूण से उद्भूत आदिकाव्य, रामायण एवं महाभारत की विषयवस्तु, ऐतिह्यतत्त्व की प्रधानता, भावपक्ष एवं कलापक्ष का सीमित क्षेत्र एवं उद्देश्य वर्णित किया गया है।

–ब– वैदर्भी के उद्गाता महाकवि कालिदास की सारस्वत प्रधान शैली, उनका काव्य–वैशिष्ट्य तथा रस–ध्वनि, शेष शोभाधायक तत्त्व।

–स– अश्वघोष, उनकी शैली तथा वर्ण्यविषय, कालिदास से पूर्णतः प्रभावित।

तृतीय अध्याय में– अलङ्कृत शैली के प्रणेता महाकवि भारवि, नूतन शैली का उदय, चमत्कृति की पक्षधरता विभिन्न शोभाधायक तत्त्वों एवं चित्रबन्धों द्वारा। भट्टि का अभ्युदय, उनका विशेष आग्रह व्याकरण–शिक्षण का, इसके अलावा कालिदास के सहज मनोरम शैली के विपरीत भट्टि तथा कुमारदास की चमत्कृतिपूर्ण शैली।

चतुर्थ अध्याय में– महाकवि माघ और भारवि की प्रतिस्पर्धा, भारवि को पीछे छोड़ने की ललक, अलङ्कार, रीति, गुण, वृत्ति तथा चित्रबन्धों द्वारा चमत्कृति प्रदर्शन, हरविजय पर बाण तथा माघ की अलङ्कृत शैली का प्रभाव, साथ ही इनके समय तक भारवि द्वारा आरम्भ की गयी शैली का ख्याति प्राप्त काव्य शैली के रूप में होना, ऐसा वर्णित है।

पञ्चम अध्याय में– हरिश्चन्द्र का धर्मशर्माभ्युदय तथा कविराज का राघवपाण्डवीयम्, श्रीहर्षकृत नैषधीयचरितम् (पंचनली) वेंकटाध्वरि का यादव राघवीय महाकाव्य, साहित्य समाज का दर्पण, समाज के अनन्त घटकों का तत्कालीन साहित्य पर प्रभाव, वर्णित किया गया है।
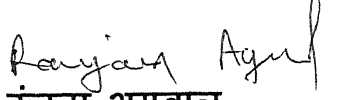
इतना ही नहीं संस्कृत विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अन्य पूज्य प्राध्यापकों से मुझे यदा–कदा परामर्श मिलता रहा है। अतः मैं उन सबका आभार मानती हूँ। इस शोध–प्रबन्ध के लिखने में मेरी प्रेरणा का स्त्रोत मेरी बहनें भी रहीं हैं, जिनकी सद्भावना से मैं इस शोध–प्रबन्ध को पूर्ण कर सकी। इतना ही नहीं सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान तो मैं श्री शिव आनन्द सिंह को दूंगी जिनके सार्थक एवं सहयोग पूर्ण परिश्रम से मैं इस शोध–प्रबन्ध को कार्य रूप में परिणत कर सकी।

इस शोध प्रबन्ध के लिखने में मैंने जिन–जिन ग्रन्थों का अवलम्बन लिया है, उन सब के प्रति मैं परम कृतज्ञ हूँ। परमआदरणीया डा० रञ्जना जी के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिए मेरे पास शब्द ही नहीं हैं, उन्हीं के स्नेह एवं निर्देश से यह शोध कार्य

सम्पन्न हो सका। इसके अलावा गंगानाथ झा, केन्द्रीय संस्थान संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद विश्वविद्यालय पुस्तकालय तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन पुस्तकालय के अधिकारियों के प्रति भी मैं आभारप्रकट करना चाहूँगी जिन्होंने समय–समय पर वाञ्छित पुस्तकें उपलब्ध करायीं।

अन्त में मैं पुनः अपने सभी गुरूजनों, समस्त मित्रों तथा शुभचिन्तकों के प्रति अभार प्रकट करती हूँ, विशेषकर अपनी निर्देशिका महोदया को जिनके वैदुष्यपूर्ण एवं सफल निर्देशन में यह शोध–कार्य सम्पन्न हुआ।

Ranjana Agrwal

रंजना अग्रवाल

संस्कृत–विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद।

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय – काव्य का उद्‌भव एवं एतत् सम्बन्धी विभिन्न मत, काव्य की परिभाषा–विभिन्न मत, काव्य का प्रयोजन, काव्य के शोभाधायक तत्त्व– अलङ्कार, गुण, रीति, वृत्ति, औचित्य, रस (रसध्वनि), छन्द आदि।

द्वितीय अध्याय – (अ) आर्षकाव्य– रामायण एवं महाभारत– महर्षि वाल्मीकि की करूणा से उद्‌भूत आदिकाव्य, रामायण एवं महाभारत की विषयवस्तु– इतिवृत्तात्मकता अथवा ऐतिहासिक तत्त्व की प्रधानता, भावपक्ष एवं कलापक्ष का सीमित क्षेत्र एवं उद्‌देश्य।

(ब) सहज सारस्वत प्रवाह के शिल्पी एवं वैदर्भी के उद्‌गाता महाकवि कालिदास उनकी शैली तथा उनका काव्य वैशिष्ट्य, रस ध्वनि का प्राधान्य, शेष शोभाधायक तत्त्व, आनुषंगिक अथवा अनुपोषक अर्थात् रसानगुण योजना।

(स) अश्वघोष का प्रतिपाद्य बौद्ध धर्म एवं दर्शन का काव्य शैली में प्रतिपादन, उनकी काव्य–कला, महाकवि कालिदास का वर्ण्य एवं शैलीगत प्रभाव।

तृतीय अध्याय – कालिदासोत्तर महाकाव्य– महाकवि भारवि, चमत्कार पूर्ण नूतन शैली का उद्‌भव, काव्य के विविध माध्यमों द्वारा चमत्कृति–प्रदर्शन, अनावश्यक अलङ्कारप्रियता, चित्रकाव्य सर्वतोभद्र, यमक, एकाक्षर श्लोक रचना आदि। इस अलङ्कृत शैली का मुख्य उद्‌देश्य वैदर्भी सम्राट कालिदास को पीछे छोड़ना था। संस्कृत की काव्य–परम्परा में कालिदास की सहज एवं मनोरम शैली के विपरीत धारा बहायी गयी। तत्कालीन समाज में अलङ्करणप्रियता भी चमत्कृतिप्रियता का एक प्रबल कारण बना।

भट्टि तथा कुमारदास में यद्यपि चमत्कृति की पक्ष–धरता, किन्तु शैली की अपनी विशिष्टता है। भट्टि का व्याकरण–शास्त्र के प्रति आग्रह, कुमारदास– वैदर्भी तथा चमत्कृति के समन्वयक।

चतुर्थ अध्याय – माघ–भारवि की प्रतिस्पर्धिता, इनकी चमत्कारप्रियता, भारवि को पराजित करने की ललक, विषयवस्तु, अलङ्कार, रीति, वृत्ति, गुण में चमत्कृति (वैचित्र्य) प्रदर्शन, चित्रबन्ध।

रत्नाकर– 'हरविजय' पर बाणभट्ट तथा माघ के अलङ्कृत शैली का प्रभाव, माघ और रत्नाकर के काल तक अलङ्करणप्रियता ख्याति काव्य–शैली के रूप में सर्वथा स्थिर हो गयी।

पञ्चम अध्याय – हरिश्चन्द्र का (धर्मशर्माभ्युदय) और कविराज का राघवपाण्डवीयम्, श्रीहर्ष का नैषधीयचरितम् (पंचनली), यादवराघवीयम् वेंकटाध्वरि, साहित्य समाज का दर्पण, समाज के अनन्त घटकों का तत्कालीन साहित्य पर प्रभाव।

प्रथम अध्याय

काव्य का उद्‌भव – काव्य का जन्म कब, कैसे और किन परिस्थितियों में हुआ? यह एक जटिल प्रश्न है। हमारी परम्परा में काव्य का जन्म सनातन माना गया है, क्योंकि किसी भी प्रबन्ध काव्य की सृष्टि के मूल में काव्यप्रणेता का कोई महान् उद्‌देश्य कारण रूप में सन्निविष्ट रहता है, जिसकी प्रेरणा के परिणाम स्वरूप वह काव्य विशेष का प्रणयन करता है। कवि का यही लक्ष्य सर्वस्व रूप होता है, क्योंकि कवि किसी काव्य की रचना किसी अन्तर्भावना विशेष से प्रेरित होकर ही करता है। उस काव्य का वही मुख्य उद्‌देश्य होता है।

काव्य का एक चिरन्तन प्रवाह हुआ करता है। काव्य का प्रारम्भ वैदिक काल से ही है। वेदों के बाद उपलब्ध लौकिक साहित्य में वाल्मीकि रामायण ही काव्य का प्रथम निदर्शन है। अतः रामायण की रचना से ही काव्य का उदय माना जा सकता है। एक ओर तो रामायण में काव्य प्रणयन के तत्त्व सुरक्षित है तो साथ ही साथ उसके द्वारा संस्कृत की वृहत् काव्य परम्परा का श्रीगणेश भी होता है। यद्यपि रामायण एक महाकवि की रचना है तथापि उसके अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि सदियों के अध्यवसाय के फलस्वरूप काव्य निर्माण का प्रवाह निरन्तर चलता रहा।

'आचार्य राजशेखर' ने काव्यशास्त्र की उत्पत्ति का सम्बन्ध नटराजशंकर से स्थापित किया है। उनका कहना है कि भगवान शंकर ने सर्वप्रथम ब्रह्मा जी को आदेश दिया, तदनुसार ब्रह्मा ने अपने मानसजात अट्ठारह शिष्यों को काव्यशास्त्र का उपदेश दिया।[1] इन अट्ठारह शिष्यों ने सम्पूर्ण काव्यशास्त्र का अट्‌ठारह अधिकरणों में विभक्त कर प्रत्येक अधिकरण पर एक–एक ग्रंथ लिखकर काव्यशास्त्र का विकास किया। इन आचार्यों के सम्बन्ध में ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता। यह विवरण राजशेखर तक ही सीमित है।

उन अट्‌ठारह शिष्यों में आज भी 'नन्दिकेश्वर' और 'भरत' ही ऐसे हैं जिनके ग्रंथ उपलब्ध है। आचार्य भरत का नाट्‌यशास्त्र तो आज के काव्यजगत् का मूर्धन्य आधार ही है। 'राजशेखर' ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में काव्य को चतुर्दश विद्यास्थानों के अतिरिक्त पन्द्रहवाँ विद्या स्थान कहकर उसे समस्त विद्याओं का आधारपीठ माना।[2] इस प्रकार इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि भारतीय काव्यधारा की सृष्टि सहस्त्रों वर्ष पूर्व हो चुकी थी जो आज भी अपने उत्कृष्ट अर्वाचीन स्वरूप को लेकर प्रवाहित होती चली आ रही है।

---

1. तत्र कविरहस्यं सहस्त्राक्षः समाम्नासीत्, भौक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः आनुप्रासिंक प्रचेता, यमकवमः, चित्रं चित्रांगदः, शब्दश्लेषं शेषः वास्तवं पुलस्व्यः, औपम्यमौपकायनः का.मी.अ.1 अतिशयं परायाः, अर्वश्लेषमुत्तत्यः उभयालंकारिकं कुवेरः वैनोदिकं कामदेवः ...... कुचुमारः।
2. सकल विद्या स्थानैकायतनं पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानम्। काव्यमीमांसा (राजशेखर)

इस प्रकार सामान्य दृष्टि से हम यह कह सकते है कि मानवीय भावनाओं का प्रतिनिधित्व करने के कारण काव्य मानव जाति की सृष्टि के साथ ही उत्पन्न हुआ है। कारण यह है कि काव्य में मानवीय भावनाओं की ही प्रधानता है। इसलिए काव्य को सहृदय हृदयसंवेद्य सहृदयाह्लादजनक आदि कहा जाता है।

कवि जो कुछ देखता है वह चर्म चक्षु से ही नहीं बल्कि हृदय की दृष्टि से भी देखता है। कवि मनुष्य के भावजगत् में एक ऐसा उन्मेष पैदा कर देता है, और उसे ऐसा अलौकिक बना देता है कि वह हमारे आनन्द और मंगल का कारण बन जाता है। ऐसे कवि की सौन्दर्य–दृष्टि कभी मलिन नहीं होती है। वह सहसा ही उस अनुभूति से अनुस्यूत होकर उन भावों को प्रकट करना चाहती है। जब कवि तन्मय हो जाता है तो उसका दृष्टि माधुर्य बाहर निकल कर सुधोपम छलकते हुए काव्य धारा के रूप में प्रवाहित हो चलता है।

मनुष्य की आत्माभिव्यक्ति की आकुलता ही साहित्य सृष्टि का मूल है। मनुष्य की रागात्मक भावना उनसे घुलमिलकर उन्हें साहित्य के रूप में असाधारण बना देती है। अतः साहित्य मानव की अन्तः प्रवृत्तियों का उद्घाटन करता है। तात्पर्य यह है कि जब मन एवं हृदय हर्षातिरेक से परिपूर्ण हो जाता है तब वह आनन्द रूप में कविता के रूप को लेकर लोक के समक्ष प्रकट हो जाता है। काव्य में यह वैशिष्ट्य विद्यमान है कि चाहे सुख का भाव हो या दुःख, निर्वेद, ग्लानि इत्यादि का सभी भाव आनन्द देने वाले होते हैं। क्योंकि उसकी सृष्टि में जब हम इन्दुमती के वियोग में अज को विलाप करते हुए सुनते है[1] और भवभूति के उत्तर रामचरित में कवि को सीता के वियोग में रोते हुए, मर्यादा पुरूषोत्तम राम को देखकर पत्थरों को रूलाते हुए पाते हैं[2] तब उस करूण रस में भी आनन्द का ही अनुभव करते हैं। उस आनन्दातिरेक से द्रवीभूत होकर नेत्रों से भी अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है।[3] इस प्रकार कवि की सृष्टि में रूदन एवं क्रन्दन से भरा हुआ करूणरस भी वास्तव में आनन्दानुभूति स्वरूप ही है। स्पष्ट है कि संस्कृत काव्य मूलतः आनन्द मूलक है। पाश्चात्य अवधारणा के अनुसार इसमें दुःखान्त कुछ भी नहीं है।

एतत् सम्बन्धी विभिन्न मत – लौकिक संस्कृत काव्य की सृष्टि के संदर्भ में अन्य विद्वद्गणों का अभिमत है, कि काव्य के सृष्टिकर्ता आदि कवि महर्षि वाल्मीकि हैं और उनका ग्रंथ आदि काव्य रामायण है। इसके प्रणयन में भावात्मकता ही मूल है, क्योंकि किसी समय जब

---

1. अभितप्त मयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा सरीरिषु। रघुवंश – 8/43
2. अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्"– उत्तररामचरित 1–28
3. एकोरसः करूण एव निमित्त भेदात्"। उत्तर रामचरित – 3–47

महर्षि वाल्मीकि समित्कुशाहरण के लिए वन प्रान्त में घूमते हुए तमसा नदी पर पहुँचते है वहाँ ब्याध द्वारा बाण से बिधे एक क्रौञ्च युगल में से एक को विलाप करते हुए देखकर सहसा उनके मुख से शापयुक्त छन्दोमयी वाणी प्रस्फुटित हुई–

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।

यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।। रा0बा0, 2–15

ये वाक्य वाल्मीकि के मानस के ही उद्गार हैं, जो शोकाकुल हृदय से सहसा निकलकर काव्य को जन्म देते हैं। वस्तुतस्तु वाल्मीकि का वह शोक ही कविता या काव्य हैं जो उनके विह्वल हृदय का स्पर्श कर उन्हें कुछ बोलने के लिए विवश कर दिया। यह उनकी रागात्मिका वृत्ति ही है जो उन्हें काव्य व्यापार या काव्य–सर्जना में प्रवृत्त करती है। उनका वह शोक ही जनमानस के लिए काव्य का रूप ले लेता है।

"सोऽनुत्वाहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वभागतः"

इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से विदित होता है कि– काव्य की सृष्टि का मूल कारण भावना है जो जन–जन के हृदय में समाहित है और यही मानव की सुख दुःखात्मक अनुभूति ही कविता या काव्य को जन्म देने में सहायक होती है। इस प्रकार काव्य को मानव जीवन से पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि मानव जाति के उद्भव के साथ ही काव्य का भी उद्भव होता रहा और उसी से अविच्छिन्न रूप से काव्यधारा का विकास भी होता रहा। अतः काव्य के रूप को देखने से यह प्रतीत होता है कि काव्य का विकास भी अनुकूल परिस्थितियों में होता है और प्रतिकूल परिस्थितियों के आने पर काव्य प्रवाह मन्द हो जाता है।

विद्वद्गणों का कहना है कि समस्त शास्त्रों का उद्भव वेद से ही हुआ है। इसलिए काव्य का उद्भव भी वेद से ही माना जाता हैं, क्योंकि उच्चकोटि की काव्यशास्त्रीय विद्याओं के दर्शन हमें वैदिक साहित्य में प्राप्त होते हैं। वेदों में ही देवताओं की स्तुतियों का वर्णन हैं साथ ही साथ राजाओं की कीर्ति का भी गायन है, अनेक यशस्वी राजाओं की कथाएं भी वर्णित है। इस दृष्टि से वेद भारतीयों के दिव्य ग्रंथ सिद्ध हुए जिनसे हमारी काव्य परम्परा का जन्म हुआ, क्योंकि काव्यों में हृदय के भावों की उतनी ही स्वाभाविक अभिव्यक्ति विद्यमान रहती है जितनी किसी भी प्रौढ़ साहित्य के महनीय काव्यों में हो सकती है। इसलिए प्राचीन कवियों ने भी रसमयी पद्धति का ही आश्रय लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल के विद्वानों की प्रवृत्ति

श्रेय–प्रेय रूपी काव्यों के अध्ययन मनन की ओर ज्यादा रही जिससे हमें यथार्थ काव्यों की सही जानकारी प्राप्त हुई। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि– सत् काव्य का प्रारम्भ वैदिक काल से ही हुआ और इसके विद्वद्गण ही प्रथम काव्यास्वाद के कारण बने।

वैदिक काल के अनेक अंधकारावृत्त तथ्यों का साक्षात् करने में समर्थ होते आर्षकाव्य। यह काल पूर्व काल की अपेक्षा एकदम भिन्न था। सर्वप्रथम काव्य-जगत् में रामायण का आविर्भाव हुआ जिसने काव्य को सही दिशा निर्देश देने में काफी सहयोग दिया। यही काव्य आदि काव्य का प्रथम बीज है, जिसमें अवगाहन कर कवि तथा पाठक अपने को कृतकृत्य समझता हैं। रामायण में हमें उस रसमयी काव्यशैली का भाव मिलता है जो अन्यत्र नहीं विद्यामान है।

रामायण का जन्म करूण रस के वातावरण में हुआ। महर्षि बाल्मीकि की कल्याणमयी वाणी 'मा निषाद प्रतिष्ठां' को सुनते ही कविवर ब्रह्मा ने उन्हें हठात् काव्य रचना की प्रेरणा दी। रामायण इसी रचना का फल है। इस प्रकार वाल्मीकि की मूल रचना का प्रामाणिक स्रोत आदिकाव्य रामायण ही था जो काव्य रचना को जन्म देने वाला प्रथम प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक में इसका उल्लेख किया है–

"काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तया चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्दवियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।।" ध्वन्यालोक 1–5

"अथ स ब्रह्मर्षिरेकदा माध्यन्दिनसवनाय नदीं तमसामनु प्रपत्रः। तत्र युग्मचारिणोंः क्रौञ्चयोरेकें व्याधेन विध्यमानं ददर्श। आकस्मिक प्रत्यवभासां च देवीं वाचभव्यक्तानुष्टभेन छन्दसा परिणताम मभ्युदैरयत्।" उत्तर रामचरित 4|4 गद्य

इस प्रकार वाल्मीकि का काव्य करूणार्णव में निमज्जित काव्यकला का उदात्त निदर्शन है। वाल्मीकि की कल्पना में मञ्जुल साम रस्य विद्यमान है। वेदों में प्रस्फुटित काव्य शैली का विस्तृत एवं परिवर्धित रूप आदि काव्य रामायण में ही परिलक्षित होता है। यही उस काव्य धारा का उद्गम है जो कालिदास, भारवि, अश्वघोष, माघ आदि विभिन्न स्रोतों में विभक्त होकर संस्कृत काव्यकानन को सींचती आयी है और यहीं से संबल–प्राप्त कर परवर्ती कवियों ने विविध काव्यों–महाकाव्यों का प्रणयन किया।

काव्य की परिभाषा – भारतीय परम्परा में काव्य को कवि की कृति अथवा कवि द्वारा सम्पादित कर्म कहा गया है। "कवेरिदं कार्यं कवेर्भावो वा काव्यम्"। "कवयतीति कविः तस्य कर्म वा काव्यम्"। काव्य के स्वरूप को जानने से पूर्व कवि शब्द के अर्थ को जानना अपेक्षित है। कवि शब्द कु धातु में अच प्रत्यय 'इ' जोड़कर निष्पन्न हुआ है। 'कु' शब्द का अर्थ है– 'सर्वज्ञता या व्याप्तता"। फलतः सर्वज्ञ या सभी विषयों का समुचित वर्णन करने वाले को 'कवि' कहते हैं। महान् वैयाकरण' श्री भानु जी दीक्षित' ने 'कवि' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा– कि "कवते श्लोकान् ग्रथते त्रर्णयति व कविः" अर्थात वर्णन करने वाले को 'कवि' कहते हैं और कवि के कर्म को 'काव्य' कहते हैं।

'श्रुतियों' में कहा गया है कि जो अपनी अनुभूति में सभी कुछ ग्रहण कर ले और जो अपनी अनुभूति के लिए किसी का मुखापेक्षी न हो, बल्कि स्वयं ही अपनी–अपनी अनुभूति का उत्स हो ऐसे ही मनीषी की सृष्टि है 'काव्य'।[1]

'कवि एवं काव्य' में कर्त्ता और कर्म का सम्बन्ध होता है या यों कहिए एक जनक होता है और दूसरा जन्य। इस प्रकार कवि द्वारा जो कार्य किया जाय उसे काव्य कहते है। 'राजशेखर' के अनुसार– 'कवि' शब्द कवृ= वर्णे इस धातु से बनता है। कवि जिस अनुभूत अर्थ को हमारे अंतःकरण में जागृत कराता है इसी कारण कवि क्रान्तदर्शी कहलाता है।[4] एक सच्चे कवि में दर्शन और वर्णन कवि इन दो गुणों का होना आवश्यक है। इसलिए इतिहास के सन्दर्भ को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि कवि शब्द वर्णनकर्ता, दृष्टा, पण्डित, क्रान्तिसर्जक और रचनाकार के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है।[2] ऋग्वेद में सूक्तों के उद्‌गाता और द्रष्टा ऋषि कहे गये हैं।[3] वस्तुतः वैदिक साहित्य में ऋषि और कवि शब्द इतने समानान्तर क्रम में मिलते है कि किसी भी निश्चय पर पहुँचना कठिन हो जाता है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कवि शब्द का अर्थ ऋषि तो अवश्य होता है।

वैदिक साहित्य में कवि विशिष्ट शक्तिमान् और प्रतिभावान् के प्रतीक के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है। उपनिंषदों में कवि का क्रान्तदर्शी के रूप में प्रयोग मिलता है। उपनिषदों के काल में दर्शन और चिन्तन का विशिष्ट क्रम होने के कारण कवियों को ब्रह्म माना जाता था। धीरे–धीरे कवि शब्द वैदिक काल में भी प्रचलित था तथा उपनिषदकाल में कवि प्रायः सर्जक अर्थ में था।

---

1. "कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः"। वेदवाक्य – शुक्लयजुर्वेद– 40/8
2. कवयः क्रान्तदर्शिनः।
3. श्रृषयों मंत्र द्रष्टार।
4. काव्यमीमांसा– अध्याय 3, पृष्ट 15,

इस प्रकार कवि क्रान्तदर्शी होता है उसका काव्य लोकोत्तर वर्णना का आकर होता है। कवि में कुछ अतिशय होता है जो सामान्य जन में नहीं होता है तथा जिसके कारण कवि अलौकिक वर्णनाएं करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त गुणों में से किसी एक का भी अभाव होने पर काव्य सृष्टि का सृजन नहीं हो सकता। उक्त गुणों का मधुर मिलन होने पर ही काव्य का उदय होता है, क्योंकि काव्य मानवीय भावों का एक विशेष उद्‌बोधक तत्त्व होता है, जैसे कि महर्षि वाल्मीकि का दर्शन स्वच्छ होने पर भी उनकी कविता तब तक प्रस्फुटित नहीं हुई जब तक कि उनके दर्शन का वर्णन से मिलन नहीं हुआ। अस्तु इस काव्य सृष्टि के कार्य में उसकी सहायक शक्ति का नाम है "प्रतिभा"। 'भट्टतौत' ने कहा है [1]– नव–नव उन्मेष करने वाली प्रज्ञा का ही नाम प्रतिभा है[1] और ऐसी श्लाघनीय शक्ति से अनुप्राणित सजीव वर्णना में निपुण व्यक्ति का नाम है 'कवि'।

सृष्टि निर्माणकर्ता के अर्थ में ही उसे प्रजापति की संज्ञा दी गयी है।[2] वह अपनी सृष्टि में नितान्त स्वतन्त्र होता है। वह अपने मनोवांछित के तरंग के अनुसार रसस्यन्दिनी सृष्टि निर्मित करता चलता है। कवि जब अपनी लेखनी को उठाता है तो इस प्रकार के भाव जो उसे काव्य ग्रन्थों में अत्यन्त मार्मिक तथा शालीन प्रतीत हुए हैं तथा जिन्होंने कवि के अंतःकरण में अपना स्थान बना लिया है, यत्र–तत्र उसकी कृति में बरबस समुच्छलित होने लगते हैं। अनुकृति का यही स्वरूप काव्य में भी अपेक्षित होता है। धन्य है कवि की भावना–शक्ति जिसकी प्रेरणा से वह काव्य में काल्पनिक उपादानों को भी मूर्त रूप प्रदान करता है।

इस प्रकार काव्य रचना कवि–कर्म है। इसलिए भारतीय आचार्य काव्य विवेचन कवि पक्ष से करने प्रवृत्त हुए। आचार्य 'मम्मट' ने "लोकोत्तरवर्णना निपुण कवि कर्म काव्यम्" कहकर काव्य का स्वागत किया।[3]

<u>एतत् सम्बन्धी विभिन्न मत–</u> काव्य का स्वरूप क्या है? काव्य के लक्षण का निर्धारण साहित्य शास्त्र के आचार्यों की प्राचीन समस्या रही है। इसलिए काव्य के स्वरूप का ज्ञान परमावश्यक है जिससे यह विदित हो सके कि कौन सी रचना काव्य है और कौन सी अकाव्य। काव्य स्वरूप के परिज्ञान के लिए हमें आदिकाल से लेकर अद्यावधि आलंकारिकों द्वारा

अपूर्व वस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा प्रतिभा। – अभिनव का कथन है।

1. नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा प्रतिभा मता। काव्यकौतुक में भट्टतौत का कथन है
2. अपारे काव्य संसारे कविरेक प्रजापतिः। का0प्र0 प्रथम उल्लासरस पृ0 5
3. मम्मट कृत काव्य प्रकाश – आचार्य विश्वेश्वर सिन्द्धान्त शिरोमणि पृ0 10

किये गये काव्य लक्षणों पर एक दृष्टि डालनी होगी। सर्वप्रथम काव्य लक्षण निर्धारण का प्रयास नाट्य शास्त्र के प्रणेता 'भरतमुनि' से आरम्भ हो जाता है।

आचार्य भरत का मुख्य विवेच्य विषय नाट्य है, इसलिए उनकी काव्य परिभाषा भी इस दृष्टि से प्रभावित है। इन्होंने काव्य का लक्षण दिया– कि "जो मृदु एवं ललित पदों से समृद्ध, गूढ़ शब्दार्थ से रहित, जनपदों में सरलता से समझ में आने वाला, युक्ति युक्त नृत्य प्रयोग के योग्य, बहुरसमार्ग समन्वित, संधियों के प्रयोग से युक्त हो वह नाटक प्रेक्षकों के लिए शुभकाव्य है।"[1]

भरत के अनन्तर सर्वप्रथम अग्निपुराण में काव्य के स्वरूप पर विचार किया है। 'अग्निपुराणकार' काव्य लक्षण का निरूपण करते हुए कहते हैं–

संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलङ्0कारं गुणवद् दोषवर्जितम्।। अग्निपुराण

अर्थात इष्ट अर्थ से युक्त पदावली को काव्य कहते है और स्फुट अ लङ्.कार से युक्त, गुणयुक्त एवं दोषरहित वाक्य को काव्य कहते है।

किन्तु परवर्ती आचार्यों ने सभ्यता के आदिकाल से ही शब्द और अर्थ के माध्यम से साहित्य का निर्माण होता है ऐसा स्वीकार करते रहे। इसी दृष्टि से प्रत्येक अलङ्.कारवादी ने अपने–अपने विभिन्न प्रकार के काव्यलक्षण बताये।

सर्वप्रथम छठी शता0 के आलंकारिक "आचार्य भामह" ने काव्य का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा कि– शब्द और अर्थ का साहित्य काव्य है। तात्पर्य यह है कि– काव्य में शब्द और अर्थ की योजना रहती है ये दोनों अन्योन्याश्रित है। काव्य लक्षण में आया हुआ शब्दार्थ साहित्य का आशय– अलंकार युक्त शब्द एवं अर्थ से है। इस प्रकार आचार्य भामह ने काव्य में शब्द और अर्थ दोनों को समान महत्त्व प्रदान किया।[2]

आचार्य भामह के पश्चात् आचार्य रूद्रट ने काव्य का लक्षण देते हुए कहा कि– काव्य वह है जिसमें शब्द और अर्थ साथ–साथ रहते हों, क्योंकि शब्द काव्य का ही बोधक है। शब्द और अर्थ का सम्मेलन ही साहित्य है।

---

1. मृदुललित पदाढ्यं गूढशब्दार्थ हीनं, ना.शा. – 16/128
   जनपद सुख बोध्यं युक्तिमन्नृत्ययौज्यम्।
   बहुकृतरसमार्गं, सन्धिसन्धान युक्तं,
   स भवति शुभकाव्यं नाटक प्रेक्षकाणाम्।।
2. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् – भामह – काव्यालंकार – 1/16

तत्पश्चात् आचार्य 'कुन्तक' काव्य का लक्षण देते हुए कहते हैं– कि शब्द और अर्थ के संयोग से ही साहित्य की सृष्टि होती है– वे शब्द और अर्थ तभी काव्यत्व लाभ कर सकते है जब उनमें वक्रोक्ति (उक्तिवैचित्र्य) हो। 'कुन्तक' का स्पष्ट कहना है कि सहित अर्थात् मिलित शब्द और अर्थ काव्यमर्मज्ञों के आह्लादजनक और वक्रतामय कवि व्यापार से पूर्ण रचना बन्ध में विन्यस्त हो तभी काव्य हो सकता है।[1]

'आचार्य कुन्तक' के पश्चात् 'आचार्य दण्डी' ने अपने 'काव्यादर्श' में काव्य का स्वरूप विवेचन करते हुए कहा कि– इष्ट अर्थ से व्यवच्छिन्न (नपीतुली) पदावली काव्य का शरीर है।[2] इनका काव्य लक्षण कुछ–कुछ अग्निपुराणकार के काव्य लक्षण से मेल खाता है।

'दण्डी' के मत में– इष्ट अर्थ से तात्पर्य "अलङ्कार जन्य आह्लाद" से है, क्योंकि 'दण्डी' अलंकार को काव्य का शोभाकारक धर्म मानते हैं।

इसके अनन्तर 'सूत्रकारवामन' ने काव्य लक्षण के विषय में कुछ और नवीन बात कहीं। इनका कहना है कि काव्य उस शब्दार्थ को कहते है जो दोष रहित हो तथा जिसमें गुण नित्य रूप से और अलंकार अनित्य रूप से विद्यमान हों और इसकी आत्मा है रीति।[3] आचार्य वामन का उक्त लक्षण कुछ–कुछ आचार्य मम्मट के काव्य लक्षण पर घटित होता है।

इसके बाद 'धाराधीशभोज' ने अग्निपुराण का अनुसरण करते हुए काव्य लक्षण प्रस्तुत किया और कहा कि काव्य वह है जो निर्दोष, गुणयुक्त तो हो ही साथ ही वह रसान्वित भी हो।[4] तात्पर्य यह है कि दोषहीन, गुणसमन्वित, अलङ्कार विभूषित और रसान्वित वाक्य काव्य है। इस उक्ति से यह स्पष्ट है कि वे भी शब्दार्थ युगल को काव्य मानते हैं, क्योंकि शब्द मात्र को काव्य मानने पर सरस विशेषण सर्वथा सङ्गन्त नहीं हो सकता। कारण–रस का केवल शब्द से साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता और अलंङ्कारों से इस बहुवचन से शब्दालङ्कार तथा अर्थाअलङ्कार दोनों ही उनके विवक्षित ज्ञात होते हैं। तात्पर्य यह है कि यदि उन्हें शब्द मात्र में काव्यत्व अभिमत होता तो अर्थालङ्कारों का समावेश क्यों करते? अर्थालङ्कार शब्द को अलङ्कृत नहीं कर सकता।

"ननु शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्"। रूद्रट– काव्यालंकार, 2/1

1. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकवि व्यापार शालिनि।
   बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदह्लादकारिणि।। वक्रोक्तिजीवित – 1/7
2. शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवछिन्ना पदावली। काव्यादर्श 1/10
3. काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। सौंदर्यमलङ्कार। स च दोष गुणालङ्कार हानोपादानाभ्याम्। रीतिरात्मा काव्यस्वयं। विशिष्ट पद रचना रीतिः विशेषो गुणात्मा। कात्यालङ्कार सूत्रवृकत्त–
4. अदोषं गुणवदकाव्यंलङ्कारैरलंकृतम्।
   रसान्वित। कविंः कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति।। सरस्वतीकण्ठाभरण–

इसके बाद अलङ्कार ग्रन्थों में सबसे अधिक प्रचलित काव्यप्रकाश के लेखक 'आचार्य मम्मट' का उदय हुआ। आचार्य मम्मट ने काव्य के विविध अङ्ग–उपाङ्गो की विशिष्टता का सूक्ष्मवर्णन किया है। इनके मतानुसार काव्य में शब्द और अर्थ का हृदयहारी समन्वय होता है। इसी अर्थ का प्रतिपादन महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश महाकाव्य में किया है–

"वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ।।" रघुवंश – 1/1

अर्थात् शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य होता है शब्दोच्चारण के साथ ही साथ अर्थ स्वयं ही चला आता है। ये दोनों पक्षों मिलकर ही हृदह्लाद को जन्म देते है। किन्तु आचार्य मम्मट के अभिमत में वे शब्द और अर्थ निर्दोष, सगुण एवं प्रायः अलंकार युक्त होने चाहिए। परन्तु कभी–कभी अलङ्कार रहित भी शब्दार्थ युगल काव्य होता है।[1] ध्वनिवाद के पूर्ववर्ती आचार्य अलङ्कार के अभाव में कभी भी काव्यता स्वीकार नहीं करते जबकि आचार्य मम्मट ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि – काव्य कहलाने वाले शब्दार्थ युगल को सदैव अलङ्कार युक्त होना चाहिए। लेकिन यदि किसी काव्य में अलङ्कार का अभाव है तो भी उसकी काव्यता में कोई हानि नहीं होती।[2]

एक बात और है, यद्यपि 'मम्मट' ने काव्य लक्षण में रस की चर्चा नहीं की, तथापि उनके विचार से काव्य में रस का सर्वोच्च स्थान है। यह बात काव्य प्रकाश के अन्य अंशों से विदित होती है, क्योंकि जिन गुणों का रहना काव्य में उन्होंने आवश्यक बताया, उनको वे स्पष्ट शब्दों में रस का धर्म मानते हैं।[3]

'आचार्य मम्मट' के काव्यलक्षण में प्रयुक्त उपर्युक्त विशेषणों के विरूद्ध कुछ विद्वानों ने कहा कि दोष का सम्बन्ध काव्य शरीर से न होकर उसके उत्कर्ष या अपकर्ष से है। श्रुतिकटुता आदि दोष से काव्य काव्यत्व से हीन कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य एक आँख से हीन होने पर भी अपने मनुष्यत्व से हीन नहीं होता, उसी प्रकार दोष होने पर काव्य के काव्यत्व में अपकर्ष हो सकता है, किन्तु वह काव्य तो अवश्य रहेगा। फलतः मम्मटोक्त 'अदोषौ' विशेषण काव्य के शरीर हेतु, नितान्त आवश्यक मानना उचित नहीं प्रतीत होता है।

---

1. "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि"। का.प्र.–प्रथम उल्लास
2. "क्वापीत्यनेनैतदाह यत् सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचिन्तु स्फटालङ्कार विरहेऽपि न काव्यत्व हानिः"। का.प्र. प्रथम उल्लास
3. ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादिव इवात्मनः।
उत्कर्ष हेतवस्ते स्पुस्चलस्थितयो गुणाः का.प्र.– अष्टमउल्लास पृ0– 380

किन्तु इस आलोचना का सारगर्भित उत्तर मम्मट ने पूर्व से ही अपने ग्रन्थ में समाविष्ट कर रखा है। मम्मट ने मुख्यार्थ के विघातक को दोष कहा है। मुख्यार्थ से तात्पर्य कवि के प्रयोजनभूत अथवा उद्देश्यभूत अर्थ से है। चूंकि रस ही मुख्यार्थ होता है इसलिए रसादि के अपकर्षक को दोष कहते है। केवल दोषों की सत्ता होने से काव्य के काव्यत्व की हानि नहीं होती, क्योंकि कोई भी दोष स्वरूपतः दोष नहीं होता।

कुछ दोष नित्य एवं कुछ अनित्य होते है। इनमें से कुछ तो रस, भाव, वाच्य आदि की महिमा से गुणरूप हो जाते हैं। काव्य में रस–दोष ही मुख्य होते हैं। उनका परिहार परमावश्यक है। इस प्रकार मम्मटोक्त 'शब्दार्थौ' का 'अदोषौ' विशेषण सर्वथा उचित ही है।

'सगुणौ' इस विशेषण पर भी विश्वनाथ ने आपत्ति की है। 'आचार्य मम्मट' ने गुणों प्रसाद, माधुर्य, ओज को रस के अचल धर्म होने से नित्य माना है और अलङ्कारों को अनित्य। काव्य में गुणों का सम्बन्ध प्रधान रूप से है और गौण रूप से शब्द और अर्थ से। उक्त आपत्ति के अनुसार ही यहाँ भी यही कहा गया है। गुणों से मण्डित न होने पर भी मनुष्य के मनुष्यत्व की हानि नहीं होती। अतः गुणों का सम्बन्ध काव्य के स्वरूप से नहीं है, इसलिए काव्य लक्षण में रखना इन्हें अनिवार्य नहीं है। किन्तु यह तो अनुभव सिद्ध है कि गुण मण्डित होने पर उत्कर्ष होता है और उनके अभाव में अपकर्ष। यदि काव्य अपने लक्ष्य की सिद्धि नहीं कर सका तो काव्यत्व होने या न होने के बराबर ही है। निष्कर्षतःकाव्य में गुणों का होना परमावश्यक है।

'शब्दार्थौ' का तृतीय विशेषण 'अनलङ्.कृती पुनः क्वापि' है। तात्पर्य यह है कि शब्द और अर्थ को अलंकृत होना चाहिए। किंतु अलंकृत न होने पर भी कोई आपत्ति नहीं। आचार्य मम्मट अलङ्.कार की अनिवार्यता नहीं मानते है; क्योंकि रस दशा में काव्य में अलंकार आवश्यक नहीं होते। इस प्रकार मम्मट के लक्षण में प्रयुक्त सभी विशेषण उपयुक्त हैं। इस प्रकार आचार्य मम्मट ने आदर्श काव्य का स्वरूप प्रस्तुत किया।

'आचार्य मम्मट' का समर्थन करते हुए हेमचन्द्र ने भी अपना काव्य लक्षण दिया– कि काव्य में शब्दार्थ युगल के साथ–साथ अलङ्.कारों का सर्वथा सद्भाव होना चाहिए।

मम्मट के लक्षण से इनके लक्षण में सिर्फ इतना अंतर है कि आचार्य मम्मट अलङ्.कारों का सर्वथा सद्भाव नहीं मानते, जबकि ये मानते हैं।

अपने काव्य लक्षण में गुण के माध्यम से रस का संकेत करके ध्वन्यमान अर्थ के प्राधान्य का उल्लेख करने वाले मम्मट प्रभृति ध्वनिवादी आचार्यों के अतिरिक्त कुछ आलंकारीक ऐसे भी

हैं जिन्होंने अपने काव्य लक्षणों में रस का प्रत्यक्ष रूप से निर्देश किया है। इन आलंकारिकों में भोज, वाग्भट्ट, विश्वनाथ इत्यादि हैं।

'आचार्य मम्मट' के अनन्तर 14वीं शताब्दी के आचार्य 'विश्वनाथ' अवतीर्ण हुए। इन्होंने अग्निपुराणकार से लेकर जयदेव तक के आचार्यो ने जो उत्तरोत्तर लम्बा काव्य लक्षण तैयार किया था, उसको काट- छांट कर संक्षिप्त कर दिया और काव्य में केवल रस, भाव आदि असंलक्ष्यक्रम कहे जाने वाले व्यङ्ग्यार्थों का रहना आवश्यक समझा। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार– अलङ्कार केवल उत्कर्ष के कारण हैं, उसके स्वरूपाधायक नहीं। और दोष केवल अपकर्ष के हेतु हैं, स्वरूप विघटक नहीं।

'आचार्य विश्वनाथ' के अनुसार रसात्मक वाक्य को काव्य कहा जाता है।[1] इन्होंने रस को सहृदय संवेद्य, अलौकिक काव्यार्थ तत्त्व कहा है। किन्तु इस रस का आस्वादन सबको नहीं होता। इसका अनुभव उसी को होता है जिसके हृदय में सत्त्व का उद्रेक होता है। रजोगुण एवं तमोगुण के संस्पर्श से रहित चित्त 'सत्त्व' कहलाता है। इस सत्त्व के उद्रेक से सहृदयों के द्वारा अनुभूत रस, अखण्ड स्वयं प्रकाश एवं आनन्दमय इत्यादि स्वसंवेदनरूप है। उस समय किसी ज्ञेयवस्तु का ज्ञान नहीं रहता। यह अलौकिक चमत्कार एवं अनुभव सहृदय के चित्त का विस्तार मात्र है। यह चमत्कार रसरूप अनुरूप अनुभव का प्राण है और रस काव्य की आत्मा है। उन्होंने रस को काव्य का जीवन कहा।

इसके अनन्तर –पंडित जगन्नाथ' का काल आता है– इन्होंने काव्यलक्षण का जो रूप स्थिर किया उसके सम्बन्ध में कुछ मार्मिक बातें कहीं हैं। इन्होंने कहा कि– रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द ही काव्य है[2]। अर्थात् जिस शब्द द्वारा रमणीय अर्थ प्रतिपन्न हो वह काव्य है। इन्होंने 'रमणीयता' का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा कि– "अलौकिक आनन्द का ज्ञान गोचर होना अर्थात् अनुभव होना ही रमणीयता है।" तात्पर्य यह है कि हृदय में रमणीय अलौकिक आनन्द का संचार करने वाले शब्द या अर्थ रचना ही काव्य है।

इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्रियों एवं अलंकारवादियों के काव्यलक्षणों की विश्लेषणात्मक चर्चा हमें इस निष्कर्ष पर ले आती है कि यद्यपि दोनों अर्थात् काव्यशास्त्रियों एवं अलंकारवादी काव्यशास्त्रियों के मार्ग भिन्न–भिन्न होने पर भी दोनों का गन्तव्य एक ही है।

"अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौकाव्यम्"। काव्यानुशासन

1. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।विश्वनाथकृत साहित्यदर्पण
2. रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। पंडित राजजगन्नाथकृत– रसगंगाधर-पृष्ठ-1

इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि प्रारम्भ में सौन्दर्यपूर्ण अथवा सौन्दर्यरहित सभी वर्णनों को काव्य कहा जाता था। इस समय तक काव्य का कोई विशिष्ट लक्षण नहीं बना था। सर्वप्रथम 'अग्निपुराण' में काव्य का लक्षण किया गया, जिसके अनुसार सौन्दर्यमय अर्थों का रमणयी ढंग से प्रतिपादन करने वाले शब्द काव्य समझे जाने लगे।

तदनन्तर छठी शताब्दी के 'आचार्य भामह' शब्द और अर्थ के साहित्य मात्र को काव्य मानते हैं। इनका कहना है कि शब्द और अर्थ एक दूसरे से मिलकर ही काव्य का निर्माण करते हैं, क्योंकि वाच्य और वाचक के नित्य सम्बन्ध के कारण शब्द और अर्थ में साहित्य का कभी अभाव नहीं होता। वह तो सहज होता है।

'भामह' के पश्चात् 'आचार्य रूद्रट' ने काव्य लक्षण में एक महान परिवर्तन किया। अभी तक जो केवल शब्द को काव्य कहा जाता था, वह उनकी गवेषणात्मक बुद्धि में ठीक नहीं जंचा। अतः उन्होंने उसमें अर्थ को भी जोड़ दिया, अर्थात् वे शब्द और अर्थ दोनों को काव्य कहने लगे। तात्पर्य यह है कि– उनके विचार से सम्मिलित शब्दार्थ–युगल ही काव्य सिद्ध हुआ, क्योंकि काव्य पद का जो मूल–मूल अर्थ जो 'कवि की कृति' है उसके अनुसार अर्थ को भी काव्य मानने में किसी तरह की आपत्ति नहीं होती। कारण यह है कि शब्द की तरह उसका अर्थ भी वस्तुतः कवि की कृति होता है। अतः 'रूद्रट' का 'शब्दार्थ युगल' काव्यतावाद नितान्त तर्कसङ्गत है।

'आचार्य दण्डी' ने काव्य में मूर्तिमत्ता को महत्त्व दिया। उनकी दृष्टि में प्रत्येक भाव या विचार बिम्बरूप है। इसी को दृष्टि में रखकर उन्होंने अभीष्ट अर्थ संबलित पदावली को ही काव्य माना। वास्तव में भाव–बिम्बन के माध्यम तो शब्द ही हैं। उनके अभाव में कवि कर्म असम्भव है।

'वामन' आदि आचार्य सौन्दर्य का कारण समान रूप से गुण तथा अलङ्.कार को मानते रहे।

'आनन्दवर्धन' भी शब्द और अर्थ के साहित्य को ही काव्य स्वीकार करते हैं। ये ध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। तात्पर्य यह है कि वैसे तो आनन्दवर्धन ने भी सहृदयों के हृदय में आह्लाद उत्पन्न करने वाले शब्द और अर्थ को सामान्य काव्य बताया है और सार रूप में स्थित सहृदयश्लाध्य प्रतिय्यमान अर्थ के ललित एवं उचित सन्निवेश के कारण चारू शब्दार्थ युगल रूप उस काव्य शरीर की आत्मा कहा है।

'ध्वनिकार' रसादि ध्वनि को ही काव्य की आत्मा स्वीकार करते है, वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि को नहीं।[1]

'राजशेखर' ने "गुणवदलङ्.कृतश्च वाक्यमेव काव्य" कहकर केवल शब्दों को ही काव्यता का प्राधान्येन प्रतिपादन किया।

इसके अतिरिक्त 'भोज', 'मम्मट', 'हेमचन्द्र' आदि ने शब्द और अर्थ दोनों के सम्मिलित रूप को काव्य स्वीकार किया। 'विश्वनाथ' ने रसात्मकता की जो अपरिहार्य शर्त लगा दी है उससे निश्चय ही वस्तुध्वनि और अलङ्.कारध्वनि प्रधान काव्य को काव्य मानने में कठिनाई होगी। 'विश्वनाथ' और 'पण्डित राज' ने शब्द की काव्यता को स्वीकार किया। इन लोगों ने दोषों का अभाव, गुणों का सद्‌भाव, अलङ्.कारों की सत्ता और रसादिक की स्थिति अनिवार्य रूप से स्वीकार की।

इस प्रकार यह विदित होता है कि संस्कृत काव्य शास्त्र में काव्य की अनेक परिभाषाएं हुई हैं, किन्तु यदि कोई परिभाषा अधिक से अधिक विविध काव्य राशि को अपने अंक में सही ढंग से समेट सकती है तो वह 'आचार्य मम्मट' की काव्य परिभाषा कही जा सकती है।[2]

इस प्रकार आचार्यो ने काव्य के स्वरूप का विवेचन काव्य के कर्त्ता और कवि कौशल के दृष्टि कोण से किया। यह समीचीन भी है कि काव्य कवि का कर्म है "लोकोत्तरं कवि कर्म" और उसकी रमणीयता कवि कर्म की रमणीयता है।[3] इसलिए काव्य में प्रधानता निश्चित रूप से कवि के व्यापार की है। अतएव आचार्यो ने काव्य के शब्दों एवं अर्थों का जो विशिष्ट स्वरूप प्रतिपादित किया निःसंदेह वह परम श्रेयास्पद है।

महाकवि माघ ने काव्य में शब्द और अर्थ के इस समान महत्त्व को उपदिष्ट करते हुए कहा है–

नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरूषे।

शब्दार्थौ सत्कविखिद्वयं विद्वानपेक्षते।। शिशुपाल/2/86

---

1. शब्दार्थयोः साहित्येन काव्यत्वे। ध्वन्यालोक
काव्यस्यात्मा ध्वनिः। ध्वन्यालोक
"सहृदय हृदयाह्लादिमेव शब्दार्थमयत्वेव काव्य लक्षणम्"। ध्वन्यालोक प्रथम कारिका की वृत्ति
2. लोकोत्तर वर्णना निपुण कवि कर्म काव्यम्। का.प्र./पृष्ठ 6
3. लोकोत्तरं कवि कर्म्म काव्यम्"। हेमचन्द्र का व्यानु शासन/पृ. 3

इस प्रकार आचार्यों ने काव्य के स्वरूप का विवेचन काव्य के कर्त्ता और कवि कौशल के दृष्टि कोण से किया। यह समीचीन भी है कि काव्य कवि का कर्म है "लोकोत्तरं कवि कर्म" और उसकी रमणीयता कवि कर्म की रमणीयता है।[1] इसलिए काव्य में प्रधानता निश्चित रूप से कवि के व्यापार की है। अतएव आचार्यो ने काव्य के शब्दों एवं अर्थो का जो विशिष्ट स्वरूप प्रतिपादित किया निःसन्देह वह परम श्रेयास्पद है।

महाकवि माघ ने काव्य में शब्द और अर्थ के इस समान महत्त्व को उपदिष्ट करते हुए कहा है—

नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे।

शब्दार्थौ सत्कविखिद्वयं विद्वानपेक्षते।।   शिशुपाल॰/2/86

काव्य प्रयोजन मानव स्वभाव है कि वह कोई भी कार्य बिना प्रयोजन के नहीं करता। किसी न किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए कार्य – विशेष का सम्पादन किया जाता है, तथा कार्य का फल प्रयोजन सिद्धि के साथ सम्पन्न होता है।

आशय यह है कि—मनुष्य के प्रत्येक कर्म का भले ही वह निष्काम प्रकृति का हो कुछ न कुछ प्रयोजन रहता है – "प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते"। इस दृष्टि से शास्त्र तथा काव्य निर्मिति के भी कुछ प्रयोजन होते हैं जिससे प्रेरित होकर कवि काव्य का प्रणयन करता है, क्योंकि यदि प्रयोजन ही न हो तो उसकी क्या सार्थकता? कहा भी गया है –

"सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो नापि कस्यचित्।

यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते।।"

संस्कृत वाङ्मय में प्रत्येक शास्त्र के चार अनुबन्ध अधिकारी, विषय, सम्बन्ध एवं प्रयोजन माने गये हैं। यहाँ भी प्रयोजन बताया जाना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि काव्य ग्रन्थों का उद्देश्य किसी व्यक्ति को किसी कार्य विशेष में प्रवृत्त करना ही हुआ करता है। जो वस्तु जिसके लिए उपादेय एवं ग्रहणीय होती है उसकी प्रवृत्ति भी उसी में निहित रहती है।

काव्य के प्रयोजन के विषय में प्राचीनकाल से ही मनीषियों में विचार होता रहा है। हमारे यहाँ 'कला केवल कला के लिए' (Art for Arts Sake) के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया गया है, और न नवीन आधुनिक उपयोगितावाद को ही काव्य भूमि में प्रतिष्ठित किया गया है, अपितु काव्य के दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकार के प्रयोजन माने गये हैं।

---

1. लोकोत्तरं कवि कर्म काव्यम्"।   हेमचन्द्र-का व्यानुशासन/पृ0 3

काव्य के प्रयोजन पर सर्वप्रथम तृतीय शती0 के नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरतमुनि ने विचार किया था – उनके अनुसार "काव्य का प्रयोजन, लोक का मनोरंजन तथा शोकपीड़ित एवं परिश्रान्त जनों को विश्रान्ति प्रदान करना है [1]। आचार्य भरत के बाद जैसे – जैसे काव्य कलेवर का विकास हुआ, लोगों की कवि प्रतिभा मुखरित हुई वैसे–वैसे काव्य प्रयोजन का भी विस्तृत एवं विशद विवेचन किया गया।

'भरत' के पश्चात् छठीं शती के 'आचार्य भामह' ने इसमें थोड़ा परिवर्तन–परिशोधन कर अपना काव्य प्रयोजन प्रस्तुत करते हुए कहा कि –सत्काव्य के सेवन से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, एवं कलाओं में विदग्धता प्राप्त होती है तथा अध्येता में कीर्ति एवं प्रीति का सन्निवेश होता है [2]। आचार्य 'भामह' के अनन्तर रीतिवादी आचार्य 'वामन' ने भी अपना सुप्रतिष्ठित एवं परिमार्जित काव्य प्रयोजन प्रस्तुत करते हुए कहा कि, सत्काव्य दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकार के प्रयोजन सिद्ध करता है ये हैं 'प्रीति और कीर्ति' [3]। इन्होंने सत्काव्य की रचना को यश की सरणि और कुकवियों की बिडम्बना को अपयश की सरणि कहा है, विद्वानों ने 'कीर्ति' को स्वर्गफला कहा है जो सृष्टि पर्यन्त रहती है और अपकीर्ति को आलोक हीन नरक की दूतिका कहा है। तात्पर्य यह है कि काव्य कवि के लिए कीर्ति विधायक होता है, कुकवित्व साक्षात् मृत्यु की भाँति कुकीर्तिकर होता है।

धाराधीश 'भोज' ने भी वामन द्वारा प्रथित सरणि का अनुकरण करते हुए 'कीर्ति एवं प्रीति' को ही काव्य का मुख्य प्रयोजन माना [4]।

आलङ्कारिक 'आचार्य कुन्तक' ने काव्य प्रयोजन का उल्लेख करते हुए कहा–कि धर्मादि की प्राप्ति, व्यवहार का सुन्दर ज्ञान, आदि तो काव्य के प्रयोजन हैं ही परन्तु सबसे बड़ी बात यह है कि काव्यामृत के रस से चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति से भी बढ़कर अन्तश्चमत्कार की उत्पत्ति होती है [5]।

---

1. वेदविद्येतिहासानामाख्यान परिकल्पनम्।
   विश्रान्तिजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति।। — ना0शा01/109–124
   दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्।
   विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति।।
2. धर्मार्थकामोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
   करोति कीर्ति प्रीतिं च साधुकाव्य निषेवणम्।। — भामह–काव्यालङ्कार, प्रथम परिच्छेद, द्वितीय श्लोक
3. काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्त्वात्।
   कीर्तिं स्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चितः।। — (काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति 1.1.5)
4. निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
   रसान्वितं कविः कुर्वन्कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति।। — भोजकृत–सरस्वतीकण्ठाभरण
5. धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
   काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः।। — वक्रोक्तिजीवितम्–प्रथम उन्मेष, 3–5

तात्पर्य यह है कि धर्म, अर्थ कामादि चारों पुरूषार्थों के अतिरिक्त व्यवहार के औचित्य का ज्ञान हृदय का आह्लाद अथवा अन्तश्चमत्कार है।

आचार्य कुन्तक के पश्चात् काव्य के प्रयोजन पर विचार करते हुए चौदहवीं शती0 के कविराज विश्वनाथ ने कहा कि काव्य के द्वारा अल्पबुद्धि मानव को भी सुखपूर्वक अर्थात् अनायास बिना किसी विशेष परिश्रम के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरूषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति हो जाती है[1]।

काव्य प्रयोजन रूपी इसी उपादेयता को ध्यान में रखते हुए– 'अग्निपुराण' में कहा गया है "पहले तो संसार में मानव जन्म ही दुर्लभ है, फिर विद्या प्राप्ति इससे भी दुर्लभ है और उससे भी दुर्लभ है कवित्व प्राप्त करना, और अति दुर्लभ है कवि प्रतिभा को प्राप्त करना, अर्थात् कविता करने की स्वभाव सिद्ध शक्ति पाना परम दुर्लभ है [2]।

'ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन' ने तो केवल 'प्रीति' को काव्य का प्रमुख प्रयोजन माना। जैसा कि उन्होंने कहा है –

"तेन ब्रूमः सहृदय मनः प्रीतये तत्स्वरूपम्"। (ध्वन्यालोक – 1.1)

उनका कथन है कि, यह 'प्रीति' ही सहृदयों के हृदय की आनन्दानुभूति का विषय है जिसे रसवादी आचार्य 'रसानुभूति' कहते हैं– क्योंकि रस आनन्द रूप है – "आनन्दो रसः"

'आनन्दवर्धन' के समान 'अभिनवगुप्त' ने भी 'प्रीति' को ही काव्य का प्रयोजन माना[3]।

इसके अनन्तर एकादश शती0 के ध्वनिप्रतिष्ठाता वाग्देवतावतार 'आचार्य मम्मट' ने उक्त सभी मतों में समन्वय स्थापित करते हुए तथा उनमें संशोधन एवं परिमार्जन करके एक निश्चित शब्दावली अपनाते हुए विस्तारपूर्वक काव्य के छह प्रयोजनों का उल्लेख किया। (1) काव्य से यशः प्राप्ति (2) अर्थलाभ (3) लोक व्यवहार का ज्ञान (4) अमङ्गल का नाश (5) सद्यः परमानन्द की अवाप्ति और (6) कान्ता सम्मित मधुर वचनों द्वारा सरस उपदेश [4]।

---

1. चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
   काव्यादेवयतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते।। — सा0 दर्पण–1/2
2. नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
   कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा।। — अग्निपुराण – 327/3
3. कवेस्तावत् कीर्त्याऽपि प्रीतिरेव सम्पाद्या।
   श्रोतृणां च व्युत्पत्तिर्यद्यप्यस्ति तथापि प्रीतिरेव प्रधानम्।। — ध्वन्यालोक लोचन टीका–
4. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
   सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।। — काव्यप्रकाश 1/2

आचार्य मम्मट ने प्रथम प्रयोजन काव्य यश के लिए माना अर्थात् सत्काव्य के स्फुरण से प्रतिभावान् सहृदयजनों को कालिदास आदि के समान यश की प्राप्ति होती है, जैसा कि – उन्होंने स्वयं कहा है –

"कालिदासादीनामिवयशः"

तात्पर्य यही है कि, यदि कालिदास की कविता स्वकीर्ति की अर्जना के लिए थी तो 'धावक' नामक कवि ने विपुल धनार्जन हेतु 'रत्नावली नाटिका' की रचना की थी [1]।

'व्यवहार ज्ञान' की चर्चा अध्येता की दृष्टि में रखकर की गयी थी, क्योंकि विभिन्न परिस्थितियों में पात्रों के परस्पर व्यवहार की शैली का ज्ञान, विशेषकर साधारण जनों को राजादि के साथ उचित शिष्टाचार विषयक ज्ञान काव्य के द्वारा ही होता है। कहा जाता है कि मयूर कवि ने 'सूर्यशतक' की रचना करके कुष्ठरोग से मुक्ति प्राप्त की थी।

जिस प्रकार तुलसीदास को 'हनुमानबाहुक' की रचना से बाहुपीड़ा से छुटकारा मिल गया था। 'आचार्य मम्मट' ने सद्यः परनिर्वृति को सर्वोत्कृष्ट प्रयोजन माना। यह अवस्था अलौकिक आनन्दानुभूति की अवस्था होती है। इसमें सहृदय तन्मय हो जाता है और आनन्द के सागर में लीन होकर संसार की वस्तुओं को विस्मृत कर देता है – कहने का तात्पर्य है कि – यद्यपि आनन्द की प्राप्ति भी स्वर्गादि लोक के साधक यज्ञादि धार्मिक क्रियाओं द्वारा अवश्य होती है पर कालान्तर और देहान्तर में, तत्काल नहीं। किन्तु काव्यजनित आनन्द काव्य के श्रवण या मनन के अनन्तर तत्काल ही उपलब्ध होता है। वह साधारण आनन्द नहीं होता, बल्कि ब्रह्मानन्द के सदृश परम आनन्द को देने वाला होता है। इस प्रकार काव्य जन्य आनन्द अलौकिक है, अनिर्वचनीय है।

तथा कान्ता सम्मित उपदेश को उद्देश्य मानकर प्रणीत काव्यग्रन्थ का ज्वलन्त उदाहरण अश्वघोष का सौन्दरानन्द महाकाव्य है। काव्य के उक्त प्रयोजनों में अंतिम प्रयोजन कान्तासम्मित उपदेश विशेष महत्त्व का विषय है।

---

1. धाावकनामा कविः श्री हर्षनृपनाम्ना रत्नावलीं नाम्नीं नाटिकां कृत्वा बहुधनं लब्धवानिति प्रसिद्धिः।

(काव्यप्रकाश की भट्टवामिनीटीका पृष्ठ 7)

उपदेश ज्ञान के लिए जब नीतिशास्त्र, व्याकरणशास्त्र आदि तो हैं ही तो फिर उसके लिए काव्य की क्या आवश्यकता? इसी सन्देह के निराकरण के लिए उसमें कान्तासम्मित विशेषण का प्रयोग किया गया है।

उपदेश की तीन प्रधान शैलियां होती हैं – (1) प्रभुसम्मित शैली (2) सुहृत् सम्मित शैली (3) और कान्तासम्मित शैली।

प्रभुसम्मित शैली शब्द प्रधान वेदमूलक होती है। जैसे प्रभु इष्टसाधन, अनिष्ट साधन एवं निष्फल सभी प्रकार के प्रयोजनों में प्रवर्तित करता है। वही वेद इष्टसाधन रूप ज्योतिष्टोम आदि अनिष्ट साधन रूप [1] श्येनयागादि तथा निष्फल कार्य रूप संध्यावन्दन प्रभृति के सम्पादन के लिए प्रेरणा प्रदान करता है [2]। दूसरे शब्दों में प्रभुसम्मित या वैदिक उपेदश–शैली नीरस होने के साथ आदेशपरक होती है तथा उसका पालन करना एक अनिवार्य विषय होता है।

सुहृत्सम्मित शैली इतिहास–पुराण आदि की तरह केवल वस्तुतत्व का स्पष्टीकरण कर देती है। यह किसी भी दिशा में प्रवृत्त होने की प्रेरणा न देकर मित्रवत् कर्त्तव्य को इङ्गित मात्र करके मौन साध लेती है। ठीक उसी प्रकार इतिहास–पुराणादि भी 'ऐसा करने से ऐसा इष्टफल प्राप्त होता है', इस प्रकार वस्तुतत्व का बोध कराते हैं। किसी दिशा में प्रवृत्त नहीं करते हैं, किन्तु कान्तासम्मित शैली का स्वरूप उक्त दोनों शैलियों से भिन्न होता है। जिस प्रकार कोई अपूर्व सुन्दर रमणी गुरूजनों के अधीन रहने वाले प्रियतम को इतर लोगों की अपेक्षा विलक्षण रीति से अपने हाव, भाव, कटाक्ष–भुजाक्षेप एवं अन्य अंङ्गों के विलास द्वारा सरसता की सर्जना करके अपने वश में कर लेती है, उसी प्रकार कविताकामिनी शुष्क नीतिशास्त्र एवं व्याकरणशास्त्र आदि से पराङ्मुख सुकुमार राजकुमारों एवं अन्य सामाजिक जनों को ललितपदविन्यास से अभिव्यक्त श्रृङ्गार आदि रस में रमाकर सदुपदेश रूप स्वार्थ में प्रवर्तित करती है [3]।

यहाँ यह सन्देह नहीं किया जा सकता, तो फिर शास्त्र आदि के रहते हुए सुकुमारमति जनों से भिन्न–भिन्न परिपक्व बुद्धि रखने वाले वे पुरूष काव्यों में क्यों श्रम करें, क्योंकि यदि कड़वी ओषधि से शमित होने वाले रोग यदि किसी मीठी दवा से शान्त होने लगे तो ऐसा कौन अभाग्यशाली रोगी होगा जो मीठी ओषधि खाना न चाहे ।

---

1. ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्। — मीमांसा अर्थसंग्रह – पृष्ठ–46
2. श्येनेनाभिचरन् यजेत्। — मीमांसा अर्थसंग्रह – पृष्ठ–11
3. सत्यंवद, धर्मंचर इत्यादि – 'वेदवाक्य'

इस प्रकार कोमल मति जनों के लिए प्रयुक्त यह विषय परिपक्व बुद्धि वाले पुरूषों के लिए भी उपादेयता की कसौटी पर खरा उतरता है[1]।

यह सत्य है कि – वेदों और शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित शुष्क एवं दुरूह विषय काव्य का माध्यम पाकर सर्वसामान्य के मस्तिष्क एवं हृदय पर एक अमिट प्रभाव डालते हैं। काव्य मानवीय भावों का एक विशेष उद्‌बोधक तत्त्व है। वह मानव को इष्ट कर्त्तव्यपथ पर प्रवर्तित करने का सर्वोत्तम एवं सर्वाधिक प्रभावशाली साधन है।

कविता मानव के अन्तस्तल पर मार्मिक चोट करती है, वह मनुष्य को तन्मय बना देती है। तथा मानव हृदय को तुरन्त प्रेरणा प्रदान करती है। यही कारण है कि धर्मप्रचारक एवं सिद्धान्त प्रवर्तक आचार्यगण अपने उपदेशों को लोकप्रिय बनाने तथा जनसाधारण तक उसके प्रचार एवं प्रसार के लिए अति प्राचीनकाल से कविता का प्रश्रय लेते आये हैं। तात्पर्य यही है कि, वेद और शास्त्रजन्य उपदेश अविद्यारूपी व्याधि को सम्यक् रूप से नष्ट कर देने में समर्थ है, और वे उस कड़वी ओषधि के समान हैं, जो अत्यन्त गुणयुक्त एवं हितकर होते हुए भी सेवन नहीं किये जा सकते, किन्तु काव्य का उपदेश सहज एवं सुखसाध्य होने के कारण अन्य मार्गों से विलक्षण है। इस प्रकार 'कला केवल कला के लिए' नहीं होती। उसका उद्‌देश्य मानव कल्याण भी होता है। मानव कल्याण रूप प्रयोजन भिन्न –भिन्न प्रकार के चरित्रों की सृष्टि के द्वार से ही सिद्ध होता है। तात्त्पर्य यही है कि – रसोद्रेक के साथ समाज के सम्मुख उच्च आदर्श चरित्रों को प्रस्तुत करना भी प्रयोजन होता है।

मम्मट के उक्त छह प्रयोजनों में से किनका अधिकारी कवि है और किनका सहृदय। स्पष्ट है कि – यश, धन, और रोगनाश का सीधा सम्बन्ध कवि के साथ है और व्यवहार ज्ञान तथा कान्तासम्मित उपेदश का सीधा सम्बन्ध सहृदय के साथ। शेष बचा एक प्रयोजन–रसास्वाद प्राप्ति"। मम्मट के टीकाकारों के अनुसार–सहृदय ही इसका भोक्ता है कवि को भी यदि अपने काव्य से रसास्वाद प्राप्त होगा तो उसे तत्क्षण के लिए सहृदय ही मानना होगा।

---

1. ननु तर्हि परिणतबुद्धिभिः सत्सु वेदशास्त्रेषु किमिति काव्येयत्नः करणीय इत्यपि न वक्तव्यम्। कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सितशर्करोपशमनीयत्वे कस्य वा रोगिणः सितशर्कराप्रवृत्तिः साधीयसी न स्यात्। साहत्यदर्पण–प्रथम परिच्छुद पृष्ठ – 12

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि काव्य–प्रयोजन काव्य द्वारा प्राप्त फल को कहते हैं। किन्तु काव्य प्रयोजन काव्य रचना के अनन्तर फल की उपलब्धि है।

मम्मट के समस्त छह प्रयोजनों में से सद्यः परनिर्वृति सर्वोत्कृष्ट प्रयोजन है। इसके बाद कान्तासम्मित उपदेश का स्थान है। शेष काव्य प्रयोजनों का सम्बन्ध कवि और सहृदय दोनों के साथ साक्षात् रूप से अथवा प्रकारान्तर से है।

इस प्रकार काव्य का प्रयोजन नैतिकता का आधान है पर साथ ही साथ उसे लोकमङ्गल एवं आनन्द सापेक्ष होना चाहिए।

काव्य के शोभाधायक तत्त्व – काव्य–शरीर की शोभा में अभिवृद्धि करने वाले तत्त्वों को काव्य के शोभाधायक तत्त्व माना जाता है। काव्य शोभा का आधार होता है, जबकि समस्त शोभाधायक तत्त्व आधेय होते हैं अर्थात् इनमें परस्पर अलङ्कार्य – अलङ्कार सम्बन्ध रहता है।

अलङ्कार तत्त्व – यद्यपि काव्य के सौन्दर्यवर्धक तत्त्वों में अलङ्कार, गुण, रीति, रस, छन्द, औचित्य आदि अनेक हैं, किन्तु अलङ्कार तत्त्व की कुछ अपनी अलग ही महिमा है।

काव्यशास्त्र में काव्य को सुसज्जित करने और अलङ्कृत करने वाले तत्त्व को 'अलङ्कार' कहते हैं। 'अलङ्कार' शब्द की निष्पत्ति – अलम् उपपदवाली √ कृ धातु से घञ् प्रत्यय करने पर होती है। इसके अतिरिक्त 'अलङ्कार' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से और की गयी है – (1) अलङ्क्रियतेऽनेनइति अलङ्कारः जिसके द्वारा अलङ्कृत किया जाता है। (2) अलङ्करोति इति अलङ्कारः जो अलङ्कृत करता है। यद्यपि दोनों करण परक व्युत्पत्ति में कोई ज्यादा अन्तर नहीं है। दोनों का तात्पर्य यही है – कि जिस तत्त्व से काव्य की शोभा होती है उसे अलङ्कार कहते हैं।

किन्तु फिर भी वाच्य प्रयोग के आधार पर पहली व्युत्पत्ति कवि की दृष्टि से मानी जा सकती है जो कि काव्य रचना के समय सायास अथवा अनायास रूप से अलङ्कारों का प्रयोग करता है।

और दूसरी व्युत्पत्ति आलोचक की दृष्टि से मानी जा सकती है जो यह देखता है कि कवि द्वारा किन अलङ्कारों का प्रयोग समीक्ष्य रचना में किया गया है।

"अलङ्कृतिः अलङ्कारः" यह अलङ्कार की भावपरक व्युत्पत्ति है। अर्थात् अलङ्करण (शोभा सौन्दर्य) को अलङ्कार कहते है।

अलङ्कारों का सर्वप्रथम निरूपण किसने किया? इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। लेकिन अनेक प्रकार की गवेषणा करने के उपरान्त यही सम्भावना की जाती है – कि सर्वप्रथम भरत के नाट्य शास्त्र में ही प्राथमिक चार अलङ्कारों (दीपक, उपमा, रूपक, यमक) का उल्लेख मिलता है। लेकिन अभी भी अलङ्कारों की सम्यक् प्रकार से उत्पत्ति नहीं हुई थी।

छठी शता० के 'आचार्य भामह' को अलङ्कार सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना जाता हैं, जिन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' में अलङ्कार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व घोषित किया। तथा इस मत के पोषक एवं अनुयायी आचार्य दण्डी, कुन्तक, वामन, रूद्रट, उद्भट्ट इत्यादि हैं।

'भामह' द्वारा प्रथित सरणि का अनुसरण करते हुए आचार्य 'दण्डी' ने भी अपने ग्रन्थ 'काव्यादर्श' में अलङ्कार को ही काव्य का मुख्य तत्त्व माना। इनका कहना है कि काव्य के शोभाकारी धर्म अलङ्कार है[1]।"

'आचार्य वामन' ने 'सौन्दर्य ही अलङ्कार' है और अलङ्कार के कारण ही काव्य ग्राह्य है। आचार्य वामन ने काव्यशोभा के उत्पादक धर्म को गुण तथा उनके अतिशय हेतुओं को 'अलङ्कार' कहा है।[2]

'भामह' ने वक्र अर्थ सम्गुम्फन और शब्द रचना को अलङ्कार कहा[3]। अलङ्कारवादी आचार्यों को कविता–कामिनी के सौन्दर्य का प्रयोजक तत्त्व वाह्य अलंङ्कार ही प्रतीत हुआ। उनकी दृष्टि में काव्यरूप नारी का कान्त मुख भी अलङ्कारों के अभाव में शोभावह नहीं होता।[4]

'आचार्य कुन्तक' ने वक्र अभिधा प्रकार विशेष भङ्गी–भणिति को अलङ्कार माना।[5]

---

1. काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते। काव्यादर्श–2/1
2. सौन्दर्यमलङ्कारः/काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः। तदिशय हेतवस्त्वलङ्कारः"।
काव्यालङ्कार सूत्र–3.11
3. वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः"। काव्यालङ्कार – 1/36
4. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्। भामह–काव्यालङ्कार –1/13
5. वक्रोक्ति जीवित, प्रस्तावना, पृ. 17

इस प्रकार अलङ्कारवादी आचार्यों के अनुसार– सारे काव्यतत्त्व अलङ्कार में ही समाहित हैं, क्योंकि दण्डी का यह वाक्य– कि यद्यपि अनुप्रास, उपमा आदि तो अलङ्कार हैं ही गुण, रस, ध्वनि, आदि अनेक काव्यतत्त्व भी इसी नाम से अभिहित होते हैं।

इस प्रकार अलङ्कारवादी आचार्यों यथा– भामह, दण्डी, उद्भट, वामन इत्यादि ने काव्य के शोभाधायक तत्त्वों को अलङ्कार कुक्षि में ही सन्निविष्ट मान लिया। वे चमत्कारहीन रचना को 'वार्त्ता' मात्र मानते हैं। इनका कहना है कि– काव्य में सौन्दर्य का घटक एकमात्र अलङ्कार है। इन लोगों ने 'अलङ्कार एवं अलङ्कार्य' दोनों में अभेद माना।

अलङ्कारवादियों के उक्त मत को ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन समुचित रूप से खण्डित करते हुए कहते है कि अलङ्कार एवं अलङ्कार्य वस्तुतः एक नहीं है। दोनों में भेद है, क्योंकि अलङ्कार एवं अलङ्कार्य वस्तुतः एक नहीं हैं। दोनों में भेद है, क्योंकि 'अलङ्कार' उसे कहते हैं जो शोभाधायक होता है और जो स्वयं शोभित किया जाता है, वह ' अलङ्कार्य' है।

अलङ्कारवादियों को ध्वनितत्त्व को भी अलङ्कारों में अन्तर्भूत करना अभीष्ट था और यही कारण है कि 'ध्वन्यालोककार ने' अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही ध्वनिविरोधियों में 'भाक्त' और अनिर्वचनीयतावादियों के अतिरिक्त अभाववादियों अर्थात् ध्वनि को न मानने वाले अलङ्कारवादियों का भी खण्ड किया। और अलङ्कार विषयक अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर यह सिद्ध किया कि, ध्वनि का क्षेत्र अलङ्कारों से कहीं आगे है। ध्वनि महाविषयीभूत है। अतः अलङ्कारों का अन्तर्भाव ध्वनि में ही किया जायेगा न कि ध्वनि का अन्तर्भाव इनमें।

इस प्रकार अलङ्कार को ही काव्य का व्यापक रमणीय एवं अनिवार्य तत्त्व मानने वाले अलङ्कारवादियों के सिद्धान्त को पूरी तरह उन्मूलित करके ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने अलङ्कार की विवक्षा गौण रूप में मानी, अंगी रूप में कभी नहीं मानी। इसलिए वे अलङ्कारों को बहिरङ्ग की संज्ञा से विभूषित करते हैं। किन्तु जब ये व्यङ्ग्य होते हैं तो स्वयं अलङ्कार्य हो जाते हैं।

इन्होंने अपना अलङ्कार का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा कि काव्य में इनकी स्थिति ऐसी है – जैसे कि शरीर के कटककुण्डल आदि शोभाकारक आभूषणों की होती है।[1] अङ्ग से तात्पर्य शब्दार्थ रूप काव्यशरीर से है। आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त आदि ध्वनिवादी आचार्यों ने 'अलङ्कार विच्छिति' अथवा 'चमत्कार' को उपादान माना।

---

1. अङ्गाश्रितास्त्वलङ्काराः मन्तव्याः कटकादिवत्। ध्वन्यालोक 2/6

अभिनव ने कहा है– कि सुकवि अलङ्कार को श्लिष्ट रूप में संयोजित करता है जैसे कि– विदग्ध अपूर्व लावण्यवती रमणी कुंकुमपीतिका से शरीर को। तथापि इसको शरीर मानना भी कठिन है, आत्मता की तो संभावना ही क्या? अतः जहाँ रस नही, वहाँ अलङ्कार शवशरीर पर कुडंल सरीखा है।[1]

'आनन्दवर्धन' द्वारा प्रथित इसी सरणि को आगे बढ़ाते हुए 'आचार्य मम्मट' और फिर 'विश्वनाथ' ने अलङ्कार का लक्षण निम्नोक्त रूप में प्रस्तुत किया–

अलङ्कार उन्हें कहते हैं जो शब्दार्थ रूप काव्यशरीर के अस्थिर धर्म के रूप में उसकी अतिशय शोभा बढ़ाते हुए रसादि का भी उपकार करते हैं[2]।

इसके अनन्तर पण्डितराज जगन्नाथ ने अलङ्कार का स्वरूप वर्णित करते हुए कहा कि – जो काव्य की आत्मा व्यङ्ग्य की रमणीयता के प्रयोजक है'' वे ही अलङ्कार हैं[3]।

इस प्रकार अलङ्कारवादियों का अलङ्कार अब काव्य का अनिवार्य तत्व न रहकर शब्दार्थ की शोभा के माध्यम से रस का उपकारक बन गया। और वह भी नित्य रूप से नहीं। मम्मट का 'अनलङ्कृती पुनः' क्वापि' कथन इसी अवहेलना का द्योतक है। इस प्रकार अलङ्कार को काव्य की आत्मा मानने का प्रश्न आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों के मत में तो उत्पन्न नहीं होता।

भामह, दण्डी, वामन के मत में भी अलङ्कार को काव्य की आत्मा नहीं मान सकते, क्योंकि उनके मत में भी अलङ्कार काव्य का बाह्य साधन होते हुए भी अधिकांशतः एक बाह्यपरक तत्त्व है, किन्तु आत्मा कहाने योग्य काव्यतत्त्व वह होता है जो कि काव्य का एक अनिवार्य एवं आन्तरिक साधन हो।

मम्मट की दृष्टि में अलङ्कार काव्य का एक सौन्दर्याधायक तत्त्व है, लेकिन आवश्यक रूप से इसकी स्थापना पर जोर नहीं दिया[4]।

---

1. यथा हि पृथग्भूतेन द्वारेण रमणी विभूष्यते तथोपमानेनशशिना तत्सादृश्येन व कविवुद्धि चंचलतया परिवर्तमानत्वात् पृथक् सिद्धेनैव प्रकृत वर्णनीय वनितावदनादि सुन्दरी इति तदेवालङ्कार।
नाट्यशास्त्र अभि. भारती. भाग 2 पृष्ठ 321

2. (क) उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्ग द्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।। काव्यप्रकाश – 8 / 381 पृ0
(ख) शब्दार्थयोरस्थिराः ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत्।। सा0दर्पण – 10.0

3. काव्यात्मनोव्यङ्ग्यस्य रमणीयता प्रयोजका अलङ्काराः। रसगंगाधर

4. सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि काव्यप्रकाश–प्रथम उल्लास, पृष्ठ – 19

'चन्द्रालोककार जयदेव' का कहना है कि – जो निरलङ्कार शब्दार्थ को काव्य मानता है, उस कृती को तो मानने वाले को तो आग को ठंडी ही मानना चाहिए[1]।

ध्वनिकार ने रसकर्तक आक्षिप्त वा आकृष्ट होने से जिसकी रचना सम्भव हो और रस के सहित एक ही प्रयत्न द्वारा जो सिद्ध हो वही अलङ्कार ध्वनिकार को मान्य है[2]।

इस प्रकार काव्यशास्त्र में अलङ्कार तत्त्व की एक बहुत बड़ी परम्परा का निर्वाह होता रहा और सभी का एक मात्र उद्देश्य रहा – 'काव्योत्कर्ष की साधना'। इसे अनेक मनीषी पण्डितों ने इस प्रकार समझाया है कि – "सुन्दर काव्य भी अलङ्कारों के बिना वैसे ही सुशोभित नहीं होता जैसे कि बिना भूषण के वनिता का सुन्दर मुख दीपित नहीं होता।"

काव्य के समग्र घटकों में अलङ्कार काव्य का मूलभूत तत्त्व है। इसी से काव्य में सौन्दर्य का आधान होता है। अलङ्कार की काव्य में अपनी अलग महिमा एवं विशिष्टता है। इसी कारण काव्यशास्त्र को 'अलङ्कारशास्त्र' भी कहते हैं। 'राजशेखर' ने तो इसे वेद का सातवाँ अंग भी माना है जो उसकी प्रधानता को प्रमाणित करता है।

इस प्रकार अलङ्कारवादी आचार्यों को ही व्यापक रूप से अलङ्कार को चर्चा करने का श्रेय दिया जाता है। अलङ्कारवादियों का अलङ्कार के प्रति जो दृष्टिकोण था वह 'आनन्दवर्धन' के प्रभाव से परवर्ती प्रमुख आचार्यों का नहीं रहा।

निष्कर्षतः अलङ्कारवाद में सब प्रकार के सौन्दर्य–विधायक तत्त्वों का वाचक अलङ्कार साधन है और रीतिवाद में अनुप्रास, उपमा आदि का वाचक अलङ्कार द्वितीय कोटि का साधन है।

रसवादी और ध्वनिवादियों की दृष्टि में अलङ्कार रस के असाक्षात् उत्कर्षक हैं। अलङ्कार शब्दार्थ के माध्यम हैं, काव्य में अलङ्कार आभूषण के समान हैं।

इस प्रकार अलङ्कार काव्य के बाह्यात्मक कलापरक, शब्दार्थ रूप काव्यशरीर के सौन्दर्य का सर्वाधिक प्रबल तत्त्व है। काव्य में अलङ्कार का सद्भाव अनिवार्यतः रहता है। अतः अलङ्कार काव्य का केवल बाह्यशोभाकारक उपकरण मात्र ही है।

---

1 अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती।। चन्द्रालोक – प्रथममयूख/8 श्लोक

2. रसक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वत्यः सोऽलङ्कारौ ध्वनौमतः।। ध्वन्यालोक

रीति तत्त्व – काव्य के अन्य सौन्दर्याधायक तत्त्वों की भाँति रीति का भी अपना कुछ अलग ही महत्त्व रहा। इसका भी प्रारम्भ काव्यशास्त्र के आदिकाल में ही होता है। अन्य तत्त्वों यथा गुण, अलङ्कार, वृत्ति आदि की भांति इस रीति नामक तत्त्व का भी काव्यशास्त्र की विभिन्न अवस्थाओं में प्रयोग होता रहा।

जिज्ञासा होती है कि यह रीति क्या है? बताया गया कि – रसों का उपकार करने वाली शरीर के अवयव के गठन की भाँति स्थित पदों की संघटना को 'रीति' कहते हैं। आत्मा की अभिव्यक्ति के लिए शरीर के अवयवों का समुचित रूप में सन्निवेश आवश्यक है। यदि उनमें औचित्य न हुआ तथा अवयव असमीचीन रूप से संलग्न हुए तो शरीर कुरूप हो जाता है एवं फलतः आत्माभिव्यञ्जन भी समुचित नहीं होता है। ठीक उसी प्रकार रीति की भी स्थिति है। काव्य के आत्मभूत रस की अभिव्यक्ति के लिए उसका समुचित रूप में होना अति आवश्यक है।

रीति का सर्वप्रथम सुस्पष्ट एवं सैद्धान्तिक विवेचन करने वाले आचार्य हैं 'वामन'। वामन के पश्चात् रीति सिद्धान्त के बीज हमें भरत, दण्डी, उद्भट, रूद्रट, भोज, आनन्दवर्धन, इत्यादि आचार्यों के ग्रन्थों में भी मिलते हैं, परन्तु रीतिविषयक महत्त्वपूर्ण सामग्री को विधिवत् वर्णित करने का सर्वाधिक श्रेय 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' के प्रणेता आचार्य वामन को ही है। आचार्य वामन गुण–विशिष्ट पदरचना को 'रीति' कहते हैं, और रीति को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। इनके मतानुसार रीति तीन प्रकार की – वैदर्भी, गौड़ी तथा पाञ्चाली है[1]। इसमें वैदर्भी रीति समग्र गुण समन्विता है। ओजगुण एवं कान्तिगुण से समन्वित तथा समासबहुला गौड़ी रीति है तथा पाञ्चाली सौकुमार्य एवं माधुर्य गुण से समन्वित है।

कहने का तात्पर्य यह है कि "जिस प्रकार चित्र रेखाओं का समन्वय होता है उसी प्रकार ये रीतियां भी अपने–अपने गुणों का समन्वय है[2]।

'आचार्य वामन' गुणों को ही रीति का नियामक मानते हैं। रीति को काव्य की आत्मा मानने पर भी काव्य की चारूता गुण तथा अलङ्कार में ही खोजते हैं। तात्त्पर्य यह है कि जिन दस शब्दगत और दस अर्थगत गुणों से यह निर्मित होती है उनमें काव्य के अधिकांश तत्त्व किसी न किसी रूप में अनुस्यूत रहते हैं।

---

1. रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्ट पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा।
   सा त्रिधा वैदर्भी, गौड़ीया, पाञ्चाली चेति।। काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति–पृष्ठ 34
2. एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठमिति। का0 सू0 वृ0 1.2.13

वामन के बाद वामनसम्मत रीति का किसी ने अनुमोदन एवं अनुकरण नहीं किया, इसकी संवृद्धि में किसी भी प्रकार का योगदान नहीं दिया, बल्कि इसके विपरीत वामन का उपहास तक किया गया –

'आनन्दवर्धन' के शब्दों में – "ध्वनि जैसे अवर्णनीय काव्यतत्त्व को समझ सकने में असमर्थ लोगों द्वारा काव्यशास्त्रीय जगत् में रीतियां चला दी गयीं[1]।

'कुन्तक' ने तो इस प्रकार के स्वर में कहा – "अजी हटाओ भी, कौन रीति जैसी 'निःसारवस्तु' के साथ अपना मगज खपाये"[2]।

इतना ही नहीं 'वाग्देवतावतार मम्मट' ने 'रीति' को वृत्ति का पर्याय मानते हुए उद्भट के अनुरूप इसे वृत्यनुप्रास नामक शब्दालङ्कार के अन्तर्गत निरूपित कर दिया। और इसकी रही सही कसर को आचार्य विश्वनाथ ने पूरी कर दी। उनका कहना है कि – रीति तो पदसंघटना मात्र है। वह काव्य का स्वरूपाधायक तत्त्व भी नहीं है, केवल शरीर के अङ्गों की बनावट के समान शब्दार्थरूप काव्यशरीर का उपकार करती हुई काव्य की आत्मा रस का प्रकारान्तर से उपकार कर देती है। इस प्रकार वामन के दृष्टिकोण को समझे विना ही आचार्यों द्वारा उसके रीति सिद्धान्त का खण्डन किया जाता रहा। वस्तुतः खण्डन उसकी मान्यता का ही करना था, न कि रीति का ।

'आचार्य विश्वनाथ' कहना है कि – इनके मत में सबसे बड़ा दोष यह था कि 'रीति' काव्य की आत्मा नही कही जा सकती क्योंकि आत्मा से तात्त्पर्य होता है – "काव्य का अनिवार्य एवं आन्तरिक साधन" । परन्तु वामन की रीति अधिकांशतः बाह्ययपरक साधन है। इस प्रकार यद्यपि परवर्ती आचार्यों ने वामनसम्मत रीति को उक्त रूप से स्वीकार नहीं किया, फिर भी रीति को काव्य के सौन्दर्याधायक तत्त्व के रूप में विभिन्न आचार्यों द्वारा स्वीकार किया जाता रहा। इन आचार्यों में भोज, मम्मट, विश्वनाथ, आनन्दवर्धन आदि का प्रतिपादन अपेक्षाकृत अधिक उपादेय एवं ज्ञातव्य है, जिन्होंनें रीति को नये सिरे से परिभाषित किया। एकादश शता० के आचार्य धाराधीश भोज ने 'रीति' शब्द की व्युत्पत्ति 'रीङ्गतौ' धातु से निष्पन्न की है[3]। इस प्रकार इनके मतानुसार रीति का अर्थ है – 'कवि का एक विशिष्ट मार्ग'।

---

1. अस्फुट स्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम्।
   अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतियः सम्प्रवर्तिताः।। — आनन्दवर्धन का कथन
2. तदलमनेन निस्सारवस्तु–परिमलव्यसनेन। — कुन्तक का कथन है –
3. रीङ्ताविति धातोस्या व्युत्पत्या रीतिरूच्यते। — स० क० 2/17

दूसरी भाषा में इसे 'शैली' नाम से भी अभिहित किया जाता है। अलङ्कारशास्त्र में इसके अनेक पर्याय हैं – जैसे – प्रस्थान, मार्ग, गति इत्यादि।

भोज ने 'रीति' का अर्थ प्रतिपादित करते हुए उसके छह भेद स्वीकार किये। वामन के वैदर्भी, पाञ्चाली तथा गौड़ी एवं रूद्रट के लाटी भेदों में उन्होंने आवन्ती तथा मागधी को मिलाकर उनकी संख्या में वृद्धि कर दी[1]।

'वामनसम्मत' रीति को अस्वीकार करते हुए आनन्दवर्धन ने 'रीति' को 'संघटना' नाम दिया। सम्यक् अर्थात् यथोचित्घटना–पदरचना का नाम संघटना अथवा रीति है। आनन्दवर्धन ने वास्तव में वामन की परिभाषा को संक्षिप्त कर दिया।

वामन का 'पदरचना' और अनन्दवर्धन का संघटना शब्द तो पर्याय ही है। दोनों के विशेषणों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। वामन ने पदरचना को शब्द और अर्थगत सौन्दर्य से युक्त कहा है क्योंकि वामन के पास कोई मानदण्ड नहीं था जबकि आनन्दवर्धन के सामने रस का मानदण्ड था। इसलिए उन्होंने तदनुकूल 'सम्यक् यथोचित' शब्द का प्रयोग किया। 'वामन' शब्द अर्थ का ही चरममान स्वीकार करते हुए शब्द और अर्थगत सौन्दर्य को विशेष माना। इस प्रकार आनन्द एवं वामन की परिभाषाओं में मौलिक साम्य होते हुए भी विशेषणों में सूक्ष्म अन्तर है।

'आनन्दवर्धन' के अनुसार – रीति रसाश्रयी है जिससे रस परिपोष होता है जबकि– 'वामन' की रीति स्वतंत्र है। अतएव उनके मत से पदरचना का वैशिष्ट्य अपने शब्दगत और अर्थगत सौन्दर्य से अभिन्न है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन 'पदसंघटना' को ही रीति का परिष्कृत रूप स्वीकार करते हैं। जो 'रस आदि को व्यक्त करती है'' [2]।

'राजशेखर' के अनुसार–वचनविन्यास का क्रम ही रीति है – ''वचनविन्यासक्रमोरीतिः'' 'विद्याधर' ने रीति को 'पाक' की संज्ञा दी है [3]।

---

1. सरस्वती कण्ठाभरण – 2.87
2. ''व्यनक्ति सा रसादीन्''। ध्वन्यालोक – /.5
3. रसेचित शब्दार्थ निबन्धनम्। 'एकावली'

रीति के सम्बन्ध में 'नीलकण्ठदीक्षित' का कथन है – कि भाषा में अक्षरों की भरमार है, अनेक शब्द है, शब्दार्थ भी है, किन्तु जिस शब्दार्थ के बिना कविवाणी सुशोभित नहीं होती वहीं 'मार्ग' है रचना पद्धति वा रीति'' है।

'वक्रोक्तिकार कुन्तक' ने कवि स्वभाव को प्रधानता देते हुए 'रीति' के लिए पुनः मार्ग शब्द का प्रयोग किया। उन्होंने सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम तीन भेद किये हैं[1]। इसके अनन्तर आनन्दवर्धन से प्रेरणा प्राप्त कर आचार्य मम्मट और विश्वनाथ ने रीति का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया – आचार्य मम्मट ने – 'नियतवर्णों का रस विषयक व्यापार' वृत्ति (रीति) कहलाता है[2(क)]। तथा आचार्य विश्वनाथ ने रीति का लक्षण 'पदसंघटना' को बताया। इनका कहना है कि यह अङ्ग संस्था के समान है, अर्थात् काव्य में इसकी स्थिति शरीर के अवयवों की बनावट के समान है और इसी रूप में रहकर वह रस का उपकार करती है[2(ख)]। तात्पर्य यह है कि शरीर के अवयव साक्षात् रूप में आत्मा का सौन्दर्यवर्धन कर शौर्य आदि गुणों की वृद्धि करते हैं। वे गुण आत्मा के उत्कर्ष के हेतु हैं, अङ्ग संस्थान उनके द्वारा आत्मा की शोभावृद्धि करता है। रीति का भी रस से साक्षात् सम्बन्ध नहीं है – वह माधुर्य आदि गुणों का आश्रय लेकर रसों का अभिव्यञ्जन करती है। स्वतंत्र रूप से वह अपने कार्य में समर्थ नहीं, गुणों का आश्रय भी वर्णों के द्वारा प्राप्त करती है मुख्य रूप से उसका वर्णों से ही सम्बन्ध है।

इस प्रकार आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ दोनों ने ही त्रिविध रीतियां वैदर्भी, गौड़ी, तथा पाञ्चाली को स्वीकार किया और क्रमशः इन्हें माधुर्य, ओज, प्रसाद के रचनागत स्वरूप के साथ सम्बद्ध किया[3]। आचार्य मम्मट ने रीति और वृत्ति की अभिन्नता ही मानी है।

उन्होंने माधुर्य व्यञ्जक वर्णों वाली उपनागरिका वृत्ति को वैदर्भी का , ओजगुण व्यञ्जक परूषा वृत्ति को गौड़ी रीति का, तथा प्रसाद व्यञ्जक कोमला ग्राम्यावृत्ति को पाञ्चाली रीति का ही पर्याय माना[4]।

---

1. वक्रोक्ति जीवित – 1/24
2(क). वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः। काव्यप्रकाश – पृष्ठ 404
2(ख). पदसंघटनारीतिऽङ्गसंस्थाविशेषवत्। उपकर्त्रीरसादीनां। साहित्यदर्पण – 9–1
3. माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते।
ओजः प्रकाशकैस्तैश्च परूषा कोमला परैः।। काव्यप्रकाश – 9/पृष्ठ 406
4. केषाञ्चितादेवा वैदर्भी प्रमुखा रीतयोमताः। काव्यप्रकाश – 9/पृष्ठ 406

'शारदातनय' ने भी चार रीतियों यथा – वैदर्भी, पाञ्चाली, लाटी तथा गौड़ी को मान्यता प्रदान किया[1]। किन्तु हेमचन्द्र ने पुनः उपनागरिका, परूषा, एवं कोमला वृत्ति को ही प्रमुख माना[2]।

इस प्रकार काव्यसाहित्य में रीति अथवा पद रचना को भी बहुत महत्त्व प्रदान किया गया – साहित्यदर्पणकार के अनुसार – रीति और संघटना एक ही वस्तु है। रीति अथवा संघटना रस की अभिव्यक्ति का निमित्त है इसी कारण इसे रस भाव की उपकर्त्री माना गया है।

इस प्रकार वामनसम्मत रीति एक 'विशिष्ट पद रचना' है जो गुणों से निर्मित होती है। तात्पर्य यह है कि – वामन के अनुसार – गुण रीति पर ही आश्रित है। इसी 'रीति' को वामन ने काव्य की आत्मा कहा है।

इसी आधार पर 'आनन्दवर्धन' ने रीति के स्थान पर 'संघटना' शब्द का प्रयोग करते हुए इसे केवल समास वद्धता से सम्बन्धित कर दिया। दूसरी आरे इसे गुणों से सम्बद्ध करने तथा रसोपकारिक मानने के उद्देश्य से 'मम्मट' ने इसका लक्षण दिया – कि ऐसी पद संघटना रीति कहलाती है जो गुण व्यञ्जक वर्णों पर आश्रित रहकर रस का उत्कर्ष करती है।

'विश्वनाथ' के शब्दों में रीति 'रस' का उत्कर्ष उसी प्रकार करती है जिस प्रकार हमारी 'अङ्गसंस्था' हमारी आत्मा का प्रकारान्तर से उत्कर्ष करती है[3]। कहाँ तो वामन के मत में रीति पर गुण आश्रित थे और रीति काव्य की आत्मा थी और कहाँ अब मम्मट और विश्वनाथ के मत में रीति गुणों पर आश्रित है और रस आत्मा का प्रकारान्तर से उत्कर्ष करती है। अब यह केवल रचनामात्र है अर्थात् आधुनिक शब्दावली में यह एक शैली मात्र है।

वृत्ति तत्त्व – संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने काव्य के नैसर्गिक स्वभाव को इङ्गित करने के लिए विविध तत्त्वों का प्रतिपादन किया और काव्य के रीति, गुण, अलङ्कार आदि तत्त्वों के साथ शोभाधायक तत्त्वों में वृत्तियों की भी परिगणना की। इन वृत्तियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऐसी किंवदन्ती है – कि सृष्टि के आदि में जब भगवान् विष्णु क्षीरसागर में प्रगाढ़ निद्रा में शयन कर रहे थे उस समय समस्त देवगण महादानवमधु कैटभ के भय से पीड़ित थे।

---

1. भावप्रकाशन – पृष्ठ 11
2. काव्यानुशासन – पृष्ठ 292।
3. पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्था विशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनाम् – सा0 दर्पण – 9/1 चौखम्बासंस्करण

तभी सुरसमुदाय ने मिलकर ब्रह्मा जी के पास जाने का निर्णय किया। तत्पश्चात् चतुर्भुज श्री ब्रह्मा जी सम्पूर्ण सुरवृन्द को लेकर क्षीरसागर में भगवान् श्री विष्णु के सम्मुख उपस्थित हुए। अपनी अतिपूर्ण विनती करके भगवान् विष्णु को प्रसन्न किया और मधुकैटभ के भय की अपनी विपत्ति सुनाई। देवों को इस कष्ट से त्राण दिलाने के लिए भगवान विष्णु ने दैत्य एवं दानवों से भयंकर युद्ध किया। बहुत समय तक भगवान् विष्णु का दैत्य एवं दानवों से युद्ध चलता रहा। परन्तु विजय एवं पराजय का कोई निर्णय नहीं हो सका। बहुत अधिक समय से युद्ध चलने के पश्चात् दानव समुदाय विष्णु के पराक्रम से बहुत प्रसन्न हुआ। और भगवान विष्णु से वर मांगने को कहा। सर्वशक्ति सम्पन्न भगवान् विष्णु को भी उनसे वर प्राप्त करने की आन्तरिक इच्छा हुई । इस प्रकार दैत्यों ने अपने ही संहार का वर भगवान् विष्णु को दे दिया, और अपना वध युद्ध में स्वीकार कर लिया। इस प्रकार देवताओं की दानवों पर विजय प्राप्त हुई। इस प्रकार संस्कृत–साहित्य में आचार्य भरत के अनुसार इन चारों वृत्तियों (कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी और भारती) का जन्म उपर्युक्त युद्ध से हुआ, ऐसा ही प्रमाण है।

काव्य के अन्तश्चमत्कार के लिए इन उक्त वृत्तियों की आवश्यकता पड़ी। अन्यत्र यह तत्त्व अप्राप्त था। ब्रह्मा ने आचार्य भरत को इन वृत्तियों को वेदों से प्राप्त करने के लिए आज्ञा प्रदान की। आचार्य भरत ब्रह्मा की आज्ञा का अनुपालन करते हुए वेदों से इन वृत्तियों का ग्रहण किया। ऋग्वेद से भारती, यजुर्वेद से सात्त्वती, सामवेद से कौशिकी तथा अथर्ववेद से आरभटी वृत्ति की उत्पत्ति हुई[1] ।

युद्ध करते समय भगवान् विष्णु के विभिन्न क्रियाकलापों से इन वृत्तियों की उत्पत्ति हुई। युद्ध के समय योद्धा की शारीरिक एवं मानसिक स्थिति में अन्तर होता है। उसके हाव–भाव, हस्तसञ्चालन, पादसञ्चालन एवं मुखरवाणी में भी परिवर्तन होता है। सामान्य वीर की जब ऐसी दशा होती है तो उस समय विचार करें कि भगवान् विष्णु के साथ युद्ध करते समय दानवों की दशा भी सदा क्रोध एवं वीरता से परिपूर्ण रही होगी। उस समय भगवान् विष्णु ने दानवों से ओजस्विता के साथ अपने पदन्यास किये। समस्त भूमण्डल में भगवान् विष्णु के चरण सञ्चालन से पृथ्वी अधिक भारवती हो गयी। यहीं पर भारती वृत्ति का निर्माण हुआ। यही भारती वृत्ति की उत्पत्ति का प्रथम स्त्रोत था। आचार्य भरत का कहना है कि भारती वृत्ति का क्षेत्र अन्य वृत्तियों

---

1. ऋग्वेदाद् भारतीक्षिप्ता यजुर्वेदाच्च सात्त्वती।
   कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणादपि।। ना०शा० – 20–25

से भिन्न है। भारती वृत्ति में केवल आलाप–संलाप का ही अवकाश है। इस वृत्ति में केवल पुरूष पात्र ही विद्यमान रहते हैं। साथ ही साथ केवल संस्कृत भाषा का प्रयोग होता है। भरतों (कुशीलवों) द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इसे भारती वृत्ति कहते हैं[1]। भारती वृत्ति की स्थिति करूण और अद्‌भुत रसों में होती है।

युद्ध के समय भगवान् विष्णु ने अनेक रूप धारण कर दानवों से युद्ध किया। अस्त–वयस्त हो जाने पर भगवान् को अपनी शिखा का बन्धन भी करना पड़ा। वहीं पर कौशिकी वृत्ति की उत्पत्ति हुई। 'आचार्य भरत' ने कैशिकी वृत्ति उसे कहा है–जो सुन्दर नेपथ्य–विशेष से सुशोभित होती है। जिसमें स्त्रीपात्र भी विद्यमान होते हैं तथा नृत्य एवं गीतों का बाहुल्य होता है एवं जो कामविषयक उपभोगों के उत्पादक प्रयोगों से समन्वित होती है[2]।

युद्ध के समय जब भगवान् विष्णु ने अपने सारङ्ग धनुष से घोर टङ्कार किया तो उस टङ्कार से युक्त शब्द से सात्त्वती की उत्पत्ति हुई।[3]

"सत्सत्त्वं प्रकाशस्तत् सत्त्ववन्मनस्तत्र भवां सात्त्वती
संज्ञा शब्दत्वेन बाहुलकात् स्त्रीत्वम्।"

अर्थात् सात्त्वतीवृत्ति वह वृत्ति है – जिससे चित्त प्रकाशयुक्त अर्थात् मोहहीन होता है। 'आचार्य भरत' ने इस सात्त्वतीवृत्ति का लक्षण इन शब्दों में दिया है –

या सात्त्वतेनेह गुणेनयुक्ता न्यायेन वृत्तेन समन्विता च।
हर्षोत्कटा संहृत शोकमाया, सा सात्त्वतीनाम भवेत्तु वृत्तिः।। नाट्यशास्त्र–

अर्थात् सत्त्व या प्रकाश से युक्त वृत्ति का ही नाम सात्त्वती वृत्ति है। यह वृत्ति न्यायाचरणयुक्त तथा हर्षातिरेक से समन्वित होती है। इसमें शोक का भाव यदि है, तो निगूहित है।

---

1. स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता, सा भारती नाम भवेत्तुवृत्तिः। ना0शा0
भारतीसंस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः।
भेदैः प्ररोचना युक्तैर्वीथी प्रहसनामुखैः।। दशरूपक – पृ0 – 210
2. याश्लक्ष्णनेपथ्य विशेषचित्रा स्त्री संयुता या बहुनृत्तगीता।
कामोपभोग प्रभवोपचारा तां कैशिकीवृत्ति मुदाहरन्ति।। ना0शा0
3. तत्रकैशिकी। गीतनृत्यविलासाद्यैर्मृदुः श्रृङ्गारचेष्टितैः। दशरूपक – पृ0 184

आचार्य धनञ्जय ने सात्त्वती वृत्ति का लक्षण निम्न रूप से दिया है[1]। तदनन्तर विष्णु के आवेग तथा भिन्न–भिन्न पादसञ्चालन से भिन्न–भिन्न दैत्यों से युद्ध करने के अवसर पर आरभटी वृत्ति की उत्पत्ति हुई।

आचार्य धनञ्जय ने माया, इन्द्रजाल, संयम , क्रोध उद्भ्रान्त चेष्टाएं तथा वध आदि क्रियाओं से युक्त उद्धतवृत्ति को आरभटी वृत्ति कहते हैं[2]। इस वृत्ति की स्थिति भयानक, वीभत्स और रौद्र रसों में होती है।

इस प्रकार उक्त चारों वृत्तियों में भारती वृत्ति शब्द प्रधान तथा शेष को अर्थ प्रधान माना गया है। आचार्य भरत का कहना है – कि पृथ्वी के विभिन्न देशों के वेष, भाषा, तथा व्यवहार की बातों को जो प्रकट करे वही प्रवृत्ति है। वृत्ति एक ओर जहाँ शब्दों एवं चेष्टाओं के द्वारा अभिव्यञ्जना की पद्धति है, वहीं प्रवृत्ति रहन–सहन रीतिरिवाज को प्रकट करने की पद्धति है। आचार्य भरत ने पाँच प्रवृत्तियाँ मानी हैं। आवन्ती, दाक्षिणात्या, पाञ्चाली, मध्यमा तथा औड्रमागधी वृत्ति शब्द का अर्थ है – व्यवहार या व्यापार आचार्य मम्मट ने वृत्ति शब्द का अर्थ किया है – "नियतवर्णों का रसानुकूल व्यापार"[3]।

'आचार्य उद्भट' के अनुसार ये वृत्तियां वर्ण व्यवहार मात्र हैं। 'आचार्य रूद्रट' शब्द व्यवहार रूप वृत्ति मानते हैं। अर्थात् वृत्तियां अनुप्रास भेद के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। क्योंकि वे स्वयं कहते हैं –

मधुरा प्रौढ़ा परूषा ललिता भद्रेतिवृत्तयः पञ्च।
वर्णानां नानात्वादस्यैति यथार्थणामफलाः।। 2/19

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार रीति का गुणों में और गुणों का रस में पर्यवसान होने से परम्परया रीति का रसध्वनि में ही पर्यवसान होता है, उसी प्रकार वृत्तियों का भी पर्यवसान रस– ध्वनि में ही होता है। कठोर वर्णों वाली परूष वृत्ति का रौद्र आदि में, उपनागरिका वृत्ति का श्रृङ्गारादि कोमल रसों में तथा ग्राम्यावृत्ति का हास्यादि रसों में पर्यवसान होता है। क्योंकि वर्णों की कोमलता एवं परूषता का रस व्यञ्जकता की दृष्टि से ही महत्त्व सिद्ध होता है। अतएव रस–व्यञ्जकता के अतिरिक्त वृत्तियों की कोई अलग सत्ता नहीं है। वृत्तियों को केवल

---

1. विशोका सात्त्वती सत्त्वशौर्य त्याग दयार्जवैः। दशरूपक – पृ0 190
2. मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद् भ्रान्तादिचेष्टितैः। दशरूपक – पृ0 193
3. वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः। काव्यप्रकाश नवम उल्लास

अनुप्रास की जाति मान लेने पर भी जैसा कि अभिनवगुप्त मानते हैं – वृत्तियों की अनुप्रास में अनधिक व्यापारता ही सिद्ध होती है। और अनुप्रास भी ध्वनिसिद्धान्त के अनुसार रसादि का परम्परया व्यञ्जक होते हुए अपनी अलङ्कारता को चरितार्थ करता है। इस दृष्टि से वृत्तियां रस पर्यवसायी ही सिद्ध होती हैं। आचार्य आनन्दवर्धन – रसानुकूल वाचक व्यवहार ही वृत्ति है, ऐसा कहा है। रसव्यञ्जकता की दृष्टि से रीति एवं वृत्ति दोनों एक ही आसन के अधिकारी हैं।

आचार्य मम्मट ने रीति एवं वृत्ति की इस अभिन्नता के सम्बन्ध में वामन के मत का उल्लेख किया है। आचार्य वामन माधुर्य व्यञ्जक वर्णों वाली उपनागरिका वृत्ति को वैदर्भी, ओजोगुण व्यञ्जक परूषा वृत्ति को गौड़ी तथा प्रसादव्यञ्जक कोमला को (ग्राम्या को) पाञ्चाली रीति स्वीकार करते हैं[1]।

इस प्रकार वामन, मम्मट, आनन्दवर्धन इत्यादि सभी आचार्यों ने रीति एवं वृत्ति में कोई भेद स्वीकार नहीं किया है, जबकि चन्द्रालोककार जयदेव ने वृत्ति एवं रीति को अभिन्न नहीं स्वीकार किया है। चन्द्रालोककार रीतियों को समास व्यङ्ग्यत्व तथा वृत्तियों को वर्णानुपूर्वी व्यङ्ग्यत्त्व मानते हैं।

गुण तत्व – काव्यमर्मज्ञ साहित्य मनीषियों ने काव्य के जिन तत्त्वों का विवेचन किया उनमें गुण भी अपना प्रमुख स्थान रखता है। साहित्य शास्त्र में चिन्तन किये जाने वाले तत्त्वों में गुणों का भी अतिशय महत्त्व है। प्रत्येक आचार्य ने अपनी मनीषा के अनुसार ही इसका चिंतन किया है। इसके चिन्तन की प्रक्रिया उतनी ही प्राचीन है जितनी स्वयं साहित्य शास्त्र की।

काव्य के तत्त्वों का विवेचन हमें सर्वप्रथम 'भरत' से प्राप्त होता है। वह ही इस गुण विवेचन के प्रथम चिंतक है। उनके पश्चात् विभिन्न सिद्धान्त के प्रतिपादक आचार्य उत्पन्न हुए। उन्होंने रस, रीति, अलङ्कार, वृत्ति, छन्द आदि विविध तत्वों पर विस्तृत विचार प्रस्तुत किये। उनके अन्य विवेचन के साथ गुण विवेचन भी स्थान प्राप्त करता रहा।

यद्यपि अनेक आचार्यों ने गुणों पर विचार प्रस्तुत किये, किन्तु उनमें सरसता नहीं है। गुणों के उनके विचार एक रूप न होकर विषमता रखते है। यदि एक ओर उन्हें शब्द और अर्थ से सम्बद्ध किया जाता है तो दूसरी ओर रीतिवादी आचार्य उन्हें रीतियों से सम्वर्द्धित करते हैं। साथ ही ध्वनिवादी आचार्य उन्हें रसों से सम्बद्ध सिद्ध करते हैं। रस और गुण में ध्वनिवादी

---

1. एतास्तिस्त्रो वृत्तयो वामनादीनां मते वैदर्भी गौड़ीया पाञ्चाल्याख्या रीतिया उच्यन्ते।
काव्यप्रकाश – नवम उल्लास।

आचार्य 'अपृथक्सिद्धि' का सम्बन्ध मानते हैं। नाट्यशास्त्र के प्रणयन कर्त्ता 'आचार्य भरत' ही गुण विवेचन के भी आदि आचार्य हैं। काव्य के अन्य तत्त्वों की भाँति गुण तत्त्वों का सूत्रपात वहीं से होता है। 'आचार्य भरत' दोषों के अभाव को ही गुण स्वीकार करते हैं [1]। उनकी यह विचारधारा निषेधात्मक कहीं जा सकती है। यहाँ 'भरत' ने गुणों की भावात्मक परिभाषा न देकर अभावात्मक परिभाषा प्रस्तुत की।

'भरत' के अनुसार गुणों की संख्या दश है– कान्ति, उदारता, श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओजस, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उन्होंने गुणों को शब्द एवं अर्थ से सम्बद्ध किया [2]। उनके प्रतिपादन के अनुसार–ये शब्द तथा अर्थ के गुण हैं । इनसे शब्द और अर्थ की विशेषता प्रतीत होती है।

कालान्तर में 'दण्डी' और 'वामन' ने भी इन्हीं दश गुणों पर विवेचन प्रस्तुत किया [3(क)]। किन्तु 'भरत' से उनका मत भिन्न है। उन दोनों आचार्यों ने इन गुणों को मार्गों एवं रीतियों से सम्बद्ध किया। [3(ख)]

'दण्डी' इन गुणों को शब्द एवं अर्थ से सम्बन्धित करते हैं। किन्तु 'वामन' ने शब्द तथा अर्थ के अलग–अलग गुण स्वीकार किये। गुणों के निषेधात्मक लक्षण को परिवर्तित कर भावात्मक रूप देने का श्रेय सर्वप्रथम 'वामन' को ही प्राप्त है।

जैसा कि पूर्व में देखा गया कि 'भरत' आदि आचार्यों ने दोषों के अभाव को गुण कहा है किन्तु 'वामन' ने इसकी रूपरेखा में परिवर्तन कर दिया। उनके अनुसार काव्य की शोभा के आधायक धर्म ही गुण हैं। शब्द तथा अर्थ के वे धर्म जो काव्य की शोभा का सम्पादन करते हैं गुण नाम से अभिहित किये जाते हैं। 'वामन' के विवेचन के अनुसार–गुण शब्द और अर्थ के धर्म हैं। उनका सम्बन्ध शब्द एवं अर्थ से ही है। मूलरूप में वे ही काव्य की शोभा का आधान करते हैं। यद्यपि अलङ्कारों का भी काव्य की शोभा में स्थान है, किन्तु वे शोभा उत्पन्न नहीं करते। अपितु वे उसे अतिशयित करते रहते हैं।

---

1. गुणाःविपर्यया दोषा। ना0शा0 16–95
2. श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पद सौकुमार्यम्।
   अर्थस्य च व्यक्तिरूदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते।।
3. (क) इति वैदर्भमार्गस्य प्राणादश स्मृताः। काव्यादर्श–1–42
   (ख) विशिष्ट पद रचना रीतिः विशेषो गुणात्मा – काव्यालङ्कार सूत्र – 1–2–7–8

काव्य नाम के सार्थक होने के लिए गुणों का होना अनिवार्य है। यदि गुण नहीं है तो रचना कुछ भी हो, किन्तु काव्य नहीं हो सकती। 'वामन' के काव्य की आत्मा रीति के वे ही विशेष हैं।

इस रूप में उनका होना परम आवश्यक है। कालान्तर में ध्वनिवादी आचार्य गुणों को रस से सम्बन्धित करते हैं। किन्तु 'वामन' ने गुणों के भेद –विशेष कान्ति गुण से सम्वर्द्धित किया है।

'धाराधीश भोज' ने वामन के दश शब्दगुणों के अलावा उदात्त, ऊर्जितता, प्रेयान्, सुशब्दता, सूक्ष्मता, गम्भीरता, विस्तार, संक्षेप, संमितत्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति और प्रौढि ये चौदह अन्य गुण मिलाकर अपने गुणों की संख्या 24 कर दी।

'जयदेव' ने तो 'आचार्य भरत' के गुणों में से कान्ति नामक गुण को श्रृङ्गार रस में तथा अर्थव्यक्ति नामक गुण को प्रसाद गुण में अन्तर्भूत कर उनकी संख्या दश से घटाकर आठ कर दी । इससे यही प्रतीत होता है कि इन आचार्यों के काल में गुण विवेचन पर कोई खास ध्यान नहीं दिया गया। इनके समय तक गुण के विषय में अराजकता की सी स्थिति बनी रही।

भामह, 'मम्मट', 'आनन्दवर्धन' आदि विचारकों का सबसे महत्वपूर्ण योगदान यही रहा कि उन्होंने विस्तार–प्रसार की अपेक्षा नियमन तथा समञ्जन की प्रक्रिया का प्रयत्न ही अधिक किया।

यद्यपि 'भामह' ने ही माधुर्य ओजस्, तथा प्रसाद गुणों का नामकरण किया था, किन्तु 'आनन्दवर्धन' का विवेचन इस ओर एक युगान्तरकारी घटना है। पूर्व के सभी आचार्य गुणों का सम्बन्ध शब्द तथा अर्थ से ही सम्बद्ध किया करते हैं, किन्तु उन्होंने इसका सम्बन्ध रस से ही स्थापित किया है।

कालान्तर में 'पण्डित जगन्नाथ' ने गुण को शब्द तथा अर्थ से भी सम्बन्धित किया है। किन्तु साहित्य जगत् आनन्दवर्धन के मत को ही प्राथमिकता देता है।

आनन्दवर्धन ने रस को अङ्गी या प्रधान स्वीकार क़िया है काव्य के प्रतिपादन में सर्वप्रथम इसी की आवश्यकता होती है। प्रत्येक ध्वनिवादी की यही धारणा है। इस अङ्गी अर्थ का अवलम्ब ग्रहण करने वाले तत्त्व ही गुण हैं। जिस प्रकार शौर्य आदि गुण आत्मा के धर्म हैं – शरीर के

नहीं, वे आत्मा की ही शोभा का उपादान करते हैं। इसी प्रकार माधुर्य आदि गुण आत्मभूत रस के नित्य धर्म हैं। यदि काव्य में रस है तो वे उसी को सुशोभित करते हैं। आनन्दवर्धन का यह प्रतिपादन सभी ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्यों को मान्य है [1]।

माधुर्य, ओज, प्रसाद गुण क्रमशः चित्त की द्रुति, दीप्ति तथा व्याप्ति पर आधारित है। श्रृङ्गार रस की अनुभूति से चित्त में जो एक प्रकार की आर्द्रता का सञ्चार होता है वही माधुर्य है।

वीर रस के अनुभव से उसमें जो एक प्रकार की दीप्ति उत्पन्न होती है। वही ओजस् है और सभी रसों के अनुभव से चित्त में जो एक व्यापकत्व आता है वही प्रसाद है।[2]

मम्मट[3(क)], विश्वनाथ[3(ख)], जगन्नाथ आदि आचार्यों ने गुणों की संख्या तीन ही स्वीकार किया है। वे माधुर्य, ओजस् तथा प्रसाद को ही गुण रूप में स्वीकार करते हैं। अन्य गुण, दोष, दोषों के अभाव वैचित्र्य मात्र अथवा इन गुणों के ही स्वरूप हैं। इसीलिये इन आचार्यों ने गुणों की इस सीमित संख्या का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्यों ने आनन्दवर्धन तथा अभिनव की प्रथित सरणि का अनुसरण किया।

इस प्रकार काव्य के तत्त्वों में गुणों का कुछ अपना अलग ही महत्त्व रहा। प्राचीन मत के अनुयायियों में आचार्य भरत हैं जिन्होंने गुणों की संख्या दस स्वीकार किया। प्राचीन परम्परा की सरणि में आने वाले आचार्य वामन ने भी गुणों का विशद विवेचन किया है। प्राचीन परम्परा के सभी आचार्यों में से सबसे अधिक प्रसार आचार्य वामन के ही मत का हुआ। इन्होंने दस शब्दगुणों तथा दस अर्थगुणों को मिलाकर गुणों की संख्या बीस मानी।

'धाराधीश भोज' ने इन गुणों की संख्या 24 कर दी। इसके अतिरिक्त दण्डी, वाग्भट्ट जयदेव आदि कवियों ने भी गुण विवेचन का वर्णन किया, किन्तु कोई खास नवीनता इनके मतों में नहीं प्राप्त होती।

---

1. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः। — ध्वन्यालोक – 2/6
   अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्।।
2. रौद्रादयो हि रसाः परां दीप्तिमुज्ज्वलतां जनयन्तीति लक्षणया त एवदीप्यिरित्युच्यते।
   तत्प्रकाशनपरः शब्दोदीर्घसमास रचनालङ्कृतं वाक्यम्।। — ध्वन्यालोक
3. (क) ये रसस्याङ्गिनों धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
   उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयोः गुणाः।। — काव्यप्रकाश – 8/380 पृ0
   (ख) रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो, यथा गुणाः – — सा0दर्पण –8/1

नवीन मत के अनुयायी भामह थे , जिन्होंने गुणों के त्रित्ववाद होने का जोर दिया और पूर्ववर्ती सभी मतों की आलोचना करके गुण तीन ही हैं, ऐसा मत स्थिर किया। इसका समुचित प्रसार एवं प्रचार आचार्य मम्मट के समय में हुआ।

'आचार्य मम्मट' ने प्राचीनों के कतिपय गुणों को दोषाभाव रूप कह दिया। कुछ को ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य रूप तथा कुछ वैचित्र्य मात्र रूप प्रमाणित कर दिया और कुछ को अपने प्रसाद, माधुर्य, ओज में अन्तर्भूत कर लिया। तब से त्रिगुणवाद की परम्परा सार्थक हो आयी[1]।

'पंडित जगन्नाथ' ने भी मम्मट तथा अभिनव[2] द्वारा निर्धारित परम्परा का अनुकरण करते हुए गुणों की संख्या तीन ही स्वीकार की। काव्य में गुणतत्त्वो का कुछ एक अलग सा ही भाव है। आचार्य वामन तथा भोज ने काव्य में गुण होना अनिवार्य बताया। इनका कहना है कि – "काव्य युवती के तुल्य है, क्योंकि जैसे – युवती का रूप शील, पातिव्रत्य आदि अच्छे गुण और अच्छे अलङ्कारों के योग से अधिक आकर्षक होता है वैसे ही काव्य भी माधुर्यादि गुण तथा अनुप्रास उपमा आदि अलङ्कारों के सम्बन्ध से अधिक रूचिकर हो जाता है एवं गुण विहीन काव्य यौवन विहीन नायिका के शरीर के समान है। इससे यह सिद्ध होता है कि गुण अलङ्कारों की अपेक्षा अधिक अपेक्षित वस्तु है" [3]।

'आचार्य भोज' ने गुणों की अनिवार्यता में कुछ और कहा – "कि सालङ्कार होने पर भी गुणहीन काव्य सुनने योग्य नहीं होता, क्योंकि गुण और अलङ्कार के योग में गुण का योग प्रधान है [4]।

आचार्य मम्मट ने काव्य में अलङ्कारों की अपेक्षा गुणों के अतिशय महात्म्य का वर्णन किया उनका कहना है कि गुण रस के साक्षात् उत्कर्ष के आधायक होते हैं। गुण आत्मा के शौर्यादि धर्मों के सदृश काव्य के अङ्गभूत धर्म होते हैं।

---

1. गुणवृत्यापुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मताः। काo प्रo
2. आत्मभूतस्य रसस्यैव परमार्थतोगुणा माधुर्यादयः, उपचारेण तु शब्दार्थयोः। लोचन पृo–219
3. युवतेरिव रूपमङ्ग काव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव। –. वामन तथा भोज का कथन–
   विहित प्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कार विकल्पनाभिः।।
4. अलङ्कृतमपि श्रृव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्। – सरस्वती कण्ठाभरण
   गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालङ्कार योगयोः।।

अग्निपुराणकार का कथन है –कि काव्य में विपुल शोभा को जन्म देने वाली वस्तु शब्दगुण, उत्कृष्ट बनाने वाली वस्तु अर्थगुण, तथा शब्द एवं अर्थ दोनों का उपकारक वो शब्दार्थोभय गुण है।

दण्डी ने कहा – जो वस्तु विशिष्ट रचना का प्राण हो वही गुण है। 'वामन' का कथन है – कि काव्य शोभा के कारक धर्मगुण कहलाते हैं [1]।

इस प्रकार गुण तीन ही हैं – उसके मूल में कोमल, कठोर और स्पष्टार्थक यह रचना की त्रिविधता ही है। इससे यह निश्चय हुआ कि कोमल रचनायुक्त रसास्वादन से चित्त द्रुत होता है, कठोर रचनायुक्त रसास्वादन से चित्त उद्दीप्त होता है और स्पष्टार्थक रचनायुक्त रसास्वाद से चित्त विकसित होता है।

इस प्रकार गुण अंगी है काव्य के तत्त्वों में उसकी महत्ता अत्यन्त आवश्यक है। काव्य में गुणों का रहना काव्य के सार्थक एवं सफल होने का प्रभाव है। गुणविहीन रचना काव्य नहीं हो सकती।

औचित्य तत्त्व – ईसा की एकादश शताब्दी के आरम्भ तक संस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में काव्य के विभिन्न तत्त्वों यथा रीति, अलङ्कार, गुण, रस, वृत्ति इत्यादि विविध तत्त्व प्रतिष्ठित हो चुके थे, किन्तु फिर भी काव्य के आधारभूत तत्त्व के सम्बन्ध में कोई एक सर्वमान्य निर्णय नहीं हो सका था। रस, अलङ्कार, गुण इत्यादि तत्त्व अपने–अपने मतो को प्रमुखता देते थे। तथा अन्यों के मत को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते थे। ऐसी स्थिति में काव्य के सामान्य अध्येता के सामने यह समस्या थी कि वह किसके मत को स्वीकार करे और किसके मत को अस्वीकार करे।

ठीक इसी समय 'आचार्य क्षेमेन्द्र' ने औचित्य नामक काव्य तत्त्व की स्थापना कर इस मत को सुलझाने का गहरा प्रयास किया। उन्होंने कहा कि काव्य में रस, गुण, अलङ्कार, छन्द, वृत्ति इत्यादि सभी तत्त्वों का महत्त्व है, किन्तु उसी अवस्था में जबकि ये सभी तत्त्व औचित्य से समन्वित हो। औचित्य के अभाव में ये सभी तत्त्व व्यर्थ हैं।

---

1. काव्यशोभायाः कर्तारोधर्माः गुणा तदिशयहेतवस्त्वलङ्काराः। काव्यालङ्कार सूत्र – वामन

यद्यपि औचित्य को एक पृथक काव्य तत्त्व के रूप में स्थापित करने का श्रेय 'आचार्य क्षेमेन्द्र' को ही है। किन्तु इनसे पूर्व भी अनेक आचार्य इसकी चर्चा सामान्य रूप से कर चुके थे। नाट्यशास्त्र के प्रणेता 'आद्याचार्य भरत' ने यद्यपि 'औचित्य' शब्द का स्पष्ट प्रयोग तो नही किया लेकिन उन्होंने नाट्य के प्रत्येक वृत्ति, प्रवृत्ति, भाषण आदि तत्त्वों के उपनिबन्धन में औचित्य का निरूपण किया है।

आचार्य क्षेमेन्द्र का निम्न श्लोक आचार्य भरत के अधोलिखित कथन का ही अनुवाद मात्र है[1]। तात्पर्य यह है कि यद्यपि भरत ने औचित्य शब्द का प्रयोग नहीं किया फिर भी 'औचित्य तत्त्व' चिंतन की ओर स्पष्ट ही मार्ग–निर्देश, वृत्तियों, प्रवृत्तियों, भाषा, अभिनय, लक्षण, गुण, अलङ्कार आदि सभी के औचित्यानुकूल रसाश्रित प्रयोग का विधान प्रस्तुत कर किया है[2]।

इस प्रकार 'भरत' के अनन्तर आलङ्कारिक 'आचार्य भामह' ने भी यद्यपि स्पष्ट रूप से औचित्य का प्रतिपादन नहीं किया फिर भी उनके दोषों के वर्णन में अनौचित्य का ही वर्णन है। वे दुष्ट एक पद का भी प्रयोग नहीं स्वीकार करते [3]।

इस प्रकार जब वे कुछ दोषों की किन्हीं सन्निविशेष आदि विशेष परिस्थितियों में अदोषता का प्रतिपादन करते हैं तो निश्चय ही उसका नियामक औचित्य ही है। काव्य को अग्राम्य होना चाहिए और काव्य में निश्चित ही, ग्रम्यता, अन्यायता और आकुलता औचित्य के परित्याग से आती है।

'आचार्य भरत' की इसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए 'आचार्य दण्डी' काव्य में अनौचित्य रूप दोष की स्थिति कथमपि स्वीकार नहीं करते हैं।

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्यादवपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।। दण्डी–काव्यादर्श – 1/7

---

1. कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नूपुरबन्धनेन, चरणे केयूर पाशेन वा।
शौर्येण प्रणते, रिपौकरूणया नायान्ति के हास्यातां
औचित्येन बिना रूचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः।। औचित्य विचार चर्चा–पृ0 7
2. अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यैवोपजायते।। ना0 शा0–
3. सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते।। भामह–काव्यालङ्कार – 1/11

आचार्य दण्डी का कहना है कि – वाणी कामधेनु होती है, कब उसका सम्यक् प्रयोग किया जाता है यह सम्यक् प्रयोग निश्चित ही औचित्य का प्रतिपादक है। यदि वाणी वाणी का दुष्प्रयोग हुआ तो वही वक्ता या प्रयोक्ता को बैल बना देती है[1]।

समस्त अलङ्कारों के होते हुए भी यदि ग्राम्यता अथवा अनौचित्य रहा तो अलङ्कारों का अलङ्कारत्व ही बेकार है। वे रस निष्पत्ति नही करा सकते।

इसके अतिरिक्त 'दण्डी' का कव्यदोषों का तृतीय परिच्छेद में किया गया वर्णन उनके औचित्य विषयक मन्तव्य को ही व्यक्त करता है। देशकाल आदि के विरोध रूप दोषों का वर्णन करते हुए उन्होंने देशादिक के औचित्य का निरूपण तो किया ही रसादि विषयक औचित्य की ओर भी उन्होंने स्पष्ट ही कला विशेष के अन्तर्गत निर्देश किया है। लेकिन यह समग्र विरोध रूप दोष कवि कौशल के बल से कभी दोष गणना को त्यागकर गुण वीथी का अनुसरण भी करने लगता है। स्पष्ट ही ऐसा कहकर वे 'आनन्द' आदि के मार्गनिर्देशक बनते हैं। आनन्दवर्धन का कथन है –

"यत्त्वेवं विधे विषये महाकवीनामप्य समीक्ष्य कारिता लक्ष्ये दृश्यते स दोष एव।
स तु शक्तितिस्कृतत्वात् तेषां न लक्ष्यते।।" ध्वन्यालोक – तृतीय उद्योत–पृ0–192

'आचार्य वामन' भी 'औचित्य' का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं करते परन्तु दोषादि की काव्य में त्याज्यता का निरूपण कर औचित्य को समर्थन देते हैं। काव्य को उपादेय बनाने वाला अलङ्कार या सौन्दर्य अलङ्कारों या गुणों के उपादान के साथ–साथ दोषों के परित्याग से सम्पन्न होता है[2]।

बल्कि यह भी कहना अनुचित न होगा कि 'वामन' की दृष्टि में गुणों एवं अलङ्कारों के उपादान की अपेक्षा दोषों अथवा अनौचित्य का परित्याग कहीं अधिक अपेक्षित है। इसलिए सूत्र में उसका सर्वप्रथम उपादान किया गया है।

'आचार्य रूद्रट' प्रथम आचार्य है जिन्होंने औचित्य का शब्दतः प्रयोग करने के साथ–साथ काव्य के क्षेत्र में औचित्य की प्रधानता का स्पष्ट रूप से निर्देश किया है।

---

1. कामं सर्वोऽव्यलङ्कारो रसमर्थे निषिञ्चतु।
तथाऽप्यग्राम्यतेवैनं भारं वहति भूयसां।। काव्यादर्श–
2. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौंदर्यमलंकारः। स दोषगुणालंकारहाना दानाम्या। का0सू0वृ0 1/1/1–3–

काव्य की कारणभूता व्युत्पत्ति ही युक्तायुक्त अथवा उचित–अनुचित की विवेकरूपा है। छन्द, व्याकरण कला, पद–पदार्थ के विशिष्ट ज्ञान से उचित और अनुचित का विवेक ही व्युत्पत्ति है। परूषा आदि वृत्तियों का प्रयोग पात्रगत तथा अभिधेयगत औचित्य के अनुसार होना चाहिए। यमकादि अलङ्कारों का प्रयोग औचित्य का सम्यक् विचार करने के अनन्तर ही करना चाहिए क्योंकि यमकादि सरस काव्यों में विशेषतः श्रृङ्गार और करूण रस युक्त काव्यों में प्रयुक्त होकर रसभंग कर देते हैं।

अतः उनका प्रयोग औचित्य को ध्यान में रखते हुए ही करना चाहिए। उनका पदगत ग्राम्यादोष वक्ता और वस्तु विषयक अनौचित्य के कारण ही प्रस्तुत होता है।

यह बात अवश्य है कि – वे रसौचित्य का उतना सूक्ष्म विवेचन नहीं करते जितना कि आनन्द ने किया है। पर निश्चित ही आनन्दवर्धन के मार्गनिर्देशक 'रूद्रट' ही रहे होंगें। अन्य रस के प्रसङ्ग में अन्य रस का प्रसङ्ग विरूद्ध प्रयोग रसविषयक अनौचित्य को प्रस्तुत करता है।

वैदर्भी आदि रीतियों का रसों में प्रयोग औचित्य के अनुरूप ही होना चाहिये। जैसे वैदर्भी और पाञ्चाली को प्रेयस्, करूण, भयानक, और अद्भुतरस में, लाटीया, गौड़ीया का रौद्ररस में प्रयोग होना चाहिए। इस प्रकार अलंङ्कारों, रसों, रीतियों तथा वृत्तियों के सम्यक् प्रयोग की बात कहकर अनेकशः 'रूद्रट' औचित्य का ही प्राधान्य प्रतिपादित करते हैं। और ठीक भी है औचित्य के बिना काव्य क्या? कहीं भी सौन्दर्यानुभूति नहीं हो सकती।

'रूद्रट' के इस औचित्यविषयक विवेचन से स्पष्ट है कि क्षेमेन्द्र का औचित्य सिद्धान्त के निरूपण में वस्तुतः कोई भी मौलिक चिंतन विषयक योगदान नहीं है।

'रूद्रट' के बाद काव्य में औचित्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा आनन्दवर्धन ने की, यहाँ तक कि उनका –

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्यकारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा।। ध्वन्यालोक – पृ0 190

उक्त कथन उनके परवर्ती आचार्यों के लिए उपनिषद् वाक्य सिद्ध हुआ। उन्होंने वर्ण से लेकर प्रबन्ध–पर्यन्त औचित्य का सम्यक् निरूपण किया। 'श्री आनन्द' के मत मे तो अनौचित्य ही रसभङ्ग का प्रमुख कारण है। औचित्य के अभाव में रस का परिपाक काव्य में नहीं हो

सकता। औचित्य ही रस का परम–रहस्य, परा उपनिषद है। अधिक क्या कहा जाय छोटे–मोटे कवियों की तो बात तो दूर महाकवियों का मुख्य कर्म ही उन्होंने रसादि विषयक के अनुसार शब्द और अर्थ के औचित्य पूर्ण प्रयोग को स्वीकार किया है[1]।

इनके द्वारा ही 'औचित्य' की काव्य के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में स्थापना कर देने के अनन्तर किसी भी परवर्ती आचार्य को उसका विरोध करने का साहस नहीं हुआ।

आनन्दवर्धन के पश्चात् राजशेखर ने रूद्रट की भांति काव्य की जननी व्युत्पत्ति को उचित और अनुचित की विवेकरूप प्रतिपादित किया। साथ ही काव्यपाक का कारण रसोचित शब्दार्थ की सुन्दर उक्ति को स्वीकार कर आनन्दवर्धन को समर्थन दिया [2]।

आचार्य कुन्तक ने अपने वक्रोक्ति सिद्धान्त में 'औचित्य की महनीय प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण बनाये रखा। उनकी वक्रता यदि काव्य का जीवित है तो वक्रता का प्राण है औचित्य बिना औचित्य के वक्रता सम्भव नही। कुन्तक के अनुसार – जिस उक्ति वैचित्र्य के द्वारा वस्तु के स्वभाव का उत्कर्ष स्पष्ट ढंग से परिपोष को प्राप्त करता है और जिसका प्राण उचित कथन होता है उसे औचित्य कहते हैं क्योंकि औचित्य के अनुरूप ही अलङ्कार अर्थात् वक्रोक्ति का विन्यास सौन्दर्य का संवहन करता है। साथ ही जहाँ पर वक्ता या प्रमाता के शोभातिशायी स्वभाव के द्वारा अभिधेय वस्तु आच्छादित हो जाती है वहाँ भी औचित्य ही होता है[3]।

इस प्रकार जहाँ आनन्दवर्धन ने औचित्य की दृष्टि से प्रधानता रस को प्रदान की थी और औचित्य का विवेचन प्रधानतया रस की दृष्टि से किया था वहाँ कुन्तक ने सर्वोपरि प्राधान्य स्वभाव को दिया। वस्तुतः कुन्तक के इस स्वभावौचित्य में ही रस, गुण, अलङ्कार सभी का औचित्य निहित है। क्योंकि काव्य का वर्ण्यविषय प्रधानतया किसी वस्तु का स्वभाव ही होता है, कवि का परम कर्त्तव्य उसी वस्तु स्वभाव की सम्यक् परिपुष्टि करना होता है। वही स्वभाव वर्णन सरस, सगुण और सालङ्कार हुआ करता है। अतः उसी के औचित्य में काव्य के समग्र तत्त्वों का

---

1. वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
   रसादि विषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः।। — ध्वंन्यालोक तृतीय उद्योत – 32 कारिका
2. तस्माद्रसोचित शब्दार्थसूक्ति निबन्धनः पाकः। — काव्यमीमांसा – पृ0 75
3. 'वक्रोक्ति जीवित' – 1/53 तथा वृन्ति।

औचित्य निहित है। उस प्रस्तुत वस्तु की ही प्रतीति कभी रसपरिपोष से पेशल होती है, कभी अलङ्कार परिपोष से, लेकिन जब वस्तु स्वभाव की प्रतीति रस परिपोष से पेशल होती है उस समय उसकी रमणीय ढंग से प्रतिपत्ति विभावों, अुनभावों एवं व्यभिचारिभावों के औचित्य से व्यतिरिक्त किसी अन्य प्रकार के द्वारा सम्भव नहीं यह कुन्तक का स्पष्ट कथन है[1]।

कुन्तक के पश्चात् क्षेमेन्द्र ने औचित्य का विधिवत् विवेचन किया। क्षेमेन्द्र के मत में औचित्य रस का जीवित भूत तत्त्व है। इसी से काव्य में सौन्दर्य की वृद्धि होती है।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य की व्यु्त्पत्ति बतलाते हुए कहा है कि "जिस वस्तु का जिस वस्तु से संगति–सादृश्य हो उसे उचित कहते हैं और उचित का भाव ही औचित्य है[2]। अलङ्कार, गुण, रस आदि औचित्य रूपी सूत्र में ही ग्रथित है। उसके अतिरिक्त क्षेमेन्द्र ने औचित्य की व्यापकता बतलाने के लिए पद, वाक्य, देश,काल, के साथ क्रिया/कारक/वचन/लिंग आदि का काव्यदृष्ट्या औचित्य और इनके अभाव में अनौचित्य की साङ्गोपाङ्ग एवं बड़ी हृदयङ्गम चर्चा की है।

काव्य के समग्र घटकों में औचित्य का महत्त्व पण्डित बलदेव उपाध्याय ने अपने संस्कृत– साहित्य के इतिहास में दिखलाया है।

किन्तु जो स्थिति काव्य मे अलङ्कार, रीति, गुण आदि की है, वही स्थिति औचित्य की है। इसपरिपोष के लिए अपरिहार्य गुण होने पर भी वह गुण की स्थिति में ही सीमित है। वह गुणी नहीं बन सकता। वह काव्यतत्त्व का एक अङ्ग है, अङ्गी नही। वह उसके सौन्दर्य का एक घटक है, धर्म है, धर्मी नहीं। इस बात को दृष्टि से ओझल नहीं करना चाहिए। गुण या धर्म को गुणी या धर्मी का आत्मभूत स्थान नहीं मिल सकता। औचित्य में आखिर प्रकार का ही तो महत्त्व होता है। अर्थात् अभिव्यक्ति के लिए शब्दार्थ रीति की योजना पर ही तो ध्यान दिया जाता है।

---

1. "रसपरिपोषपेशलायाः प्रतीतेर्विभावानुभाव व्यभिचार्यौचित्य
   व्यतिरेकेण प्रकारान्तरेण प्रतिपत्तिः शोभापरिहारकारितामवहति" — व0जी0–पृ0 137
2. उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
   उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।। — औचित्यविचारचर्चा –

इसलिए औचित्य काव्य का जीवित नही हो सकता। यद्यपि क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का आत्मा कहीं नहीं कहा है, फिर भी जीवित कहने से उसका आत्मा से ही तात्पर्य है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने कहा है –

औचित्यस्य चमत्कारकारिणि चवारूचर्वणे।
रस जीवितभूतस्य विचारं कुरूतेऽधुना।।   औचित्यविचारचर्चा –

इस प्रकार औचित्य तत्त्व वस्तुतः कोई अलग सिद्धान्त अथवा सम्प्रदाय न होकर गुण, अलङ्कार, रस आदि विभिन्न काव्याङ्गों को परिष्कृत एवं उपादेय बनाने का हेतु मात्र है।

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के आत्मतत्त्व अथवा मूलतत्त्व की खोज सदा से होती रही है। काव्य में औचित्य के महत्त्व के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि काव्यशास्त्र में औचित्य की प्रतिष्ठा से एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति हुई। एक ओर तो इससे अलङ्कारवादियों, रीतिवादियों एवं वक्रोक्तिवादियों की अति चमत्कारवादी प्रवृत्तियों के नियंत्रण में योग मिला, दूसरी ओर काव्य में स्वाभाविकता को अत्यधिक सम्मान प्राप्त होने लगा।

'आचार्य क्षेमेन्द्र' ने यह स्पष्ट कर दिया कि केवल अलङ्क़ार और रीति का प्रयोग काव्य के सौन्दर्य के बढ़ाने में सहायता तो देता नहीं, अपितु उसे ठेस भी पहुँचा सकता है। औचित्य का विचार प्रारम्भ से ही अलङ्कारशास्त्र में किसी न किसी रूप में मिलता ही है, किन्तु उसे स्वतंत्र सत्ता के रूप में समस्त काव्य तत्त्वों में ग्रथित करते हुए व्यापक रूप से चर्चा करने का श्रेय क्षेमेन्द्र को ही है। औचित्य विचार का 'सूक्ष्मतंतु' भरत नाट्यशास्त्र में ग्रथित है। भरत प्रणीत् सूत्र के आधार पर औचित्य का महत्त्व प्रतिपादन करते हुए उचित वस्तु के और अनुचित वस्तु के सन्निवेश से क्रमशः क्या उपादेयता और क्या अनुपादेयता होती है, सुन्दर ढंग से विवेचन किया[1]।

आचार्य भरत ने यह प्रतिपादित किया कि जैसा पात्र हो उसी के अनुरूप उसकी भाषा व चरित्र आदि भी होने चाहिये।

औचित्य के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए 'आचार्य मम्मट' ने कहा – कि औचित्य के कारण गुण भी दोष या दोष भी गुण बन सकता है। अतः उसके आधार पर गुण दोषों की परीक्षा की जा सकती है।

---

1. वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषः वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।   – नाट्यशास्त्र
गतिप्रचारानुगतं च पाठ्य पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः।।

इस प्रकार औचित्य एक विधेयात्मक तत्त्व है यही समस्त सौन्दर्य का मूल है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य का प्रतिपादन सर्वत्र काव्य–सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लक्ष्य से ही किया है। उनके अलङ्कार, गुण, रीति, रस आदि का ऐसा आयोजन जो काव्यत्व के विरूद्ध पड़ता उनके द्वारा निषिद्ध घोषित किया गया। औचित्य के द्वारा रस और अधिक आस्वादनीय बनकर सब हृदयों में व्याप्त हो जाता है। इसलिए आचार्य क्षेमेन्द्र औचित्य रूप काव्यात्मा की चर्चा रससिद्धि के ही प्रकाश में करते हैं। क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का जीवित तत्त्व कहा है, किन्तु जीवित से तात्त्पर्य आत्मा से नहीं है अपितु इसका तात्पर्य है " किसी काव्याङ्ग को उपादेय बनाने के हेतु" से है[1]।

इस प्रकार काव्य के शोभाधायक तत्त्वों में औचित्य की सर्वोपरि महत्ता सिद्ध होती है। औचित्य काव्य का प्राण होता है। उसका उद्देश्य नूतन औचित्य से युक्त सौन्दर्य की प्राप्ति कराना।

रस तत्त्व – (रसध्वनि) – संस्कृत साहित्यशास्त्र में अनेक विद्वानों की अनुपमकृतियां विद्यमान हैं जिन्होंने अपनी प्रखर एवं तीक्ष्ण प्रतिभा से इस साहित्य को गौरवान्वित किया। किन्तु एक ही तत्व को देखने में प्रत्येक मनीषी की अपनी स्वतंत्र विचारधारा रही है। सभी ने अपने ही ढंग से विवेचन प्रस्तुत किया है। यही कारण है कि एक ही तत्त्व के चिंतन में भी विविध विद्वानों में मतैक्य नहीं रहा।

काव्य में सौन्दर्याधायक तत्त्व को लेकर काव्यर्ममज्ञ[2] विद्वज्जनों में बड़ा वितर्क रहा। कोई रस को चमत्कार जनक तत्त्व मानता है तो कोई अलङ्कार को, तो कोई औचित्य को , कोई, ध्वनि को , कोई रीति को। किन्तु सभी विवादों का पर्यवसान कहीं न कहीं अवश्य ही होता है। साहित्य में इस तरह के विवाद अधिक समय तक चलते रहे, किन्तु एक समय ऐसा भी आया जब उनका उपशमन हो गया और सामान्यतः आचार्यों ने ध्वनि को और विशेषतः रस ध्वनि को ही सर्वप्रधान तत्त्व घोषित किया।

---

1. औचित्यं रससिद्धस्यस्थिरं काव्यस्य जीवितम्। औ0 चर्चा0

वर्तमान काल में प्रायः सभी आचार्य रस का महत्त्व मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं एवं काव्य में चमत्काराधायक तत्त्व के रूप में रस को ही प्रधानता प्रदान करते हैं। रस ही प्रधान तत्त्व है जिससे काव्य आह्लाद बन सकता है। गुण, अलङ्कार, रीतियां इत्यादि काव्य के तत्त्व तो गौण हैं सहृदय[1] ग्राह्य होने के लिए अलङ्कारादिकों का नही अपितु रस का होना परम आवश्यक है। रस की प्रतिष्ठित नाट्यशास्त्र में उस समय से ही थी जब काव्यशास्त्र के चिन्तन का आरम्भ हो रहा था।

रूद्रट के काव्यालङ्कार में पहली बार सविस्तार काव्यरस के दर्शन होते हैं। रूद्रट के थोड़े ही समय बाद 'आनन्दवर्धन' काव्यशास्त्र के चिन्तन में आये और उन्होंने ध्वनि को काव्य के 'जीवित' रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने रस का विन्यास ध्वनि के सुष्ठुतम भेद में किया।

रूद्रट ने पहली बार काव्यक्षेत्र में रस को ले आकर अलङ्कार और रस की प्रतिद्वन्द्विता पैदा कर दी। ध्वनिसिद्धान्त ने इस प्रतिद्वन्द्विता में रस को जबर्दस्त सहायता पहुँचाकर अलङ्कार को मर्माहत कर दिया और काव्य की आत्मा ध्वनि को (न केवल रस ध्वनि को ही) सर्वोपरि प्रतिष्ठित कर गुण, अलङ्कार, रीति , वृत्ति आदि सभी को उसी में अन्तर्भूत कर गये थे।

प्राचीन आचार्यों ने काव्य की आत्मा के रूप में 'रस' की स्थापना की है। रस ही काव्य में मुख्य तत्त्व होता है। सौन्दर्य का आधान करने वाला तत्त्व रस ही होता है इसलिए इस रस को आचार्यों ने 'ब्रह्मानन्द सहोदर' होने की कल्पना की है।

यह 'रस' है क्या – ? रस्यते आस्वाद्यते इति रसः। जिसका रस या आस्वाद लिया जाय, वह रस है। यद्यपि रस शब्द का प्रयोग वैदिक काल से ही होता चला रहा है। किन्तु काव्य में उत्कृष्ट महत्त्व प्राप्त रस एवं वेदादि में प्रयुक्त रस में महान् भेद है। काव्य का रस उन सभी अर्थों से सर्वथा भिन्न है जो वैदिक साहित्य में प्रयुक्त रस शब्द से ग्रहण किये जाते हैं[2]। काव्य का रस सहृदयों के हृदय को अलौकिक रूप से आनन्दित करता है।

संस्कृत साहित्य के काव्यों में इसरस का महनीय महत्त्व है। नाट्यशास्त्र के प्रणयनकर्त्ता भरत से लेकर अनेक मनीषियों ने नाटकों एवं काव्यों में रस की महत्ता स्वीकार की[3]।

---

1. येषां काव्यानुशीलनाभ्यास वशादविशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीय तन्मयी भवन योग्यता ते स्वहृदय संवादभाजाः सहृदयाः। — ध्वन्यालोक लोचन पृ0 38–39
2. रसो वै सः – — तैत्तिरीयोपनिषद, ब्रह्मानन्दबल्ली
3. (क)नहि रसादृतेकश्चिदर्थः प्रवर्तते। — नाट्यशास्त्र प्रभम भाग पृष्ठ 272
3. (ख)अवस्थानुकृतिर्नाट्यम् रूपं दृश्यत्तयोच्यते
रूपकं तत्समारोपात् दशधैव रसाश्रयम्।। — दशरूपक – 1– 7

'भरत' ने अपना समस्त विवेचन नाट्य की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया है। सम्भवतः उस समय नाट्य ही काव्य का प्रमुख अङ्ग था। उस समय काव्य के अन्य भेदों की रचना नहीं हुई थी। – ''अभिनव' ने रस के लिए नाट्य की परिभाषा ग्रहण की है। नट के द्वारा किये जाने वाले, अभिनय के प्रभाव से प्रत्यक्ष सा दिखाई देने वाला, एकाग्रमन की निश्चलता के कारण , अनुभव होने वाला समस्त नाटकों एवं किसी–किसी काव्यविशेष से प्रकाशित होने वाला अर्थ नाट्य है। नायक तथा सामाजिक को चित्तवृत्ति के तादात्मक होने के कारण ही अनुमान तथा आगम एवं योगि प्रत्यक्ष से उत्पन्न तटरूप प्रमाता एवं प्रमेय से विलक्षण तथा परकीय लौकिक चित्तवृत्ति से भिन्न रूप से प्रेरित होने वाली अपने परिमित स्वरूप के आश्रय से प्रतीत न होने के कारण लौकिक प्रमदादि से उत्पन्न रति और शोक के समान, अन्य चित्तवृत्ति के उत्पादन में अक्षम होने से ही निर्विध्न अनुभूति की विश्रान्तिरूप आस्वाद नाम से कहे जाने वाले व्यापार के द्वारा ग्रहीत 'होने के कारण' रस शब्द से कही जाती है। रस सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य नन्दिकेश्वर को ही बताया गया है। रस के विषय में सबसे प्राचीन विवेचन भरतकृत नाट्यशास्त्र में ही स्थित है । आचार्य भरत का सुप्रसिद्ध रससूत्र परवर्तीकाल में रस विवेचना का आधार रहा। 'भरत' ने कहा कि रस के बिना नाट्य का कोई अर्थ नहीं।

'आचार्य भामह' ने रस को काव्य में 'अनिवार्य तत्त्व' के रूप में विवेचित किया। काव्य का मुख्यरूप भावानुभूति या रसानुभूति है। आचार्य भामह ने रस की सत्ता अलङ्कार रूप में ही स्वीकार की। श्रृङ्गारादिको का स्पष्ट प्रतिपादन ही रसवद् अलङ्कार है।

आचार्य दण्डी ने भी रस को अलङ्कार रूप में स्वीकार किया दण्डी ने आठ प्रकार के रसवद् अलङ्कार स्वीकार किये हैं[1]। अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की सरणि का अनुसरण कर उद्भट ने भी रसवत् प्रेय, ऊर्जिस्व, अलङ्कारों का प्रतिपादन किया। इसी कारण आचार्य रूय्यक ने रस को महत्त्व प्रदान किया।

संस्कृत साहित्य के आलङ्कारिकों में भरत के पश्चात् रूद्रट प्रथम आचार्य हैं जिसने रसों का समुचित एवं सम्यक् विवेचन किया[2]। य़पि रूद्रट के पूर्व अन्य आचार्यों ने रस पर दृष्टिपात अवश्य किया, किन्तु उनकी विचारधारा के अनुसार वह अलङ्कार मात्र था। यही दशा अधिक काल तक अक्षुण्ण बनी रही। रूद्रट प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने रस को अलङ्कार की श्रेणी से बाहर निकाला और काव्यशास्त्र में एक स्वतंत्र स्थान निर्धारित किया।

---

1. इह त्वष्टरसयत्ता रसवत्ता समृता गिराम्। — काव्यादर्श–श्लोक 292
2. श्रृङ्गारवीर करूणभयानकाद्भुताः हास्यः।
   रौद्रः शान्तः प्रेयानिति मन्तव्या रसा सर्वे।। — काव्यालङ्कार – 15 – 3

भामह, दण्डी इत्यादि अलङ्कारवादियों ने रस तत्त्व को महाकाव्य के लिए आवश्यक तत्त्व के रूप में स्वीकृत किया।

यह 'रस' वह तत्त्व है जिसके बिना विभावादि का बुद्धि में अवगम सम्भव नहीं। इसके बिना आनन्दपूर्ण ज्ञान रूप प्रयोजन नहीं बन सकता है। सामाजिक वर्ग की भी रस के प्रति असीम निष्ठा होती है। वह रस को ही आदर की दृष्टि से देखता है। उसके आनन्द की एक मात्र विश्रान्ति रसात्मक प्रतीति से ही होती है। विभावादि की प्रतीति रस के अभाव में सम्भव नहीं। अतः नट तथा सामाजिक सभी के अभिप्राय से रस की ही प्रधानता है।

इस प्रकार अलौकिक तथा निर्विघ्न संवेदन रूप चर्वणा का विषय बनाया गया रत्यादि रूप स्थायिभाव से विलक्षण अर्थ ही 'रस' है[1]। इस रस की एक मात्र सारवस्तु चर्वणा है। यह सिद्ध स्वभावनहीं है रस प्रतीति तात्कालिकी ही होती है। यह चर्वणा अलौकिक विभावों के संयोग से होती है। चर्वणा का उपयोगी विभावादि का यह व्यापार अलौकिक ही है। किसी अन्य स्थल पर इसका न प्राप्त होना उसकी अलौकिकता का भूषण ही है दूषण नहीं। आशय यह है कि–रत्यादि स्थायीभाव वैयक्तिक लिङ्ग भेद से बहुत ऊपर उठ जाता है और दर्शक का व्यकितगत हृदय विशुद्ध मानव हृदय या लोक हृदय में लीन हो जाता है।

यह शक्ति वेदशास्त्र इत्यादि में नहीं होती यह ही साधारणीकरण की प्रक्रिया है। रस सिद्धान्त ऐसा चक्रव्यूह है जिससे बाहर निकलना बहुत दुष्कर है। रसात्मकता या रागात्मकता ही एक ऐसी वस्तु है जो काव्य साहित्य को इस नाम का अधिकारी बनाती है। काव्य का चरम तत्त्व रस ही है, क्योंकि उसका परिणाम सहृदयों की रस चर्वणा या रसानुभूति ही है। इस रस का आस्वादन बाह्येन्द्रियों से सम्भव नहीं इसका उपयुक्त रसनेन्द्रिय साहित्यकों का अन्तरिन्द्रिय है। अनुभूति प्रवणचित्त है।

भारतीय साहित्य में 'आनन्द' का प्रतिशब्द रस ही है। रस कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है। भाव की प्रबलता से हमारी अनुभूति जो आस्वादन की क्रिया करती है, आस्वाद की वही अवस्था रसावस्था है। इस प्रकार अनेक आचार्यों ने रस के अनेक लक्षण किये। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवित स्वीकार करते हुए भी रस को काव्य का अमृत एवं अन्तश्चमत्कार का वितानक मानते हुए प्रकारान्तर से इसे सर्वप्रमुख काव्य प्रयोजन के रूप में घोषित किया।

---

1. विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रस निष्पत्तिः। ना0शा0 प्रथम – पृष्ठ 272

आचार्य 'अभिनव' का कहना है कि – शब्दों में समर्पित होने और हृदय संवाद से अर्थात् एकरूपता द्वारा सुकर होने पर विभाव और अनुभाव से सामाजिकों के चित्त में पहले से ही वर्तमान रति आदि वासना उद्‌बुद्ध होती है। उस वासना के अनुराग से सुकुमार होने पर निजसंवित् अर्थात् ज्ञान के आनन्द की चर्वणा के व्यापार का जो रसनीय रूप है, वही रस है[1]।

आचार्य 'आनन्दवर्धन' ने ध्वनि (रसध्वनि) को काव्य विशेष कहकर उसे काव्यात्मा घोषित किया। आनन्दवर्धन ने ध्वनि का प्रयोग इसे व्यापक रूप में, शब्द, अर्थ, वस्तु, अलङ्कार, रस जिसकी व्यञ्जना हो सभी के लिए प्रयुक्त किया।

आनन्द ने रीति और अलङ्कार की व्यापकता का निराकरण करते हुए उसे ध्वनि के अन्तर्गत समाहित कर लिया और रस को ध्वनि का सर्वोत्तम भेद घोषित करके रस को महत्तम स्थान प्रदान किया। 'आनन्द' ने काव्य के सब विशिष्ट तत्त्वों को ध्वनि में समाहित करने के उद्देश्य से रसध्वनि के साथ–साथ अलङ्कार ध्वनि और वस्तुध्वनि की कल्पना की।

गुण अलङ्कार, रीति, वृत्ति, आदि काव्य तत्त्व वाच्यार्थ द्वारा मन को आह्लाद नहीं करते अपितु वे सब ध्वन्यर्थ के सम्बन्ध से उसी का उपकार करते हुए अपना अस्तित्त्व सार्थक करते हैं। गुणों का सम्बन्ध रस के साथ उसी प्रकार होता है जैसे – शौर्यादि का आत्मा के साथ। अलङ्कारों की स्थिति आभूषण जैसी है जो अनित्यरूप से शरीर की शोभा को बढ़ाते हुए अन्ततः आत्मा की ही शौर्यवृद्धि करते हैं। गुण रस के उत्कर्षक धर्म घोषित किये गये और रीति को पद संघटना मानकर रस की उपकर्त्री के रूप में स्वीकृत किया गया[2]।

'आनन्द' ने सभी आचार्यों को (रसध्वनि) रस की ओर अधिक प्रवर्तित रहने का आदेश दिया[3]।

वस्तु, अलङ्कार, गुण, रीति, वक्रोक्ति प्रभृति काव्य तत्त्वों की अपेक्षा रस ही काव्य का एक ऐसा काव्यतत्त्व है जो व्यापक रूप से उन सभी स्थलों में विद्यमान रहता है।

---

1. शब्द समर्पय्माण हृदय संवादसुन्दरविभावानुभाव समुचित प्राग्विनिविष्टरत्यादि वासनानुराग सुकुमार स्वसंविदानन्द चर्वणाव्यापार रसनीयरूपो रसः। स काव्य व्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति, स च ध्वनिरेवेति स एव मुख्यतयात्मेति। ध्वन्यालोक लोचन – पृ0 50
2. ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादयइवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युश्चल स्थितयोः गुणाः।। काव्यप्रकाश – 8/पृ0 380
3. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्दवियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।। ध्वन्यालोक 1/5

यह रसध्वनि ऐसा तत्त्व है जो काव्य में स्फुट या अस्फुट रूप में विद्यमान रहता है। रस–ध्वनि की सर्वग्राह्य का मुख्य कारण यह है कि ध्वनि की इसमें इतनी व्यापक परिकल्पना है कि परवर्ती औचित्य वक्रोक्ति आदि भी इसकी सीमा से बाहर नहीं जा सकते। इसलिए आनन्द ने रसध्वनि को अनिवार्य तत्त्व माना। काव्य में ध्वनि को रमणीय, सरस, एवं व्यङ्ग्य होना चाहिए।

ध्वनि एक नितान्त आन्तरिक तत्त्व है, क्योंकि ध्वनिकार को कविताकामिनी का यह बाह्यालङ्करण शोभाधायक न लगा। उन्होंने काव्य के अन्तस्तल में प्रवेश किया। उसके मर्म को पहचाना और उसके सौन्दर्य के रहस्यमय मूल को खोज निकाला। उन्होंने काव्य के रमणीयतत्त्व की तुलना नारी के अङ्गों में रहने वाले किन्तु उनसे सर्वथा भिन्न लावण्य नामक तत्त्व से की। इसी तत्त्व का नाम है काव्य का प्रतीयमान अर्थ अर्थात् ध्वनि[1]।

उनका कहना था कि जिस प्रकार नारी लावण्य के अभाव में हृदयावर्जक नहीं हो सकती, उसी प्रकार ध्वनि तत्त्व के अभाव में अलङ्कृत काव्य भी सहृदयों के लिए हृदयावर्जक नहीं[2] हो सकता। इसलिए उन्होंने "काव्यस्यात्मा ध्वनिः" कहकर ध्वनि को निर्भय रूप से काव्य का आत्मभूत तत्त्व उद्घोषित किया।

यह ध्वनि समस्त सत्त्कवियों के काव्य में अन्तर्लीन एक रमणीय तत्त्व है। काव्य तत्त्व को इस दृष्टि से देखने पर अलङ्कृति तत्त्व का महत्त्व क्षीण हो जाता है[3]। महाकवियों की अलङ्कृति वाणी में भी यह प्रतीयमान तत्त्व ही सौन्दर्य का कारण बनता है। इसका काव्य में वही स्थान है जो स्त्रियों में लज्जा का[4]।

इसप्रकार आनन्दवर्धन ने रस को स्वतंत्र काव्य तत्त्व स्वीकार करके ध्वनि का एक भेद असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि माना। और रसभावादि आठों भावों को इसी में अन्तर्भूत किया।

ध्वनि काव्य का अस्तित्त्व तत्त्व है। इसके बिना काव्य का अस्तित्त्व सम्भव नहीं। यहाँ तक कि शास्त्रीय दृष्टि से रस रसध्वनि का चमत्कार भी ध्वनि (व्यङ्ग्यार्थ) पर आश्रित है।

---

1. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्तिवाणीषु महाकवीनाम्।
   यत् तत् प्रसिद्धावयवाति रिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।। ध्वन्यालोक – 1/4 कारिका
2. काव्यस्यात्माध्वनिः। ध्वन्यालोक – 1/1 कारिका
3. "अलङ्कारा हि वाच्य सौन्दर्यसाराः प्रायशः स्वान्तर्गते प्रतीयमानं पृष्ठतः कुर्वन्ति"।
   रसगंगाधर–पृ0–137
4. प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम् – ध्वन्यालोक–3/37

इसके अतिरिक्त यह साधन है स्वयंसिद्धि अथवा साध्य नही है सिद्धि अथवा साध्य तो काव्याह्लाद काव्यानन्द अथवा रस है। निष्कर्षतः काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में जितना समादर रस तत्त्व को मिला उतना किसी अन्य काव्य तत्त्व को नहीं। आचार्य भरत ने ही रस विषयक सभी सामग्री साक्षात् रूप से अथवा प्रकारान्तर से प्रस्तुत की।

अलङ्कारवादी आचार्यों ने यद्यपि रस, भाव, आदि को रसवद् 'आदि अलङ्कार' नाम से अभिहित किया। तथापि अपने दृष्टिकोण से इसे समुचित समादर भी दिया। अग्निपुराणकार ने रस को आवश्यक तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हुए कहा कि जिस प्रकार बिना त्याग के लक्ष्मी शोभित नहीं होती उसी प्रकार वाणी भी रस के बिना शोभित नही होती है। इसी के समय रस को आत्मा पद पर आसीन कर दिया गया।

"वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्"।

आचार्य 'मम्मट' ने अपने गुण स्वरूप में इस ओर प्रकारान्तर से सङ्केत किया और विश्वनाथ ने सर्वप्रथम अपना काव्य लक्षण भी इसी मान्यता के आधार पर प्रस्तुत किया[1] –

रस को आत्मा स्वीकृत करने का कारण यही भी है कि आनन्द और उनके अनुकर्त्ताओं मम्मट, विश्वनाथ, ने तथा इनके उत्तरोत्तरवर्ती आचार्यों ने अन्य काव्य तत्त्वों गुण, अलङ्कार, रीति, छन्द , को रस के साथ सम्बद्ध करते हुए इन्हें उसके पोषक रूप में प्रस्तुत किया। इसी कारण रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया जाता है।

इस प्रकार काव्यमर्मज्ञ आचार्यों के विश्लेषण से रसतत्त्व और भी महनीय होता चला गया। क्योंकि रस का प्रतिपादन सर्वप्रथम आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में किया अतः उत्तरकालीन सभी आचार्य भरतमुनि के ऋणी हैं।

भरत ने अपने रस विषयक सूत्र से रस का स्वरूप बताया – जिसका सर्वग्राह्य अर्थ है – विभावानुभाव और व्यभिचारिभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस सूत्र के विवेचन पर ही सभी आचार्यों की विचारधारा पल्लवित होती है।

इस प्रकार रस काव्य का एक आवश्यक तत्त्व है जो सर्वसम्मत है। सरस काव्य की मर्यादा ही सर्वोपरि है। रस कभी भी काव्य में बाधक नहीं होता है। रस ही काव्य की आत्मा है

---

1. "वाक्यं रसात्मकं काव्यं"। साहित्यदर्पण।

जो रसात्मक काव्य है वही उत्तमोत्तम काव्य है। काव्य में व्यञ्जना की प्रधानता को सभी आचार्य मानते हैं।

व्यङ्ग्यों में रस व्यञ्जना ही प्रधान है और वह ध्वनि काव्य होता है। काव्य का चरम तत्त्व रस ही है। रस परिपोष के लिए अपरिहार्य गुण होने पर भी वह गुण की स्थिति में ही सीमित है वह गुणी नही बन सकता। वह काव्य तत्त्व का एक अलौकिक अङ्ग है। रसानुभूति हृदय की द्रवणशीलता का परिणाम है जिसमें हृदय बाह्य कारणों से प्रभावित होकर इतना अधिक द्रवीभूत हो जाता है कि उसकी आस्वाद्य विषय के साथ तन्मयता स्थापित हो जाती है। रसानुभूति जन्य आनन्द को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहा गया।

यह रस ध्वनि असंलक्ष्यक्रम ध्वनि की उपलक्षण है। अतः इससे रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशबलता, आवश्यकता इत्यादि का भी ग्रहण होता है।

इस प्रकार काव्य के समस्त सौन्दर्याधायक तत्त्वों में रस ही प्रधान काव्य का आत्मतत्त्व है। आचार्य आनन्दवर्धन का कहना है कि – ध्वनितत्त्व काव्य में अनिवार्यतः विद्यमान रहता है तथा रस के उपलक्षणों भी इस तत्त्व का अस्तित्त्व अनिवार्यतः अपेक्षित है। ध्वनितत्त्व रस कीअपेक्षा कही अधिक व्यापक है।

छन्दस् – काव्य में सौन्दर्य और चमत्कार की सृष्टि करने में 'छन्दस्' का भी अपना अपूर्व योगदान है। 'आचार्य पाणिनि' के अनुसार छन्दः शब्द "चदि आहलादने – दीप्तौ च" धातु से बना है। 'चदेरादेश्च छः' सूत्र द्वारा चदि का चकार छकार में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार "छन्दयति आह्लादयति दीपयति प्रकाशयतीति छन्दः" अर्थात् जो आह्लादित करे अथवा प्रकाशित करे वह छन्द है।

'निरूक्ताचार्ययास्क' के मत में 'छन्दः' शब्द 'छदिसंवरणे' धातु से निष्पन्न होता है। और इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'छन्द' शब्द का अर्थ है – 'आच्छादन करना'[1]।

छन्दों का प्रथम प्रयुक्त स्थल 'वेद' है। ऋग्वेद तथा सामवेद में छन्दोबद्ध मंत्रों का प्रयोग स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है। यजुर्वेद तथा अथर्ववेद का भी अधिकांश भाग छन्दोबद्ध रचना के रूप में उपलब्ध होता है।

---

1. "छन्दासि छादनात्"। निरूक्त, दैवतकाण्ड, 7/12

काव्य के शरीर पक्ष में ही 'छन्द' का अन्तर्भाव होता है। नाट्यशास्त्र प्रणेता 'आचार्य भरत' ने अपने नाट्यशास्त्र के अट्ठारहवें अध्याय में छन्दविषयक् कुछ महत्वपूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है।

छन्द शब्द के आच्छादन अर्थ का इङ्गित प्रयोग वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है। यह निश्चित है कि देवताओं का आवाहन करने हेतु तथा उन्हें प्रसन्न करने हेतु से आर्य लोग वैदिक छन्दों का ज्ञान करते रहे होंगे।

छन्दों का उद्भव कैसे हुआ यह भी एक विचारणीय प्रश्न है ऋग्वेद दशममण्डल के 'पुरूषसूक्त' में यज्ञ पुरूष का वर्णन हुआ है। उसी यज्ञ पुरूष के द्वारा ऋक्, यजुः, साम तथा छन्दों की व्युत्पत्ति बतलाई गयी।

'कविकुलगुरू 'कालिदास' ने भी छन्दों का मूल 'प्रणव' में माना है[1]। किन्तु लौकिक–संस्कृत में छन्द की उत्पत्ति आदिकवि वाल्मीकि के मुखारबिन्द से हुई। विराध द्वारा क्रौञ्च दम्पत्ति में से अन्यतर का प्राणापहार किये जाने पर इतर के हृदय–विदारक करूण क्रन्दन–द्वारा आदिकवि के आभ्यन्तर का शोकभाव सद्यः पोषित होकर अन्तस्तल के मर्मस्थलों एवं ग्रन्थिसन्धियों को विदीर्ण करता हुआ बरबस समुच्छलित होकर करूण के रूप में बाह्य जगत् में प्रस्फुटित हो श्लोकत्व के रूप में परिणत हो गया[2]।

मा निषाद! प्रतिष्ठाम् त्वमगमः शाश्वतीः समाः।

यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।। रामायण–बा0का0 2–15

अर्थात् हे निषाद! चूँकि तुमने क्रौञ्च मिथुन में से काम मोहित एक नर क्रौञ्च की अकारण हत्या की है अतएव तुझे कभी शान्ति न प्राप्त हो।

तत्पश्चात् वे एक निश्चय पर पहुंचते हैं तथा अपने शिष्य से कहते हैं हे तात् शोक से पीड़ित मेरे मुख से निकला हुआ यह वाक्य पादबद्ध है। इसमें चार चरण हैं। प्रत्येक पाद में बराबर अक्षर विद्यमान है अतएव यह मेरा वचन श्लोक रूप हो।

---

1. वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम्।
   आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव।। रघुवंश – 1/11 श्लोक
2. निषाद विद्धाण्ऽजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमाद्यत यस्यशोकः। रघुवंश – 14/70

आचार्य पिङ्गलकृत ''छन्दःसूत्रम्'' छन्द के विषय में प्राचीनतम आधिकारिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में वैदिक एवं लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों पर प्रकाश डाला गया है। इसी 'छन्दःसूत्रम्' पर सर्वाधिक प्रसिद्ध टीका हलायुधभट्टकृत मृत–सञ्जीविनी''टीका है। इस टीका के अनुसार अक्षर संख्या का परिणाम ही छन्द है[1]।

नाट्यशास्त्र के प्रणेता 'आचार्य भरत' क कथन है – कि अनेक अर्थों से सम्पन्न चार पदों एवं वर्णों से युक्त वृत्त ही 'छन्द' कहलाता है[2]। गतिसंयम को भी छन्द कहा जाता है[3]।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ' ने भी छन्दोबद्ध रचना को पद्य संज्ञा प्रदान की है। 'छन्दोबद्धं पदं पद्यम्' सा0 दर्पण–6 अध्याय ।

छन्दों के द्वारा भावाभिव्यक्ति समुचित ढंग से सम्पन्न होती है। छन्दों का प्रमुख कार्य रस या भाव को व्यञ्जित करना ही है। छन्दोबद्ध रचनाएं गद्य की अपेक्षा अधिक रमणीय एवं प्रभावोत्पादक होती है। कवि अपनी अनुभूतियों को छन्दोबद्ध करके उन्हें अनन्त एवं जीवन्त रूप प्रदान करता है। छन्द एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा किसी वस्तु या पदार्थ को अधिक सरलतापूर्वक स्मृतिपथ पर स्थिर एवं दृढ़ किया जा सकता है। छन्द भाषा में लालित्य की सृष्टि करते हैं।

भाषा की स्निग्धता तथा रमणीयता का सम्पूर्ण उत्तरदायित्त्व उसके छन्दप्रयोग की प्रकृति पर निर्भर करता है। भाषा और छन्द का यह सम्बन्ध उभयात्मक है। छन्दों की भी उपादेयता उनकी भावानुकूलता या रसानुकूलता में होती है। अनुकूल छन्दोबद्ध भाषा द्वारा रस की सुष्ठु एवं सम्यक् अभिव्यञ्जना संभव होती है। छन्दों के साथ भाषा–भाव तथा रस का यह सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। वैदिक युग में भी रस तथा छन्द का उक्त समन्वय देखा जा सकता है। लौकिक संस्कृत में छन्द तथा रस का यह सम्बन्ध अधिक व्यापक रूप में दृष्टिगोचर होता है।

विभिन्न स्थितियों के वर्णन के संदर्भ में विविध छन्दों का विधान प्रदर्शित करते हुए आचार्य भरत की उक्ति है कि वीर रस के वर्णन में स्रग्धरा छन्द का प्रयोग होना चाहिए[3]।

---

1. छन्दः शब्देनाक्षर संख्यावच्छन्दोऽत्राभिधीयते। — पिङ्गलछन्दसूत्रम् – 2/1
2. एवं नानार्थ संयुक्तैः पदैर्वर्णविभूषितैः।
   चतुर्भिस्तु भवेद् युक्तं छन्दोवृत्ताभिधानवत्।। — ना0शा0 – 14/42
   गतिसंयमश्छन्दः। — ना0शा0 – पृष्ठ 317
3. वीरस्य भुजदण्डानां वर्णने स्रग्धराभवेत्।
   नायिका वर्णने कार्यं वसन्ततिलकादिकम्।। — ना0शा0 अध्याय 14

छन्दस् की गणना वेद के छह अङ्गों में की गयी है। इसे वेदपुरूष का चरण बताया गया है[1]। छन्दस् के बिना किसी भी काव्यग्रन्थ में गतिशीलता नहीं आ सकती। छन्दस्शास्त्र के बिना वैदिक तथा लौकिक दोनों काव्य पङ्गु हैं।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्ततिलक' नामक अपने ग्रन्थ में छन्दयोजना के विषय में व्यापक रूप से नियम प्रयोग करते हुए लिखा कि सर्ग के प्रारम्भ में कथा का विस्तार कम करने के लिए सदुपदेश तथा वृत्तान्त कहने में सज्जन लोग अनुष्टुप छन्द का प्रयोग करते थे। श्रृङ्गार और उसके आलम्बन नायिका आदि के सौन्दर्य वर्णन और वसन्त तथा उसके अङ्गों के वर्णन में उपजाति का प्रयोग किया। इनका कहना है कि श्रृङ्गार रस में रूपदीपक, संयुक्त आर्यायों और वृत्तों का प्रयोग होना चाहिए।

क्षेमेन्द्र ने अपने 'सुवृत्ततिलक' के तृतीय परिच्छेद में काव्य रस और वर्णन के अनुसार वृत्तों का प्रयोग बताया है। रसादि की दृष्टि से इनके विषय में कोई नियम नहीं है। वर्षा एवं प्रवास के व्यसन में मन्दाक्रान्ता छन्द रमणीय बनाता है। राजाओं की स्तुति एवं उनके वीरतापूर्ण शौर्य वर्णन में शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग, तथा दोधक, त्रोटक आदि छन्दों का प्रयोग मुक्तक सूक्तियों में ही शोभा देता है। सर्ग के अन्त में द्रुततालवाली मालिनी छन्द का प्रयोग, रूचि एवं औचित्य के विचार में हरिणी छन्द का प्रयोग होता है। परिच्छेद या विभाजन के समय शिखरिणी छन्द का प्रयोग होता है। शेष बचे हुए छन्द जिनकी चर्चा यहाँ नहीं की गयी है केवल उक्ति वैचित्र्य के लिए होते हैं। इनके भी प्रयोग के विषय में कोई विशेष नियम नहीं है।

'आचार्य विश्वनाथ' का कथन है कि – एक सर्ग में एक ही प्रकार के छन्दों का प्रयोग होता है। तथा सर्ग के अन्त में छन्दों के प्रयोग परिवर्तित हो जाना चाहिए[1]। 'आचार्य दण्डी' को भी सर्ग के अन्त में भिन्न छन्दोयोजना अभीष्ट है[2]।

रससिद्ध कवीश्वरों के समय में ही विशाल छन्दों के वैविध्य एवं छन्द के प्रौढ़ प्रयोगों के दर्शन होते हैं। किसी युग के छन्दो वैभव को स्पष्ट करना उस युग की साहित्य अभिरूचि एवं सामाजिक गरिमा का इतिहास अङ्कित करना है। अस्तु सारतः काव्य के सामान्य स्वरूप को स्पष्टाङ्कित करने के लिए यदि हम पुनः अङ्कित करे तो कोई आपत्तिजनक नहीं होगा। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन हमें इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि शब्दार्थ काव्यपुरूष का शरीर ओज,

---

1. छन्दः पादौ तु वेदस्य। पाणिनीय शिक्षा।
2. "एक वृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः।" विश्वनाथकृत – सा0दर्पण परिच्छेद
3. सर्वत्रभिन्नवृत्तान्तैरूपेतं लोकरञ्जनम्। काव्यादर्श– 1/19

माधुर्य आदि गुण काव्य पुरूष के शौर्य औदार्यादिगुण उभयादि अर्थालङ्कार व यमकादि शब्दालङ्कार उसके किरीट–कुण्डलादि भूषणादि रीति उसके अवयव आदि की तथा दोष उसके शरीर के काणत्वादि, छन्द उसके शब्द और अर्थ के शरीर पर रहने वाले रोमादि और रस उसकी आत्मा है।

काव्य के सौन्दर्याधायक तत्त्वों में छन्दों की भी कुछ अपनी अलग ही महत्ता रही। 'छन्दांसि छादनात्' अर्थात् छन्द आच्छादित करते हैं इस अर्थ में छन्दवाणी के आवरण माने गये हैं। इसके अतिरिक्त छन्द शब्द की व्युत्पत्ति 'छद्' धातु से मानी गयी है। जिसका तात्पर्य आवृत करने या हर्षित करने या दीप्त करने से है।

'श्रीमद्भगवद्गीता' में भी वेदों को 'छन्दस्' कहा गया है। 'आचार्य पाणिनि' की अष्टाध्यायी में भी 'छन्दस्' शब्द वेदों का वाचक है। छन्द को वेदाङ्गों का आधार स्तम्भ माना गया है। वस्तुतः काव्य में छन्द शब्द का अर्थ मात्राओं और वर्णों का वह व्यवस्थित रूप माना जाता है जिसमें कवि की वाणी सहज प्रस्फुटित होती है।

भारतीय छन्दस्शास्त्र का उद्भव वैदिक साहित्य से माना जाता है। वैदिक साहित्य में छन्दोबद्धता है। 200 ई0पू0 में निबद्ध इस ग्रंथ में (छन्दस् सूत्र) छन्दों का लक्षण सूत्र शैली में प्रयुक्त हुआ है। यह शास्त्र वर्णिक एवं मात्रिक दोनों छन्दों के विकास की दृष्टि से महत्त्व रखता है। वाल्मीकि रामायण के अनुष्टुप छन्द से लौकिक छन्दों का भी आरम्भ हुआ। आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र के सोलहवें अध्याय में उन छन्दों का रस से सम्बन्ध स्थापित किया है। काव्यशास्त्र में रसानुरूप वृत्तों का प्रयोग आवश्यक है। वस्तुतः छन्द और रस का अभिन्न सम्बन्ध है किन्तु छन्द है बाह्य तत्त्व। मानव की भावनोत्कटता के स्तर के अनुसार ही शब्दविचार भी दीर्घ, ह्रस्व, मन्द या तीव्र निकलता है। व्यक्ति के संस्कार–विशेष, समाज में प्रचलित नैतिक मूल्यों, विश्वासों जीवन विषयक विचारों आदि से निर्मित होते हैं। इन संस्कार वृत्तियों को रस रूप में परिणत करना महाकवि का कर्म है। कवि जितना जीवन की गम्भीरता से परिचित होगा और उसकी अभिव्यक्ति जितनी कुशलता से कर सकेगा, रस निष्पत्ति उतनी ही सफलता से होगी।

रससिद्ध कवीश्वरों के काल में ही विस्तृत छन्दों वैविध्य एवं छन्द के प्रौढ़ प्रयोगों के दर्शन होते हैं। किसी युग के छन्दो–वैभव को स्पष्ट करना उस युग की साहित्यिक अभिरूचि एवं सामाजिक गरिमा का इतिहास अङ्कित करना है।

❐

द्वितीय अध्याय

आर्षकाव्य–रामायण एवं महाभारत :– प्रत्येक विकसित राष्ट्र में कुछ ऐसे ग्रन्थरत्न हुआ करते है। जिनमें वहाँ की राष्ट्रीय संस्कृति धार्मिक मर्यादा एवं दार्शनिक विचार धारा की त्रिवेणी का संगम होता है ऐसे ही ग्रन्थ राष्ट्र के अक्षय्य जीवन स्त्रोत होते हैं, गौरव होते हैं, प्राण होते हैं यहाँ तक कि सर्वस्व होते हैं। इन ग्रन्थों में राष्ट्र की साहित्यिक सुधा के भी अनेक उत्स होते हैं जहाँ से साहित्यानुरागी रससिद्ध साहित्यकार अपनी संवेदना के अनुरूप कथानक का आहरण करके अपनी प्रतिभा के बल पर नियतिकृत नियमरहिता, वैदिकमयी, अनन्य परतन्त्रा एवं नवरसरूचिरा साहित्यसर्जना करते है जिससे देश की साहित्यिक सम्पदा में स्पृहणीय वृद्धि होती है और धर्म के गौरव का विकास होता है। ऐसे ही ग्रन्थों में आर्षकाव्य रामायण एवं महाभारत है। चूँकि इन ग्रन्थ रत्नों से अनेक साहित्यकारों की साहित्य सम्पदा को आधार मिलता है, जीवन मिलता है इसलिए इन्हें उपजीव्य काव्य की संज्ञा से विभूषित किया गया तथा ऐसे ही ग्रन्थों को पाश्चात्य मनीषियों ने 'एपिक आफ ग्रोथ' कहा है।

महर्षि बाल्मीकि कृत 'रामायण' तथा 'महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास' कृत महाभारत दोनों ही ग्रन्थ आर्षकाव्य हैं।

वैदिक काल के पश्चात् जो साहित्य अवतरित हुआ उसे सामान्यतः इतिहास, पुराण और काव्य के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुए रामायण एवं महाभारत इन दो विशाल ग्रन्थों को भारतीय साहित्य परम्परा में इतिहास की पदवी से विभूषित किया गया।[1] 'इतिहास' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है –

"इति हेत्यव्ययं पारम्पर्योपदेशाभिधायि।
तस्यासनम् आसः अवस्थानमेतेष्विति इतिहासाः पुरावृत्तानि।।"

और भी– धर्मार्थकाम मोक्षणामुपदेश समन्वितम्।
पूर्ववृत्त कथायुक्तमिति हासं प्रचक्षते।।

वेदार्थ को स्पष्ट करने के लिए वैदिक ऋषियों ने जो कुछ कथाओं का आश्रय लिया वे कालक्रम में इतिहास, आख्यान और उपाख्यान के नाम से प्रसिद्ध हुए। जब दीर्घकालीन यज्ञों का वितान होता था तो इन इतिहासों के आख्यानों उपाख्यानों का पाठ किया जाता था।

---

1. इतिहासपुराणाम्यां वेदं समुपवृंहयेत्। महाभारत

संस्कृत साहित्य में महर्षि बाल्मीकि द्वारा प्रणीत 'रामायण' को आदिकाव्य की संज्ञा से विभूषित किया जाता है। इसके प्रणेता आचार्य बाल्मीकि को 'आदि कवि' भी कहा जाता है। बाल्मीकि के विषय में ऐसा कहा जाता है कि ये महर्षि वरूण के दशम पुत्र थे।

"योगीन्द्रश्छन्दसां स्त्रष्टा रामायण महाकविः।
वल्मीक जन्माजयति प्राच्यः प्राचेतसो मुनिः।।"

युवावस्था में वे तस्करों एवं दस्युओं के समुदाय में सम्मिलित, थे। सहसा अपने पतन का ध्यान आते ही उनमें एक नवीन चेतना एवं स्फूर्ति जागृत हुयी और सत्पुरूषों के संसर्ग में वे सदाचार एवं परिष्कृत जीवन व्यतीत करने लगे। दीर्घकाल तक सत्य का दर्शन करने के लिए उन्होंने एक ही स्थान पर बैठकर तपश्चर्या की थी। जब वे ध्यानमग्न होने पर समाधि से उठे तो उन्होंने अपने को चारों ओर से दीमक की एक विशाल बाम्बी से आवृत देखा। उसे तोड़कर उन्हें बाहर आना पड़ा। इस प्रकार वल्मीक से समुद्भूत होने के कारण उन्हें बाल्मीकि कहा जाता है।

एक बार नारद मुनि से उनकी भेंट हुई। नारदमुनि ने बाल्मीकि के यह पूंछने पर कि संसार का पुरूष श्रेष्ठ कौन है बताया कि वह पुरूषोत्तम राम है और उन्होंने उनके जीवन का एक संक्षेप बाल्मीकि को प्रस्तुत किया। इस ग्रन्थ के प्रणयन के विषय में जनश्रुति है कि एक दिन प्रातः काल वह जब नित्यकर्म से निवृत्त होने के लिए तमसा नदी पर जा रहे थे तो इन्होंने देखा कि एक व्याध ने अपने बाण से क्रौञ्च युगल में से एक को आहत कर दिया और उसकी सहचरी क्रौञ्ची आर्त्तनाद कर रही है। बाल्मीकि इस घटना से इतने अधिक विचलित हुए कि इन्होंने व्याध को इन शब्दों में शाप दे डाला। जो अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध था–

"मा निषाद प्रतिष्ठाम् त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।" (रामायण – बालकाण्ड, 2, 15)

इसके पश्चात् उन्होंने तमसा में स्नान किया और आपने आश्रम को वापस आये। चतुर्मुख ब्रह्मा ने प्रकट होकर बाल्मीकि को आदेश दिया कि वे राम के जीवन से सम्बद्ध काव्य की रचना करें और उन्होंने बाल्मीकि को वह शक्ति व तेज प्रदान किया जिसके द्वारा ये राम के जीवन से साक्षात्कार कर सके।

अन्ततः उन्होंने एक प्रबन्ध काव्य की रचना की जिसको उन्होंने काव्य कहा, जिसका नाम 'रामायण' है।[1]

रामायण सात काण्डों– यथा बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड एवं उत्तरकाण्ड में विभक्त है। यह पांच सौ सर्गों, 24 हजार श्लोकों तथा सौ उपाख्यानों से युक्त है। जो मुख्य रूप से अनुष्टुप् छन्द में ही निबद्ध है। इस आदि काव्य को "चतुर्विंशति साहस्त्री संहिता" भी कहते हैं।

अतः सार यही है कि जब तक कवि अपनी आन्तरिक भावनाओं को शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं कर पाता और पाठक या श्रोता को उन्हीं भावनाओं से संयुक्त नहीं करता तब तक वह वास्तव में 'कवि' कहा ही नहीं जा सकता। बाल्मीकि प्रथम कवि थे जिनकी कृति में यह विशेषता दिखाई दी। इसी कारण इन्हें 'आदि कवि' और इनके ग्रन्थ रामायण को आदि काव्य की संज्ञा प्रदान की गयी। भारतीय संस्कृति का जितना सुन्दर, समुज्ज्वल, एवं स्वाभाविक रूप इस महाकाव्य में चित्रित किया गया, उतना किसी अनन्य देश के महाकाव्य में अङ्कित नहीं किया गया। मनुष्य के चूड़ान्त आदर्श की स्थापना के लिए बाल्मीकि ने इस महाकाव्य की रचना की और इसे आर्षरामायण या आदि काव्य की पदवी से मण्डित किया।

लौकिक साहित्य में बाल्मीकि रामायण के पश्चात् महर्षि व्यास रचित 'महाभारत' का नाम लिया जाता है। यदि रामायण को संस्कृत साहित्य का आदि काव्य कहा जा सकता है तो महाभारत को 'इतिहास' ग्रन्थ की संज्ञा से विभूषित किया जाता है।

'महाभारत' महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास द्वारा रचित माना जाता है। ये कृष्ण वर्ण के थे और द्वीप में इनका जन्म हुआ था इसलिए इनका यह नाम पड़ा।

यह ब्राह्मण पराशर और शूद्रा मत्स्यगन्धा के पुत्र थे वह बहुत बड़े विद्वान और धर्मवेत्ता हुए, उन्होंने युग धर्म से प्रेरित होकर वेद और ब्राह्मणों की रक्षा के लिए वेद का विस्तार किया। अर्थात् एक वेद को चार भागों में विस्तृत किया, इसलिए वे वेदव्यास के नाम से प्रसिद्ध हुए।

---

1. तच्चाप्यविदितं सर्वविदितं ते भविष्यति।
   न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति।। बालकाण्ड– 2.35

इन्हें संक्षेप में व्यास नाम से भी अभिहित किया जाता है। इन्होंने चारो वेदों और पञ्चम वेद महाभारत को सुमन्तु, जैमिनि, पैल, शुकदेव और वैशम्पायन को पढ़ाया था। जिन्होंने महाभारत की अपनी–अपनी संहिताएं प्रकाशित की।[1]

इससे स्पष्ट है कि 'वेदव्यास' जो कि कौरवों और पाण्डवों के वास्तविक पितामह थे, जिन्होंने महाभारत के प्रचण्ड युद्ध और उसके परिणाम का स्वयं साक्षात्कार किया था और उस कथा का वर्णन उन्होंने अन्य व्यक्तियों के अतिरिक्त वैशम्पायन से किया था। प्रस्तुत महाभारत वैशम्पायन की संहिता है जो व्यास के मुख से वैशम्पायन द्वारा सुनी गयी थी।

महाभारत का पहला नाम 'जय' था। जैसा कि सभी को स्पष्ट है, किन्तु महाभारत के आभ्यन्तर उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि 'जय आख्यान' भारत के नाम से प्रसिद्ध था। महाकवि ने 'भारत' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है कि यह काव्य 'भारत' के नाम से इसलिए विख्यात है कि इसमें भरतों का महान् चरित्र निबद्ध है।

"निरूक्तमस्ययोवेद सर्वपापैः प्रमुच्यते।
भरतानां यतश्चायमितिहासो महाद्भुतः।।" आदिपर्व –

एक अन्य स्थल पर महाभारत का अर्थ कौरवों का महानचरित बताया गया है। महान् वैयाकरण पाणिनि ने 'भरत' शब्द के साथ 'अण्' प्रत्यय का प्रयोग करके 'भारत' शब्द से उस संग्राम का वाचन किया है जिसके योद्धा भरत थे। इससे स्पष्ट है कि पुंल्लिङ्ग में प्रयुक्त भारत शब्द (भारतः) भरतों के चरित्र के अर्थ में न होकर संग्राम के अर्थ में होता था, और नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त 'भारतम्' शब्द का अर्थ "जिसमें भरतों के संग्राम का वर्णन हो"।

इस प्रकार कालक्रम में भारत महाभारत हो गया, जिसका तात्पर्य – वह महान् काव्य जिसमें भरतों के युद्ध का वर्णन किया गया है।

"महत्त्वाद् भारत्वाच्च महाभारतमुच्यते।" आदिपर्व – 1/300

---

1. वेदानध्यापयामास महाभारत पंचमान्।
सुमन्तुं जैमिनिं पैलं शुकं चैव स्वमात्मजम्।
प्रभुर्वरिष्ठो वरदो वैशम्पायनमेव च
संहितास्तैः पृथक्त्वेन भारतस्य प्रकाशिताः।। आदिपर्व–

महाभारत के अन्तःसाक्ष्य से स्पष्ट है, कि महामुनि व्यास ने कौरवों और पाण्डवों के विनाश के पश्चात् महाभारत का प्रकाशन किया था। उनके शिष्य वैशम्पायन ने जनमेजय के नागयज्ञ के अवसर पर इस आख्यान का वाचन किया, जिसे सुनकर नैमिषारण्य में शौनक के आग्रह पर सूतपुत्र ने महाभारत का पाठ उस यज्ञसत्र में किया था जो बारह वर्षों तक चलता रहा। इससे यह प्रतीत होता है कि महाभारत व्यास, वैशम्पायन और सूतपुत्र के द्वारा विभिन्न अवसरों पर उदीरित होने के कारण कलेवर वृद्धि करता गया, और अन्त में उसमें एक लाख श्लोक हो गये।

"इदं शत सहस्त्रं हि श्लोकानां पुण्यकर्मणाम्"।

यह निर्विवाद रूप से नहीं कहा जा सकता कि व्यास द्वारा उदीरित मूल जयग्रन्थ में कितने श्लोक थे। इसका सङ्केत हमें महाभारत में मिलता है कि इसमें 8800 श्लोक रहे होंगे।[1] वैशम्पायन ने जनमेजय के नागयज्ञ में जिस भरत युद्ध का वर्णन किया था उसमें केवल चौबीस हजार श्लोक थे और वह उपाख्यानों से रहित था। वह व्यास द्वारा रचित 'भारतसंहिता' के नाम से विख्यात है।

"चतुर्विंशति साहस्त्रीं चक्रे भारतसंहिताम्"।
उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः"।। महाभारत

इस भारत संहिता में जब उपाख्यानों का संयोग कर दिया गया तो यह भारत आख्यान एक लाख श्लोकों का हो गया। सौति का यह वचन – "एकं शतसहस्त्रं तु मयोक्तं वै निबोधत"। इस प्रकार भारत संहिता का कलेवर परिवर्द्धित एवं परिशोधित होकर महाभारत के रूप में सामने आया।

<u>रामायण एवं महाभारत का रचनाकाल</u> :– भारतीय विचारधारा के क्रमानुसार मर्यादा पुरूषोत्तम राम त्रेतायुग में थे, और आदि कवि महर्षि बाल्मीकि, उनके समकालीन थे जिन्होंने चतुर्मुखी ब्रह्मा से आदेश पाकर आर्षकाव्य रामायण की रचना की थी। अतः रामायण का रचनाकाल त्रेतायुग है। त्रेतायुग ईसा से 8 लाख 67 हजार एक सौ वर्ष ईसा पूर्व समाप्त हुआ था।

---

1. "अष्टौ श्लोक सहस्त्राणि अष्टौ श्लोक शतानि च।"
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा।। महाभारत

'जय' इस नाम से महाभारत की रचना व्यास ने पाण्डवों के जीवन काल में कर दी थी, और कलियुग के समारम्भ में तक्षक नाग द्वारा मारे गये अपने पिता परीक्षित का बदला लेने के लिए जनमेजय ने जब नाग यज्ञ किया था तो वैशम्पायन ने व्यासदेव द्वारा विरचित 'जयकाव्य' का भारतसंहिता के रूप में पाठ किया था। कलियुग का समारम्भ तीन हजार एक सौ वर्ष ईसा पूर्व हुआ था। इसलिए यह कहा जा सकता है, कि मूल महाभारत की रचना इसी समय हुई, परन्तु आधुनिक विद्वान इन काल गणनाओं को स्वीकार नहीं करते, और उनके मत के अनुसार– महाभारत की घटना रामायण की घटना से प्राचीनतर है। जो ईसा पूर्व ग्यारहवीं या तेरहवीं शता० के आस पास घटी थी। महाभारत का वर्तमान स्वरूप उनके मत से ईसापूर्व चौथी शता० से चौथी ई० तक की अवधि में पूरा हुआ। यह सम्भव है कि मूल रामायण की रचना प्रचीन आख्यानों के आधार पर ईसा पूर्व तीसरी शता० में बाल्मीकि ने की हो। इस प्रसंग में इतना कहना पर्याप्त होगा कि काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में बाल्मीकि व्यास से पहले हुए और रामायण की रचना महाभारत से पहले हुई।

यह भारतीय दृष्टिकोण अधिक मान्य और उचित प्रतीत होता है। वैसे भी जहाँ तक प्रस्तुत प्रबन्ध का सम्बन्ध है इन आर्ष महाकाव्यों का काल निर्धारण महत्त्वपूर्ण बिन्दु नहीं है। इस सम्बन्ध में यहाँ मात्र इतना ही महत्त्वपूर्ण है कि महाकवि कालिदास के उपजीव्यभूत उनके पूर्ववर्ती ये दोनों आर्ष ग्रन्थ संस्कृत काव्यधारा के प्रारम्भिक सोपानों का परिचय कराते हैं। इनकी काव्यकला में मुख्यतया ऐतिह्य तत्त्व प्रधान था, काव्य का कलागत शैलीगत अङ्ग अपेक्षाकृत गौण था साथ ही इनकी रूझान उपदेशात्मक अधिक थी, कान्तासम्मित उपदेश की मनोग्राहिता उतनी प्रबल और स्फुट नहीं थी जितनी कालिदासीय युग में और परवर्ती काव्यों में चलकर हुई।

महर्षि बाल्मीकि की करूणा से उद्‌भूत आदिकाव्य रामायण एवं महाभारत की विषयवस्तु :– आदिकाव्य होने पर भी बाल्मीकि रामायण की वर्ण्य सामग्री अत्यन्त विलक्षण तथा स्पृहणीय है। इस ग्रन्थ में मर्यादा पुरूषोत्तम श्रीराम के सम्पूर्ण जीवनवृत्त को अति समृद्ध एवं सूक्ष्म विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है।

काव्य का उत्स अपौरूषेय वेदों में ही निहित है। वेद अपौरूषेय, स्वतः प्रमाण एवं स्वतः पूर्ण ज्ञान के पवित्रतम अक्षय्य भाण्डार हैं। काव्य वस्तुतः शब्दार्थ का रसात्मक संयोजन होता है। शब्द उसका अर्थ और शब्द एवं अर्थ के मध्य विद्यमान सम्बन्ध परम्परानुसार नित्य एवं स्थायी माना गया है। इसलिए वैदिक शब्द राशि नित्य है, और स्वयं में प्रमाण है।

वैदिक मंत्र एवं ब्राह्मण भाग मिलकर वेदों का प्रणयन करते हैं। पवित्र मंत्रों के समूह को 'संहिता' का नाम दिया गया है। वैदिक मंत्र को प्राचीन ऋषियों ने साक्षात् देखा था, अतएव ऋषिगण मन्त्रों के द्रष्टा कहे गये हैं, कर्त्ता नहीं।[1] मंत्र प्रायेण छन्दोबद्ध होते है। ये युगो–2 के ऋषियों के मनन् चिंतन से उत्पन्न हुए, इसीलिए वैदिक परम्परा मंत्रों के बारे में 'मंत्रों मननात्' मानती आयी है।

लौकिक साहित्य में काव्य की उत्पत्ति– लौकिककाव्य का उदय आदि कवि बाल्मीकि की वाणी से प्रस्फुटित हुआ है। मिथुनरत अत्यन्त ऐकान्तिक और सुखदायी मिलन के क्षणों में व्यापृत क्रौञ्चपक्षी युगल में से बहेलिये द्वारा एक की हत्या कर दिये जाने के फलस्वरूप ऋषि की करूणा विगलित होकर आदिकवि के हठात् मुखारविन्द से फूट पड़ी थी।

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।। रा0बाल– 2–15

स्पष्ट है कि कविता को मूल में मानव की अपार करूणा विद्यमान रही जो संवेगों के झकझोरे जाने पर शब्दार्थ बनकर निःसृत हुई। यह रहस्य एवं आश्चर्य की बात है कि ऋषि की करूणा से उत्पन्न यह प्रथम काव्य अन्ततोगत्वा आनन्द लोक में ही स्थित रहता है। क्योंकि समग्र भारतीय दर्शन चिन्तन का पर्यवसान आनन्दानुभूति में ही बताया जाता है। गीता में इसे आत्मरति कहा गया है। अर्थात् जब मनुष्य अपनी ही आत्मा के अनुराग में डूब जाये। इस प्रकार करूण रस प्रधान उक्त काव्य में रति को

---

1. ऋषयो मन्त्र द्रष्टारः न तु कर्तारः । वेद–

स्थान मिला। यह रति जिस प्रकार श्रृङ्गार रस का स्थायी भाव है, किन्तु यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो यह काव्य एक अनिवार्य घटक है। क्योंकि बिना रति के न तो कोई काव्य हो, ओर न ही शब्दार्थ रूप साहित्य। इसीलिए साहित्य को जीवन नहीं अपितु जीवन का एक व्यापार माना गया है। इसी आधार पर साहित्य अथवा काव्य से उत्पन्न आनन्दातिरेक को ब्रह्मानन्द सहोदर माना गया है, ब्रह्मानन्द नहीं। ब्रह्मानन्द अथवा आत्मानन्द जीवन में तो सम्भव है साहित्य जगत् में सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि साहित्य जीवन पर आरोपण है, जीवन नहीं।[1]

सहोदर का अर्थ ही है– एक कोख से जन्म लेना। अतएव ब्रह्म के समान ही काव्य जन्य आनन्द भी ब्रह्म के उद्‌भव में ही निहित होगा।

भारतीय दर्शन में ब्रह्म को अजन्मा, अमर शाश्वत् सत् चित् आनन्दस्वरूप माना गया है। इसी विचार सरणि को यदि हम आगे बढ़ाये तो हम कह सकते है कि काव्य भी मानव की आत्मा में आत्मिक गुणों की भाँति ही विद्यमान रहता है।

इसका उद्रेक शब्दार्थ की रसवती संयोजना में कवि की प्रतिभा से सम्भव होता है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से जैसे ऊपर कहा गया है लौकिक संस्कृत काव्य का जन्म बाल्मीकि की उपर्युक्त प्रथम कविता में ही हुआ, और तभी से काव्य की महासरिता अद्यावधि अविच्छिन्न रूप से बहती आ रही है।

संस्कृत में यह लोक काव्य का उदय था। इसके अनन्तर ही बाल्मीकि ने ऋषि वाणी में राम कथा को अमर काव्य का रूप दिया। इसी रचना के बाद आध्यात्मिक भावधारा के साथ रामायण की जो कथावस्तु जनसाधारण में फैली, उनमें से एक अध्यात्म रामायण और दूसरी योग वशिष्ठ रामायण के नाम से प्रचारित हुई, लेकिन मूलतः रामकथा को अमरता प्रदान करने का श्रेय महर्षि बाल्मीकि को ही है; उस उद्‌गम से फूटकर ही यह रामकथा सहस्त्र धाराओं में विस्तार पा सकी।

रामायण काव्य में राम और सीता का चरित्र और उनसे सम्बद्ध रावणवध की कथा वर्ण्य विषय है।

---

1. संस्कृत को रघुवंश की देन – डॉ0 शङ्करदत्त ओझा

रामायण संस्कृत वाङ्मय में प्रथम काव्य है और बाल्मीकि आदिकवि इन्होंने इक्ष्वाकुवंश की कीर्ति को रामायण के रूप में मूर्त कर दिया। सूर्यवंश की कीर्ति–कथा का गान करने वाले प्रथम कवि बाल्मीकि और उनके द्वारा निर्मित महाकाव्य रामायण है।[1]

इसलिए भारतीयता से युक्त इस ग्रन्थ को राष्ट्रीय महाकाव्य की गौरवपूर्ण उपाधि से अलङ्कृत किया गया है। यह महाकाव्य केवल शिक्षा ही नहीं प्रदान करता, अपितु आनन्द की भी अनुभूति भी कराता है। रामायण के काव्य रस रूपी अमृत का आस्वाद करके सहज ही परमानन्द को प्राप्त किया जा सकता है। जीवन को ओजस्वी तथा उदात्त बनाने के लिए रामायण में जिन आदर्शो को बाल्मीकि ने अपनी अमर तूलिका से चित्रित किया वे भारतवर्ष के लिए ही मान्य नहीं है अपितु मानव के समक्ष उच्च नैतिक स्तर तथा सामाजिक उदात्तता की भावना को प्रस्तुत करते हैं।

रामकथा का अस्तित्व बहुत प्राचीन है। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक आदि जितने भी भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ है उन सभी में सर्वत्र रामकथा की व्यापकता वर्तमान है। रामकथा के मूल उद्‌गम के सम्बन्ध में विद्वान एक मत नहीं है। डा0 बेवर का कहना है कि बौद्ध ग्रन्थ 'दशरथजातक' में वर्णित रामकथा की प्रेरणा को ग्रहण कर आदिकवि ने अपने ढंग से उसको रामायण में विस्तार दिया –

डा0 याकोबी ने रामायण के वर्ण्य विषय के दो भागों में विभक्त किया (1) अयोध्या की घटनाएं जिनके केन्द्र दशरथ है (2) दण्डकारण्य एवं रावण सम्बन्धी घटनाएं। इनकी दृष्टि में अयोध्या की घटनाएं ऐतिहासिक हैं, जिनका आधार किसी निर्वासित इक्ष्वाकुवंशीय राजकुमार से है; और दण्डकारण्य सम्बन्धी घटनाओं का उद्‌गम वेदों में वर्णित देवताओं की कथाओं से हुआ है।

बहुत सम्भव है कि रामकथा की प्राचीनता को मौखिक रूप से सुरक्षित कर सूतवंश ने ही उसको बाल्मीकि तक पहुँचाया हो। यद्यपि रामायण में वर्णित रामकथा की रचना का श्रेय पूरा–पूरा महर्षि बाल्मीकि को ही जाता है, इस सुदीर्घ परम्परा को श्रुतिजीवी रखने का बहुत बड़ा श्रेय सूतवंश को ही था।

---

1. वाल्मीकेः कविसिंहस्य कवितावनचारिणः।
श्रृण्वन् रामकथा नादं को न याति परं पदम्।। संस्कृत साहित्य का इतिहास– डा0 राज किशोर सिंह

राम सम्बन्धी गाथा साहित्य की उत्पत्ति इक्ष्वाकुवंश द्वारा हुई और सूतों द्वारा कविताओं एवं गीतियों के रूप में रचित होकर स्फुट काव्यों की सज्जा लेकर वह लोकविश्रुत हुई।

बाल्मीकि मुनि से भी पहले सूतों एवं कुशीलवों द्वारा प्रवर्त्तित प्रचारित राम सम्बन्धी कथाओं का संकलन कर किसी दूसरे ही मुनि महर्षि ने रामायण काव्य की रचना की। उनका नाम सम्भवतः भार्गव च्यवन था। इसका प्रमाण हमें महाभारत में मिलता है। 'अश्वघोष' के बुद्धचरित महाकाव्य से हमें उक्त बात की सत्यता इस रूप में मिलती है कि च्यवन महर्षि जिस रामकथा की रचना में सफल न हो सका था उसको बाल्मीकि ने पूरा किया यही कारण है कि बाद में च्यवन और बाल्मीकि को एक ही नाम दिया गया। किन्तु यदि च्यवन ऋषि ने सचमुच ही रामकथा को काव्य रूप दिया हो तो उस कथा को आदि रामायण कहा जा सकता है।

बाल्मीकि से पहले रामकथा मौखिक रूप में वर्तमान थी। बाल्मीकि द्वारा रामायण काव्य की रचना हो जाने के पश्चात् उसको सर्वप्रथम कुश, लव ने गाकर सुनाया। रामायण के अन्तर्गत आई हुई राम की कथा भी बड़ी चिन्ताकर्षक तथा आश्चर्यजनक है। रामायण के मुख्यपात्रों की बड़ी ही सुन्दर कलापूर्ण मूर्तियां वैदिक साहित्य में उपलब्ध है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में जनक विदेह का उल्लेख मिलता है। अश्वपति कैकेय के सम्बन्ध में छान्दोग्योपनिषद प्रमाण है।

जनक के पाण्डित्यपूर्ण व्यक्तित्व का वर्णन हमें ब्राह्मण ग्रन्थों आरण्यकों और उपनिषदों में बहुलता से मिलता है।

इस प्रकार वेदों से लेकर ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषद् ग्रन्थो में रामायण के पात्रों की चर्चा समुचित रूप से मिलती है। रामायण में केवल युद्ध एवं विजयों का ही

महाभारत, वनपर्व 173/6
शतपथ ब्राह्मण – 10/6/1/2
छान्दोग्य उपनिषद – 5/11/4
तैत्तिरीय ब्राह्मण – 3/10/9
रामायण बालकाण्ड – 47/11–20

वर्णन नहीं है, अपितु इसमें मानव जीवन तथा प्रकृति के भी अत्यन्त रमणीक चित्र अङ्कित किये गये है।

रामायण के प्रथम बालकाण्ड एवं सप्तम उत्तरकाण्ड को बहुत से विद्वान बाल्मीकि मुनि द्वारा रचित नहीं मानते। उन लोगों का मत है, कि ये दोनों काण्ड तथा पौराणिक उपाख्यान जो बीच–बीच में आते हैं वे बाद में कुशीलवों तथा अन्य कवियों द्वारा जनता की अभिरूचि के अनुसार जोड़े गये है। रामायण के बालकाण्ड में अनेक ऐसी कथाएं आई हैं जो ब्राह्मण धर्म से सम्बन्ध रखती है तथा जिनका उल्लेख रामायण एवं महाभारत में मिलता है। इनमें से ऋषि श्रृङ्ग, वशिष्ठ, विश्वामित्र, शुनःशेप, सगरपुत्र आदि के आख्यान हैं। जो मुख्य कथा के साथ सम्बद्ध है। बाल्मीकि ने राम को एक आदर्श महापुरूष के रूप में चित्रित किया है किन्तु बालकाण्ड में और उत्तरकाण्ड में कुछ ऐसे श्लोक मिलते है जिनमें राम को अवतार के रूप में पूजा गया है। साथ ही साथ इन दोनों की कथा में उतना प्रवाह नहीं मिलता जितना अन्य काण्डों में विद्यमान है। इस प्रकार विंटरनिब्ज आदि विद्वान् प्रथम तथा सप्तम काण्ड को प्रक्षिप्त ही मानते हैं।

बौद्धकवि अश्वघोष (प्रथम शता0 ई0) रामकथा तथा वाल्मीकीय रामायण से भी सुपरिचित थे। उन्होंने अपने महाकाव्य 'बुद्धचरित' में रामायण की घटनाओं तथा विशेषतः सुन्दरकाण्ड से सम्बन्धित प्रसंगों का उल्लेख किया है।

इस प्रकार बाल्मीकिकृत रामायण के कलेवर का मूलरूप क्या था? उसमें कितने श्लोक थे? इस विषय में कहना असम्भव है। वर्तमान समय में इसका जो उपलब्ध स्वरूप है वह मूल रूप न होकर परिवर्द्धित रूप है। इस विषय में बालकाण्ड के चतुर्थसर्ग में एक श्लोक प्राप्त होता है। जिसके आधार पर रामायण के आकार का अनुमान लगाया जा सकता है। अतः निम्न श्लोक के अनुसार– 24 हजार श्लोक 500 सर्ग तथा 6 काण्ड हैं।[1]

---

1. चतुर्विंशत्सहस्त्राणि श्लोकानामुक्त वानृषिः।
तथा सर्गशतान् पञ्च षट् काण्डानि तथोत्तरम्।। बालकाण्ड चतुर्थ सर्ग –

परन्तु यदि बालकाण्ड के इस निम्न श्लोक को प्रामाणिक मान लिया जाय तो प्रक्षिप्त अंश 645 है। इसका तात्पर्य यही है कि हम न तो मूल रामायण के वास्तविक परिमाण के बारे में जानते है और न ही प्रामाणिक स्वरूप के विषय में। इस प्रकार काण्डों के विषय में भी विद्वानों के तीन वर्ग प्राप्त होते ।

(1) प्रथम वर्ग– पूर्ण रूप से बालकाण्ड एवं उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त मानता है।

(2) द्वितीय वर्ग– उपरोक्त काण्डों को आंशिक रूप से प्रक्षिप्त मानता है।

(3) तृतीय वर्ग– यह वर्ग पूर्ण रूप से उन्हें बाल्मीकि प्रणीत मानता है।

उत्तरकाण्ड के प्रक्षिप्त होने का यह प्रबल प्रमाण है, कि युद्धकाण्ड की समाप्ति के बाद ही ग्रन्थ समाप्ति की सूचना सी मिलती है, क्योंकि इसके अन्त में ग्रन्थ माहात्म्य बताया गया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि– अयोध्याकाण्ड से युद्धकाण्ड तक प्रक्षिप्त अंश है ही नहीं। इन काण्डों में भी कई प्रक्षेप हैं जिनकी सृष्टि सूतों एवं कुशीलवों द्वारा हुई, जिसके द्वारा इन कुशीलवों को अपने वागविस्तार का अच्छा अवसर प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार मूल रामायण की कथा सीता परित्याग के साथ ही समाप्त हो जाती है और यह ग्रन्थ आदि से अन्त तक करूण रसात्मक ही बना रहता है। बाल्मीकि का काव्य मानव जीवन के स्थायी मूल्यवान तत्त्वों को लेकर निर्मित किया गया। इस सम्बन्ध में ध्वन्यालोक का निम्न वाक्य प्रमाण स्वरूप है।[1]

इसीलिए संस्कृत की आलोचना परम्परा में 'रामायण सिद्धरस' प्रबन्ध कहा जाता है। विषयवस्तु की विवेचना के अवसर पर 'आनन्दवर्धन' का यह प्रख्यात श्लोक है–

"सन्ति सिद्धरसप्रख्या ये च रामायणादयः।
कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छा रसविरोधिनी।।" ध्वन्यालोक

तात्पर्य यह है कि जिसमें रस की भावना नहीं करनी पड़ती प्रत्युत रस आस्वाद के रूप में ही परिणत हो गया रहता है वह काव्य सिद्धरस कहलाता है और वह है– रामायण।

---

1. रामायणे हि करूणो रसः स्वयमादि कविना सूत्रितः "शोकः श्लोकत्वमागतः" इत्येवंवादिना। निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्त वियोग पर्यन्तमेव स्व प्रबन्धमुपश्चयता।
ध्वन्यालोक – चतुर्थ उद्योत

महाभारत – महर्षि कृष्णद्वैपायनव्यास कृत 'महाभारत' प्राचीन आर्षग्रन्थ है। आदरणीय वीरों की कहानी होने के कारण महाभारत को 'इतिहास' की संज्ञा प्रदान की गयी है। किन्तु इसके रचयिता महर्षि व्यास ने इस ग्रन्थ के लिए 'काव्य' शब्द का प्रयोग किया है। काव्य होने के साथ ही साथ महाभारत भारतीय संस्कृति का एक धर्म ग्रन्थ भी है। इसके द्वारा तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों का पता चलता है। यह ग्रन्थ नीति धर्म, तथा आचार की दृष्टि से भारतीय आत्मा का दर्पण है। इसमें मानव के पुरूषार्थ चतुष्टय का सम्यक् निरूपण हुआ है। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के विषय में जो महाभारत में उपलब्ध होता है, वही अन्यत्र भी प्राप्त हो सकता है और जो यहाँ नहीं है वह अन्यत्र भी नहीं है।[1]

स्वयं 'व्यास' के शब्दों में महाभारत, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, कामशास्त्र आदि सब कुछ है।[2] 'व्यास' जी का कहना है कि कौरव–पाण्डवों के युद्ध का वर्णन ही इस महाभारत का लक्ष्य नहीं है, अपितु इस भौतिक जीवन की निःसारता दिखलाकर प्राणियों को मोक्ष के लिए उत्सुक बनाना है।

महाभारत के अनुसार–भारतीय धर्म रागमूलक होता है। राजा के भय से ही प्रजा एक दूसरे का भक्षण नहीं करती। यदि राजा राज्य का पालन न करे तो धर्म का लोप हो जाय तथा वेदत्रयी का अस्तित्व रसातल में चला जाय। इस प्रकार राजनीति के विशेषज्ञों के लिए भी महाभारत एक उपादेय ग्रन्थ है। इन्हीं सब कारणों से 'ध्वन्यालोककार' 'आनन्दवर्धन' ने 'महाभारत' को 'शास्त्र काव्य' की संज्ञा प्रदान की है तथा शान्त रस को उन्होंने इसका अङ्गीरस स्वीकार किया है। महाभारत का ही एक अङ्ग भगवद्गीता है। महाभारत में काव्यांश के अतिरिक्त धर्मशास्त्र, दानधर्म, मोक्षधर्म आदि विषयों के अतिरिक्त कर्म, भक्ति एवं ज्ञान के ऊपर विशद विवेचन किया गया है।[3]

---

1. धर्मे ह्यर्थे च कामे मोक्षे च भरतर्षभ।
   यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।। महाभारत–
2. अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
   काव्यशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनाभितु बुद्धिनां।। महाभारत – आदिपर्व 2/83/
3. महाभारतेऽपि शास्त्र काव्यरूपच्छायान्वयिनि वृष्णिपाण्डव विरसावसान वैमनस्य
   शरीरस्ये वाङ्गभूतस्य रसस्य च स्वप्राधान्येन चारूत्वमप्यविरूद्धम्।
   अत्रोच्यते–सत्यम्, शान्तस्यैव रसस्याङ्गित्वं महाभारते, मोक्षस्य च सर्व पुरूषार्थेभ्यः
   प्राधान्यमित्येतन्न स्वशब्दाभिधेयत्वेनानुक्रमवयां दर्शितम्। ध्वन्यालोक – चतुर्थ उद्योत

महाभारत की विषयवस्तु का प्रमुख पक्ष वीर भावना है। महाभारत में कौरव–पाण्डव का युद्ध वीर भावना का ही द्योतक है। महाभारत के मूल कथानक का चरमोत्कर्ष एकाङ्गी काव्यभावना में परिणत न होकर पौराणिक एवं इतिवृत्तात्मक विषयों के प्रतिपादन में हैं। इन ऐतिहासिक और पौराणिक वृत्तान्तों के प्रभाव में उसका काव्यपक्ष पराभूत सा हो जाता है।

महाभारत में अट्ठारह खण्ड या पर्व है। इन पर्वों में अनेक अध्याय विद्यमान हैं। इन्हीं अध्यायों में अनेक श्लोक निबद्ध हैं। इस प्रकार रामायण में जहाँ सर्ग, काण्ड व श्लोक ये वहीं महाभारत में पर्व, अध्याय एवं श्लोक हैं। इस प्रकार महाभारत गें जो 18 पर्व है वे अधोलिखित है–

(1) आदि पर्व (2) सभा पर्व (3) वन पर्व (4) विराट पर्व (5) उद्योग पर्व (6) भीष्म पर्व (7) द्रोण पर्व (8) कर्ण पर्व (9) शल्यपर्व (10) सौप्तिक पर्व (11) स्त्री पर्व (12) शान्ति पर्व (13) अनुशासन पर्व (14) अश्वमेघ पर्व (15) आश्रमवासी पर्व (16) मौसल पर्व (17) महाप्रस्थानिक पर्व (18) स्वर्गारोहण पर्व।

महाभारत के इन पर्वों में निहित विषयवस्तु कुछ इस प्रकार है।

आदिपर्व में चन्द्रवंश से सम्बन्धित आख्यान तथा कौरवों और पाण्डवों की उत्पत्ति का वर्णन है। सभापर्व में द्यूतक्रीड़ा का मार्मिक प्रसङ्ग उपस्थित है। वन पर्व में पाण्डवों के वनवास गमन एवं वहाँ पर घटी हुई अनेक घटनाओं का वर्णन है। विराट पर्व में पाण्डवों के अज्ञातवास का निरूपण है। उद्योग पर्व में श्रीकृष्ण दूत का वेश धारण कर कौरवों की सभा में आते है तथा शान्ति का उद्योग करते है। भीष्म पर्व में सुप्रसिद्ध गीता उपदेश अर्जुन को प्रदान किया गया है। युद्ध प्रारम्भ होता है, भीष्म का युद्ध और भीष्म का शरशय्या में पड़ना। द्रोण पर्व में अभिमन्यु की निर्मम हत्या एवं द्रोणाचार्य के पतन का वर्णन है। कर्ण पर्व में कर्ण के सेनापतित्व, कौरवपाण्डवों के भीष्म युद्ध एवं कर्ण के मारे जाने का वर्णन। सौप्तिक पर्व में सेनापति बनाये गये अश्वत्थामा द्वारा रात्रि में सोये हुए पाण्डवों के पांचों पुत्रों की हत्या का मार्मिक प्रसङ्ग उपस्थित है। स्त्री पर्व में युद्ध में मारे गये एवं आहत पुरूषों की स्त्रियों के करूण विलाप का मार्मिक वर्णन है।

शान्तिपर्व में भीष्म द्वारा युधिष्ठिर को मोक्ष धर्म के उपदेश का वर्णन किया गया है।[1] अनुशासन पर्व में धर्म तथा नीति की कथाएं विद्यमान है। अश्वमेघ पर्व में युधिष्ठिर द्वारा अश्वमेघ यज्ञ किये जाने का वर्णन है। आश्रमवासी पर्व में धृतराष्ट्र गान्धारी आदि के द्वारा वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश वर्णन है। मौसल पर्व में यादवों का मूसल द्वारा विनाश का उल्लेख है। महाप्रस्थानिक पर्व में पाण्डवों की हिमालय यात्रा का वर्णन है। स्वर्गारोहण पर्व में पाण्डवों का स्वर्ग में जाना वर्णित है। इस प्रकार आदि पर्व से स्वर्गारोहण पर्व तक कौरव–पाण्डवों के शैशव से लेकर अन्त में परीक्षित पर प्रजापालन का भार डालकर पाण्डवों के स्वर्गारोहण तक का वर्णन है।

इसके अतिरिक्त महाभारत में अनेक शिक्षाप्रद एवं रोचक उपाख्यान भी हैं; जिनमें शकुन्तलोपाख्यान जो कि महाभारत के आदि पर्व में विद्यमान है। मत्स्योपाख्यान जो महाभारत के वन पर्व में है। जिसमें प्रलयकाल में मत्स्य के द्वारा मनु के बचाये जाने का वर्णन है। रामोपाख्यान भी वनपर्व में ही है। शिवि उपाख्यान का वर्णन भी वनपर्व में मिलता है। राजा शिवि ने अपने प्राण न्योछावर कर शरणागत कपोत की रक्षा बाज से की थी। 'सावित्री उपाख्यान' जिसमें महाराज द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान तथा सावित्री के पातिव्रत्य धर्म की पराकाष्ठा का वर्णन इसी महाभारत के वनपर्व में विद्यमान है। इसके अतिरक्ति 'नलोपाख्यान' जिसमें नल और दमयन्ती की प्रणयकथा का सजीव चित्रण है इसी वन पर्व में उपस्थित है।[2]

इसके अतिरिक्त हरिवंश पर्व भी महाभारत का एक अंश समझा जाता है। जिसमें यादवों की कथा का विस्तृत वर्णन विद्यमान है। इस पर्व के भी तीन खण्ड हैं–

(1) हरिवंश पर्व (2) विष्णु पर्व (3) भविष्य पर्व

हरिवंश पर्व में कृष्ण के वंश वृष्णि–अन्धक की कथा विस्तार से दी गयी है। विष्णु पर्व में श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं विशेषतः बाल लीलाओं का साङ्गोपाङ्ग विवरण है। भविष्य पर्व में विविध वृत्तों का पौराणिक शैली में परस्पर असम्बद्ध संकलन है। तात्त्पर्य यह है कि भविष्य पर्व में कलियुग के प्रभाव का विस्तृत वर्णन है।

---

1. महाभारत का काव्य विमर्श – डॉ0 मृदुला त्रिपाठी
2. महाभारत वनपर्व – अध्याय – 274–291

इस प्रकार महाभारत ऐतिहासिक उपाख्यानों, कथाओं एवं ख्यातियों से परिपूर्ण है। इसमें उपदेशात्मक कथाओं की अंधाधुंध भरमार है जो राजनीति के दांवपेंच की कथाओं द्वारा सरल ढंग से समझाए गये हैं।

महाभारत की विषयवस्तु का सम्यक् परिशीलन करने से यह विदित होता है कि उसमें कौरव पाण्डव युद्ध के अतिरिक्त बहुत सी महत्त्वपूर्ण बातों का समावेश है। यह एक विश्वकोश है, एक संग्रह ग्रन्थ है। इसी दृष्टि से इसको प्रत्येक पर्व की पुष्पिका में 'संहिता' कहकर बार–बार स्मरण किया गया है। महाभारत की असामान्य विशेषताओं और अपने गुण बाहुल्य के कारण महाभारत को 'पञ्चमवेद' के रूप में याद किया गया। महासागर स्वरूप इस महाभारत के गर्भ से ही गीता, विष्णुसहस्त्रनाम, अनुगीता, भीष्मस्तवराज और गजेन्द्रमोक्ष नामक पञ्चरत्नों की सृष्टि हुई।

महाभारत में आध्यात्मिक, राजनीतिक, साहित्यिक, सामाजिक सभी विषयों के बीज बिखरे हैं। महाभारत की विषयवृद्धि का यही कारण है कि उसमें साधारण, सूतों, विद्वानों, पुरोहितों और वीतराग साधुसन्तों की विचित्र वाणियों का संग्रह होता गया। इसी कारण इसका नाम 'शतसाहस्त्री संहिता' पड़ा। गुप्त काल के 197 संवत् के एक शिलालेख में महाभारत के उक्त नाम का उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार महाभारत की विषय विविधता स्वतः ही स्पष्ट हो जाती है। विद्वद्जनों का यह कथन उचित ही है– "महाभारत का रचयिता अपने युग की समग्र साहित्यिक एवं सांस्कृतिक निधि को अपनी कला के माध्यम से एक सूत्र में उपनिषद् करने में सफल हुआ।"

यह महाभारत जिसे व्यास ने तीन वर्षों के अथक परिश्रम के बाद रचा था वही यह महाभारत भावी कवियों के लिए उसी प्रकार आश्रय है जिस प्रकार प्राणियों के लिए मेघ।[1]

> "सर्वेषाम् कवि मुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति।
> पर्जन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुमः।।"

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थाय कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम्।। महाभारत आदिपर्व – 56.32

रामायण एवं महाभारत की विषयवस्तु का सम्यक् रूप से अनुशीलन करने पर यह विदित होता है कि रामायण महाकाव्य है तथा महाभारत इतिहास है। रामायण में कथावस्तु की अपेक्षा काव्य चमत्कार अधिक मात्रा में विद्यमान है और उसमें एक ही राम का चरित्र तथा राम–रावण के युद्ध की घटना ही सब प्रकार से प्रमुख है, किन्तु महाभारत में कुछ अंशों को छोड़कर काव्यत्व नहीं के बराबर है इसकी प्रधानकथा में युद्धों के वर्णन के साथ–साथ तत्कालीन राजाओं के इतिवृत्तों का वर्णन विशेष रूप से मिलता है।

रामायण और महाभारत की विषयवस्तु का प्रमुख पक्ष वीरभवना है। रामायण में राम–रावण युद्ध और महाभारत में कौरव पाण्डव का युद्ध उस वीरभावना का द्योतक है। दोनों ग्रन्थों का एक ही उद्देश्य होने के बावजूद दोनों को एक ही कोटि में नहीं रखा जा सकता। रामायण की प्रमुख कथा के साथ अनेक उपकथाएं जुड़ी हैं। जबकि महाभारत का मूल कथानक एकांकी काव्यभावना में परिणत न होकर पौराणिक एवं इतिवृत्तात्मक विषयों से परिपूर्ण है।

रामायण और महाभारत की रचना अलग–अलग युगों में तो हुई है फिर भी इसके रचना का एक निश्चित समय अभी तक निर्णीत नहीं हो सका। डा0 वेबर का कहना है कि रामायण में सुन्दर लालित्य एवं सुबोध रचना मिलती है जो कि उसे महाभारत की अपेक्षा अर्वाचीन सिद्ध करती है जबकि भारतीय परम्परा इसके विरूद्ध है क्योंकि बाल्मीकि आदि कवि माने जाते है जबकि व्यास उसके पश्चात् हुए हैं तात्पर्य यह है कि बाल्मीकि त्रेतायुग के तथा व्यास द्वापर युग के है। बाल्मीकि ने रामचरित वर्णित किया व्यास ने कृष्ण चरित अतः युग की दृष्टि से भी रामायण महाभारत से प्राचीन सिद्ध होती है।

रामायण के कथानक से महाभारत का कथानक अत्यधिक प्रभावित है। महाभारत के रामोपाख्यान में बाल्मीकि रामायण के श्लोक और भाव ज्यों के त्यों है। कहने का तात्त्पर्य यह है कि महाभारत का रामोपाख्यान रामायण का संक्षिप्तीकरण हैं। इसके अतिरिक्त रामायण में वर्णित श्रृङ्गवेरपुर इत्यादि स्थल को महाभारत में तीर्थों जैसा सम्मान प्राप्त है।

रामायण और महाभारत दोनों का भौगोलिक विस्तार भी सिद्ध है। रामायण में भारत की दक्षिणी सीमा विन्ध्य और दण्डक वन तक थी पूर्व सीमा का विस्तार विदेह राज्य तक था, पश्चिमी सीमा सौराष्ट्र परन्तु महाभारत के समय आर्यावर्त का विशेष विस्तार हो गया था। इसकी पूर्वी सीमा गंगासागर संगम तक हो गयी थी। दक्षिणी सीमा चोल मालावार प्रान्त तक थी। इस प्रकार भौगोलिक दृष्टि से भी महाभारत का रामायण के पश्चात् होना ही सिद्ध होता है।

रामायण का समाज आदर्शवादी था। पिता, पुत्र, भ्राता, मित्र आदि सभी आदर्शवाद के पोषक हैं, परन्तु यह आदर्श महाभारत में नहीं दिखाई देता। भीम अपने बड़े भाई की आज्ञा मानने को तैयार नहीं। यहाँ पर विजय तथा राज्यलाभ के लिए चोरी एवं असत्य भाषण में कोई पाप नहीं। इस दृष्टि से भी महाभारत रामायण के पश्चात् सिद्ध होती है।

रामायण में राम–रावण युद्ध के संवादों अथवा कार्य–व्यापारों में उतनी उत्तेजना नहीं दिखाई देती जितनी की कर्ण अर्जुन आदि के युद्ध में है। इन सभी बातों से भी स्पष्ट है कि रामायण की रचना महाभारत से पहले हुई।

रामायण की नैतिक भावना का स्तर महाभारत की अपेक्षा ऊँचा है। परन्तु महाभारत में उस भावना का पर्याप्त ह्रास हो गयाहै। सीता जी को हनुमान अपनी पीठ पर लाने का प्रस्ताव करते हैं, परन्तु सीता पर पुरूष के स्पर्श के दोष के कारण उसे स्वीकार नहीं करती। परन्तु द्रौपदी काम्यक वन में जयद्रथ द्वारा हरण कर ली जाती है और उसके पुनर्ग्रहण में कोई विरोध खड़ा नहीं होता। अतः उक्त कथानक के आधार पर भी रामायण प्राचीन सिद्ध होता है।

इस प्रकार दोनों ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह सुनिश्चित होता है, कि रामायण की रचना महाभारत से पहले और सम्भवतः 'भारत' से बाद में हुई थी। रामायण और महाभारत का अपना एक ऐतिहासिक महत्त्व भी है। दोनों ही भारतवर्ष के आर्षकाव्य हैं। दोनों ही ग्रन्थ भारतीयों के धार्मिक ग्रन्थ है। दोनों ने ही भारतीय जीवन, नैतिक विचारों, धार्मिक विश्वासों और परवर्ती साहित्य को अत्यधिक प्रभावित किया। दोनों ही वैदिक साहित्य के सीमान्तक और लौकिक साहित्य के सीमोदय के प्रारूप हैं।

भावपक्ष एवं कलापक्ष – संस्कृत वाङ्मय में 'बाल्मीकि रामायण' तथा व्यास कृत 'महाभारत' दोनों ही ग्रन्थ भावपक्ष की दृष्टि से समृद्ध हैं। इनमें प्रथम बाल्मीकिकृत रामायण निःसन्देह एक महान् कृति है। उसमें एक ओर तो अपने महान निर्माता की अनुपम पाण्डित्य प्रतिभा का समावेश है, तो दूसरी ओर जिस देश की धरती में उसका निर्माण हुआ वहाँ के सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और आदर्शमय जीवन की समग्रताओं का भी समावेश है। रामायण निःसन्देह संस्कृत साहित्य का आदि महाकाव्य है जिसमें भारतीय आचार–विचार संस्कार सम्बन्धों का और भक्ति भावना का उज्ज्वल निदर्शन है।

रामायण की प्रधान विशेषता यही है कि उसमें दैनिक व्यवहार में आने वाले सभी शिष्टाचारों का विधिवत् पालन हुआ है। पिता–पुत्र में, भाई–भाई में, स्वामी–स्त्री में जो प्रीति और भक्ति का सम्बन्ध है उसको रामायण ने इतना महान् बना दिया कि वह सहज ही महाकाव्यों की कोटि में गिना जाने लगा। हिमालय जितने ऊँचे एवं व्यापक आदर्शों और सागर जैसे गम्भीर विचारों का यदि एक साथ किसी ग्रन्थ में समावेश हो पाया है तो वह है – 'रामायण'

इसलिए 'महाकवि कालिदास'[1] और प्रतिभावान् काव्यशास्त्री 'आनन्दवर्धन' ने बाल्मीकि को न केवल 'आदि कवि' कहा है अपितु एक महान् कवि होने के साथ–साथ उन्हें साधारण क्रौञ्चशोक को श्लोकमयी वाणी में अवतरित करने वाला 'आदि कवि' भी कहा है।[2]

इन्होंने ही पहले पहल लौकिक संस्कृत में काव्यरचना की। रामायण तो अव्याहतज्योति–आर्षचक्षु बाल्मीकि की प्रतिभा का परिणाम है। उनके अन्तःकरण का प्रवाह है। उनके द्रवीभूत आत्मा का निष्यन्द है एवं उनके हार्दिक क्लेश एवं शोक का श्लोकत्व रूप है। यही उनके काव्य माला का प्रथम गुच्छ है। उनका लक्ष्य था मेरा

---

1. तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
   निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमाद्यत यस्य शोकः।। रघुवंश – 14/70
2. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
   क्रौञ्चद्वन्दवियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।। ध्वन्यालोक – 1/5

काव्य अमर हो जन जीवन से साक्षात् सम्बद्ध हो चतुर्वर्ग की प्राप्ति का साधन हो, लोक मनोरंजन के साथ–साथ लोक–परलोक दोनों का साधक हो। इन सभी लक्ष्यों की पूर्ति के लिए उन्हें मर्यादा पुरूषोत्तम राम के अतिरिक्त कोई अन्य नायक नहीं जँचा तथा अपनी काव्य रूपी माला को सुरक्षित रखने के लिए 24 सहस्त्र श्लोकों का ग्रन्थ रामायण रचा।

'रामायण' में बाल्मीकि की सौन्दर्य सृष्टि तथामहनीय काव्यकला का समन्वय है। बाल्मीकि के काव्य की सबसे बड़ी विशेषता 'उदात्तता' है। पात्रों के चरित्र चित्रण में, प्रसङ्गों के वर्णन में, प्रकृति के चित्रण में सर्वत्र उदात्तता स्वाभाविक रूप से विद्यमान है।

राम शोभन गुणों के चतुरचितेरे हैं तथा जानकी दया की प्रतिमूर्ति है। दोनों ही पात्र आदिकवि के काव्य मन्दिर की पीठस्थ दैवी विग्रह है। बाल्मीकि ने रामायण के द्वारा ही रामराज्य की भावना का विकास कर समाज के सम्मुख एक आदरणीय आदर्श प्रस्तुत किया। राम कृतज्ञता की मूर्ति हैं। वे किसी प्रकार किये गये एक भी उपकार से सन्तुष्ट हो जाते हैं, परन्तु सैकड़ों अपकारों का भी वे स्मरण नहीं रखते[1]–

इसी प्रकार रामायण में राम के भ्रातृप्रेम का हमें आकलन तब होता है जब वे लक्ष्मण को भावविह्वल होकर गले लगाते है तथा शक्ति लगने पर अपने अनूठे हृदयगत भाव को व्यक्त करते हैं[2]–

राम की उदात्तता उसी समय दृष्टिगत होती है जब वह शत्रु के भ्राता विभीषण को बिना विचार किये ही आश्रय प्रदान करते है तथा रावणवध के बाद कहते हैं कि– हे विभीषण "बैर का अनत शत्रु के मरण से होता है। रावण की मृत्यु के साथ ही हमारी शत्रुता भी समाप्त हो गयी उसका दाह संस्कार आदि क्रिया करो मेरा भी वह वैसा ही है जैसा तुम्हारा।"[3]

---

1. कथञ्चिदुपकारेण, कृतेनैकेन तुष्यति।
   न स्मरत्यपकाराणां शतमव्यात्मवत्तया।। — रामायण – 2/1/11–
2. देशे देशे कलत्राणि देशे–देश च वान्धवाः।
   तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः।। — संस्कृत साहित्य का इतिहास–पुष्पा गुप्ता
3. मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्।
   क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव।। — सं0सा0 का इति – बलदेव उपाध्याय

इसी प्रकार पतिव्रता जनकनन्दिनी सीता का व्यक्तित्व जो कि शीलता, सम्पन्नता, दयालुता का भण्डार है किसके हृदय को शीतलता एवं शान्ति नहीं प्रदान करता– रावण के प्रति सीता की यह भर्त्सना कितनी उदात्त है–

कि "इस निंदनीय निशाचर रावण से प्रेम करने की बात दूर रही मैं ते इसे अपने पैर से– नहीं–नहीं, बायें पैर से भी नहीं छू सकती"।[1]

इस प्रकार रामायण भावपक्ष की दृष्टि से समृद्ध है। इसमें वीरकाव्य, महाकाव्य, ऐतिहासिक महाकाव्य सभी के गुण समन्वित है। एक ओर नायक की उदात्तता है तो दूसरी ओर नैतिकता का चरमोत्कर्ष है। एक ओर अन्तः प्रकृति का चित्रण है तो दूसरी ओर बाह्य प्रकृति का चित्रण विद्यमान है। इस प्रकार रामायण का भावपक्ष बाल्मीकि की सशक्त लेखनी का ही सम्बल है जिस कारण यह काव्य न केवल महाकाव्य ही बना रहा अपितु ऐतिहासिक महाकाव्य, वीरकाव्य और हिन्दू धर्म का आदर्श धर्म ग्रन्थ सिद्ध हो गया।

रामायण में हृदयपक्ष (भावपक्ष) की प्रधानता होने पर भी कला पक्ष की अह्वेलना नहीं है। भाव भाषा का मञ्जुल समन्वय, सरलता सुबोधता आदि सभी गुण इसमें सन्निहित हैं।

एक विचारक के कथनानुसार– बाल्मीकि रामायण में विषय की उत्कृष्टता, घटनाओं का वैचित्र्यपूर्ण विन्यास, प्रकृति का अत्यन्त सजीव रूप में स्थापन, मानवीय मनोभावों का उदात्तीकरण, रस, अलङ्कार, ध्वनि, छन्द आदि सभी तत्त्वों का सम्यक् रूप से निरूपण होना एक श्रेष्ठ कलाकार की रचना का प्रमाण सिद्ध होता है।

रामायण की भाषा सरस, प्राञ्जल एवं प्रसादगुण युक्त है। भाषा भावों को अभिव्यक्त करने में पूर्णतया सक्षम है। वस्तुतः एक श्रेष्ठ कवि के द्वारा जो गुण एक अच्छी वाणी में बताये गये हैं वे सभी उनकी भाषा शैली में दिखाई देते हैं– यथा–

संस्मराम्यस्य वाक्यानि मधुराणि प्रियाणि च।
हृद्यान्यमृत कल्पानि मनः प्रह्लादनानि च।। आरण्यक– 16.39

---

1. चरणेनापि सत्येन न स्पृशेयं निशाचरम्।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम्।। रामायण – 5/37/62

बाल्मीकि की भाषा में किसी भी प्रकार की अस्वाभाविकता नहीं मिलती है। प्राचीन होने पर कालिदास आदि की भाषा के तुल्य प्रौढ़ता एवं परिष्कार परिलक्षित होता है–[1]

महर्षि बाल्मीकि ने भावों की अभिव्यञ्जना इतने चारू शब्दों में की है कि उसकी निराली छटा देखते ही बनती है। वर्ण्य विषय के अनुरूप भाषा शैली सर्वत्र परिलक्षित होती है–

क्व ते रामेण संसर्गः कथं जानासि लक्ष्मणम्।
वानराणां नरानां च कथमासीत् समागमः।। वा. रामायण

रामायण का मुख्य रस 'करूण' है। काव्य का प्रारम्भ एवं समापन, दोनों ही करूण रस से हुआ है। इस बात को 'ध्वन्यालोककार' ने कहा है– "रामायणे हि करूणो रसः"। ध्वन्यालोक

इस आदि काव्य की उत्पत्ति ही करूण रस से होती है करूण रस के अतिरिक्त अन्य श्रृङ्गार, वीर इत्यादि रसों का भी प्रयोग महर्षि बाल्मीकि ने बड़े ही उदारता से किया है–

अनेक प्रसंगों में मुख्यतः युद्धकाण्ड में वीररस, सीता वियोग में विप्रलम्भ श्रृङ्गार का सुन्दर प्रयोग किया है। श्रृङ्गार रस का एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

"शरत्कालीन नदियाँ अपने–अपने तटों को शनैः–शनैः दिखला रही हैं। जिस प्रकार नये समागम के कारण लज्जाशील सुन्दरियाँ अपनी जंघाओं को धीरे–धीरे खोलती हैं।"[2]

'महाकवि बाल्मीकि' ने अपनी कविता कामिनी को अलङ्कृत करने के लिए अनेक अलङ्कारों का प्रयोग किया है। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति इत्यादि उनके प्रिय अलङ्कार हैं। उत्प्रेक्षा का चमत्कार देखिए।[3]

---

1. रात्रिः शशांकोदित सौम्यवक्त्रा वारागणोन्मीलित चारूनेत्रा।
   ज्योत्स्नांशुक प्रावरणा विभाति, नारीव शुक्लांशुक संवृताङ्गी।। किष्किन्धा– सर्ग 30
2. दर्शयन्ति शरन्नद्यः पुलिनानि शनैः शनैः।
   नवसङ्गम सव्रीडा जघनानीव योषितः।।
3. पतितैः पतमानैश्च पादपस्यैश्च मारूतः।
   कुसुमैः पश्य सौमित्रे क्रीडन्निव समस्ततः।। रामायण– 4/1/13

ऋतुवर्णनों में अलङ्कारों की छटा विशेष रूप से दर्शनीय है– यथा–बादलों में चमकती हुई बिजली की रावण से अपहृत छटपटाती हुई सीता से उपमा–

"नीलमेघाश्रिता विद्युत् स्फुरन्ती प्रतिभाति में।
स्फुरन्ती रावणस्याङ्के वैदेहीव तपस्विनी।।" रामायण–4–28–12

पहले कहे गये वसन्त वर्णन में वायु के फूलों से खेलने की बहुत सुन्दर उत्प्रेक्षा एक गेंद के खिलाड़ी से की गयी है, जिसकी गेंद कभी ऊपर और कभी बीच में होती है। महर्षि बाल्मीकि प्रकृति चित्रण के कुशल चितेरे हैं। अपने महाकाव्य में आदिकवि ने प्रकृति का बहुत ही स्वाभाविक एवं सरल चित्र उपस्थित किया है। कवि ने नगर, ग्राम, पर्वत, नदी, अरण्य, चन्द्रोदय सूर्योदय आदि के वर्णन अत्यन्त सरस भावपूर्ण सजीव एवं रोचक हैं, जैसे– अयोध्याकाण्ड में चित्रकूट वर्णन, अरण्यकाण्ड में वन आश्रम आदि का वर्णन, सुन्दरकाण्ड में चन्द्रोदयवर्णन विशेष उल्लेखनीय हैं। यथ– चन्द्रोदय का उपमा अलङ्कार युक्त वर्णन इस प्रकार है–

हंसो यथा राजतपञ्जरस्थः सिंहो यथा मन्दरकन्दरस्वः।
वीरो यथा गर्वितकुञ्जरस्थश्चन्द्रोऽपिवभ्राज तथाऽम्बरस्थः।। रामायण– 5/5/4

इसी प्रकार कवि ने पावस कालीन मेघों का अत्यन्त श्लिष्ट चित्रण प्रस्तुत करते हुए कहा– मेघरूपी श्यामल मृगचर्म पहले ऊपर से बहती आती श्वेतजल धाराओं को यज्ञोपवीत धारण किये हुए वायुपूरित गुफाओं में होते निःस्वन के बहाने से मानो वेदमंत्रों का उच्चारण करते ये पर्वत वेदपाठी ब्रह्मचारियों से प्रतीत होते हैं–

मेघकृष्णाजिनधराः धारायज्ञोपवीतिन।
मारूतपूरितगुहाः प्राधीता इव पर्वताः।। रामायण

रामायण का प्रमुख छन्द 'अनुष्टुप्' है। रामायण में छन्दों का प्रयोग उचित वैशिष्ट्य को दृष्टि में रखकर किया गया है। कई स्थानों पर मुख्यतः सर्ग के अन्त में इन्द्रवज्रा, उपजाति, आदि छन्दों का प्रयोग भी हुआ है। बाल्मीकि के मुख से निकला हुआ सर्वप्रथम पादबद्ध श्लोक अनुष्टुप छन्द में ही था। इसलिए विद्वान उन्हें अनुष्टुप छन्द का रचयिता भी कहते हैं। जैसे– आकाश की उपमा आकाश से दी जाती है और

समुद्र की उपमा समुद्र से दी जाती है– उसी प्रकार राम–रावण युद्ध की तुलना राम–रावण युद्ध से ही की जा सकती है।

सागरं चाम्वरं प्रख्यमम्बरं सागरोपमम्।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव।।

रामायण का पदविन्यास, वैदर्भी शैली से मण्डित है। इसमें भाषा की सुगमता और भावों की सरलता व्याप्त है। यद्यपि यह संस्कृत का आदिकाव्य है किन्तु इसमें भरत, अश्वघोष, कालिदास जैसे जैसे कृतियों की प्रौढ़ि और दर्शन की न्यूनता नहीं है।

बाल्मीकि ने सुभाषितों और अर्थात्तरन्यास अलङ्.कार के विविध विधानों द्वारा अपने महाकाव्य को परवर्ती महाकवि 'भारवि' के समान अर्थ गौरव से सुसमृद्ध किया। इस प्रकार महाकवि केवल विविध विषयों में पारङ्गत ही नहीं थे, बल्कि उनके मार्गद्रष्टा भी थे।

राम जैसे उदात्त चरित को काव्य का आश्रय बनाकर बाल्मीकि ने भारतीय संस्कृति में एक नया मोड़ ही नहीं दिया, किन्तु एक ऐसे साहित्य को प्रवृत्त किया जो आज भी निर्बाध गति से प्रवाहित हो रहा है।

'रामायण' भारतीय साहित्य का पहला महाकाव्य होते हुए भी विश्व साहित्य के प्राचीनतम महाकाव्यों की तुलना में भाषा, भाव व छन्द, रचनाविधान एवं रस व्यञ्जना सभी दृष्टियों से एक उत्कृष्ट कृति प्रमाणित हो चुका है।

बाल्मीकि के जीवन का एक मात्र उद्देश्य ज्ञानार्जन करना ही था। रामायण की लोकप्रियता तथा परवर्ती साहित्य पर रामायण के प्रभाव को देखकर उसकी लोकप्रियता सहज ही मालूम हो जाती है, क्योंकि बाल्मीकि के महाकाव्य का आश्रय लेकर ही संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश इत्यादि काव्यों की सृष्टि हुई है। तात्पर्य यह है कि महाकाव्य रामायण से प्रभावित होकर ही कितने परवर्ती कवियों ने संस्कृत साहित्य में ही नहीं अपितु भारत की अनेक भाषाओं में विपुल साहित्य की सृष्टि कर भारतीयों के समक्ष एक ऐसे आदर्श की स्थापना की जिससे भारतीय संस्कृति का सारे अर्थों में परमोत्कर्ष सम्भव हो सका। रामायण की प्रशंसा में नलचम्पूकार ने कहा है–

सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सुकोमला।
नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा।। नलचम्पू–

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आदिबाल्मीकि द्वारा प्रणीत यह आदि काव्य पुण्य जल से युक्त नदी के सदृश है जिसमें अवगाहन कर पाठक तथा कविगण स्वयं को पवित्र करते हैं तथा रसमयी काव्य शैली का आस्वादन भी करते हैं।

रामायण के लिए दी गयी ब्रह्मा की भविष्यवाणी अक्षरसः सत्य है– यथा –
यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद् रामायण कथा लोकेषु प्रचरिष्यति।। बालकाण्ड – 2.36.37

आदि काव्य रामायण के समान महाभारत भी भावपक्ष तथा कलापक्ष दोनों के वैशिष्ट्य से समन्वित है। महाभारत एक विशालकाय ग्रन्थ है। इस महाकाव्य में भारतीय सभ्यता का भव्य रूप प्रस्फुटित हुआ है। महाभारत मुख्य रूप से इतिहास ग्रन्थ है। इसमें हिन्दू धर्म एवं भारतीय सभ्यता का जैसा सुन्दर चित्रण मिलता है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं है। महाभारत के शब्दों में – ''यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्''

अध्यात्म धर्मनीति का जितना विशद् विवेचन महाभारत में किया गया वैसा और कहीं नहीं उपलब्ध होता है।

महाभारत की मुख्य घटना कुरूक्षेंत्र में हुआ कौरव पाण्डव युद्ध है। परन्तु इसकी विशेषता यह भी है, कि इसमें प्रत्येक पात्र से सम्बद्ध अपनी एक पृथक् पूर्वकथा भी है और उन सब कथाओं का समावेश इसमें किया गया है। यह महर्षि व्यास की चहुमुखी प्रतिभा का ही कमाल है।

महाभारत भारतीय साहित्य का आकर ग्रन्थ है जिसमें तत्कालीन सांस्कृतिक, साहित्यिक आदि विषयों का समन्वय है। महाभारत के सार्वभौमिक विकास को देखकर उसको न तो हम वैदिक ग्रन्थ कह सकते हैं न पुराण ही, न इतिहास ही, न महाकाव्य ही, न एक धर्मग्रन्थ ही और न केवल सामाजिक सांस्कृतिक चेतना का प्रतिनिधि ग्रन्थ ही। वस्तुतः यह एक वृहद्राष्ट्र का ज्ञान सर्वस्व होने के कारण आर्ष ग्रन्थ भी है। इसमें भावपक्ष इतना प्रबल है, कि कलापक्ष की चमत्कारिता का थोड़ा ह्रास हो गया है। महाभारत का कथानक पहले–पहल अपने वीरगीतों के रूप में प्रचलित था। महाभारत

का ही एक अंग भगवद्गीता है जिसमें भक्ति, ज्ञान एवं कर्म का दृष्टान्त दिया गया है। इन्हीं सब कारणों से महाभारत को 'पञ्चमवेद' की संज्ञा दी गयी। इस प्रकार महाभारत का भाव पक्ष हर दृष्टि से परिपूर्ण है उसमें भारत की गरिमा अनेक रूपों में समाहित है।

महाभारत की भाषा रामायण की ही भांति सरस एवं लालित्यपूर्ण है। अलङ्.कार रहित होने पर भी प्राञ्जल एवं प्रवाहमयी है। कवि ने वैदर्भी रीति को अपनाया है। लेकिन मुख्य रूप से पाञ्चाली शैली "शब्दार्थयोः समोगुम्फः पाञ्चाली रीतिरिष्यते"। का प्रयोग किया है–

इस प्रकार भाषा में स्निग्धता एवं सरलता हैं। रस के अनुरूप भाषा का वैविध्य भी परिलक्षित होता है–

"कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयों मा भूद् राजा कालस्य कारणम्।।" उद्योग0 132–16

महाभारत का मुख्य छन्द अनुष्टुप है, किन्तु अन्य स्थानों पर भिन्न–भिन्न इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा इत्यादि अलङ्.कारों का भी प्रयोग दृष्टिगत होता है।

महाभारत का मुख्य रस 'शान्तरस' है। यह पूरे ग्रन्थ में आदि से लेकर अन्त तक विद्यमान है पर मुख्य रूप से सौप्तिक पर्व से प्रारम्भ होता है तथा स्वर्गारोहण पर्व में जाकर समाप्त होता है। यद्यपि महाभारत में अनेक अंगकृत रसों का प्रयोग दृष्टिगत होता है किन्तु वीर और अद्भुत उल्लेख्य है। श्रृङ्गार रस का प्रयोग बहुत ही अल्प मात्रा में हुआ है, उद्योग, भीष्म, द्रोण, इत्यादि पर्वों में वीर रस की धारा अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित है। अन्य रस गौण है। वीर व श्रृङ्गार रस का उदाहरण निम्न है–

अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तन विमर्दनः।
नाभ्यूरूजघनस्पर्शी नीवी विस्त्रसनः करः।। का0प्र0 पञ्चम उल्लास – पृ0 199

महाभारत में अलङ्कारों का प्रयोग स्वाभाविक है। भाषा के प्रवाह में यथावसर भावात्मक चित्रों को प्रदर्शित करने के लिए उपमा, रूपक, उत्पेक्षा का प्रयोग सहज एवं स्वाभाविक है। अर्थान्तरन्यास अलङ्.कार सर्वाधिक रूप से दृष्टिगत होता है। इसके उदाहरण सहस्त्राधिक है। यमक और अनुप्रास का प्रयोग भी अत्यन्त स्वाभाविक है। अलङ्कार का एक सुन्दर प्रयोग दृष्टव्य है।

पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदंन कारयेत्।

मालाकार इवारामे, न यथाऽङ्गारकारकः।। उद्योग पर्व – 34–18

इस प्रकार के ज्वलन्त उदाहरण महाभारत में उपलब्ध हैं। साथ ही नीतिशिक्षा एवं कूटनीति विषयक सूक्तियाँ भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। यथा–

सुलभाः पुरूषाराजन् सततं प्रियवादिनः।

अप्रियस्य च पथ्यस्य, वक्ता श्रोता च दुर्लभः।। उद्योग पर्व – 37–15

रामायण एवं महाभारत की शैलियों एवं उनके द्वारा अनुप्राणित काव्य परम्परा को लक्ष्य में रखकर सहज ही कहा जा सकता है कि महाभारत की अपेक्षा रामायण में काव्योत्कर्ष गुण एवं अन्विति की अधिकता है। इसलिए महाभारत प्रधानतया इतिहास तथा गौणतया महाकाव्य है। किन्तु इसके विपरीत रामायण प्रधानतया महाकाव्य और गौणतया इतिहास है।

व्यास का लक्ष्य कौरव पाण्डव युद्ध मात्र न होकर इस जगत् की क्षणभंगुरता का अवलोकन कराकर जीवों को परम ज्ञान के द्वारा मोक्ष के प्रति उन्मुख कराना है। और इसीलिए उन्होंने उसकी परिणति अङ्गी रस शान्त में की। वैसे तो सम्पूर्ण महाभारत ज्ञान का भण्डार है, तो भी उद्योग पर्व, भीष्म, अनुशासन पर्व अधिक महत्त्व के हैं। गीता समस्त उपनिषदों की सार है। महाभारत हमें एक ऐसे कर्तव्य पर चलने की प्रेरणा देता है जो उचित है। सत्य और धर्म ही उस महाकाव्य का उद्देश्य है।

महाभारत हमें जो कुछ युधिष्ठिर ने किया वह सब करने के लिए और जो कुछ दुर्योधन ने किया उससे बचने के लिए प्रेरित करता है।

महाभारत का वास्तविक उद्देश्य है– मनुष्य जाति को भौतिक जीवन की निःसारता दिखलाकर उसे मोक्ष मार्ग पर निर्दिष्ट करना।

इसीलिए काव्य शास्त्रज्ञों ने महाभारत को शान्तरस प्रधान ग्रन्थ माना।[1]

महाभारत में लोक कल्याण की राजकीय योजनाएं – डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्र

1. महाभारतेऽपि शास्त्रकाव्य रूपच्छायान्वयिनि वृष्णिपाण्डव विरसावसान वैमनस्यदायिनि समाप्तिमुप निबध्नता महामुनिना वैराग्य जननं तात्पर्य प्राधन्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरूषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया सूचितः। ध्वन्यालोक चतुर्थ उद्योग

'आनन्दवर्धन' ने कहा है, कि महाभारत का मुख्य उद्देश्य सांसारिक वस्तुओं की निरर्थकता सिद्ध कर धर्म, वैराग्य शान्ति व मोक्ष की प्राप्ति ही है। महाभारत की कथा धर्म और अधर्म के मध्य होने वाले संघर्ष की कथा है।

व्यास ने कहा है–

ऊर्ध्वबाहुः विरौम्येष न च कश्चिच्छ्रुणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।। महाभारत

महाभारत का माहात्म्य इसी दृष्टि से स्पष्ट है– इसके विषय में व्यास ने स्वयं कहा है– "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति"।

महाभारत की प्रशंसा में नलचम्पूकार ने लिखा है–

कर्णान्तविभ्रमभ्रान्त कृष्णार्जुन विलोचना।
करोति कस्य नाह्लादं कथा कान्तेव भारती।। नलचम्पू – 1/11

महाकवि वाण ने हर्षचरित में वेदव्यास की वंदना इन शब्दों में की है–

"नमस्तुङ्गशिरश्चुम्बिचन्द्रचामरचाखे, त्रैलोक्यनगरारम्भमूलस्तम्भाय शंभवे
हरकण्ठग्रहानन्दमीलिताक्षीं नमाम्युमाम् कालकूट विषस्पर्श जातमूर्च्छागमामिव
नमः सर्वविदे तस्मै व्यासाय कवि वेधसे चक्रे पुण्यं सरस्वतया योवर्षमिव भारतम्
कथेव भारती यस्य न व्याप्नोति जगत्त्रयम्
उच्छ्वासान्तेऽप्य खिन्नास्ते येषां वक्त्रे सरस्वती।। हर्षचरित – 1/3–9

बाल्मीकि एवं व्यास दोनों ही अनेक भारतीय काव्य कृतियों के प्रेरक हैं। इनके रामायण एवं महाभारत आदि उपजीव्य काव्य हैं जिनसे अनेक काव्य मन्दाकिनियों का प्रवर्तन हुआ है। इन दोनों कृतियों के परिशीलन से यह प्रत्यक्ष हो जाता है, कि इनमें काव्य मनीषियों ने किस हृदयावर्जक ढंग से उक्त सभी तत्त्वों की रूचिर अभिव्यक्ति की है। दोनों ही काव्य अन्याय पर न्याय तथा अधर्म पर धर्म की विजय के रमणीय गीत गाते हैं।

रामायण और महाभारत दोनों का लक्ष्य जीवन की रसमयी समालोचना प्रस्तुत करना रहा है। बाल्मीकि तथा व्यास दोनों ने ही अपनी उक्त काव्य कृतियों का अन्तिम लक्ष्य कर्म एवं धर्म की चरम परिणति मोक्ष में ही किया है।

महाभारत में धर्म – डा0 शकुन्तला रानी तिवारी

संस्कृत साहित्य भारतीय जनमानस की संस्कृति का प्रतीक है, क्योंकि साहित्य ही भारत का गौरव एवं आधारपीठ स्तम्भ रहा है। प्रत्येक देश के साहित्य में उस देश के निजी गुण–दोष प्रतिबिम्बित होते रहते हैं।[1]

भारतीय संस्कृति के दो आधारपीठ स्तम्भ है– 1. 'भोग और 2. त्याग'। वह चार्वाकी संस्कृति के समान न केवल भोग प्रधान है और न श्रमण संस्कृति के समान केवल त्याग प्रधान है, बल्कि भोग एवं त्याग की समष्टि ही हमारी संस्कृति का मेरूदण्ड है। ईशोपनिषद् में उल्लिखित इस सूक्ति का भाव यही है–

"तेन त्यक्तेन भुञ्जीयाः मा गृधः कस्यस्विद् धनम्"[2]

लौकिक संस्कृतसाहित्य की 'क्लैसिकल' काव्य–परम्परा को न केवल आदिकवि तथा व्यास के अमरकाव्यों से सम्बद्ध मानना होगा, अपितु उसे आर्य संस्कृति के उषःकाल में उदित मन्त्रदृष्टा ऋषिमहर्षियों की सुनृता वाणी से उद्भूत मानना होगा जो प्रारम्भ काल से ही जनमानस को प्रभावित करती चली आ रही है।

इस तरह काव्य का उद्भव वेदों से ही माना जाता है, जो आज भी अपने अविरल धाराओं को प्रवाहित करता हुआ आगे विकास के पथ पर अग्रसर होता आ रहा है। लौकिक–संस्कृत की राष्ट्रीय भारती वह सबसे बड़ी कड़ी है जो प्रागैतिहासिक काल के वैदिक साहित्य से आज के साहित्य की कड़ियों को जोड़ती है। ऋग्वेद के प्रख्यात पुरूष सूक्त (10/90) में पुरूष के मुख, बाहु उरू तथा पाद से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण के उत्पन्न होने की बात कही गयी है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि फलतः वैदिक युग में वर्ण तथा आश्रम का उद्भव किसी न किसी प्रकार हो गया था। सूत्रकाल में (1000ई–400ई0) इसके आचार–विचार एवं नियमों के विषय में विस्तृत विवेचन हमें धर्मसूत्रों से प्राप्त होते है। उस समय ये नियम आचार–विचार उतने कड़े

---

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास – कलानाथ शास्त्री
2. संस्कृत साहित्य का इतिहास – बलदेव उपाध्याय

नहीं थे, किन्तु ज्यों–ज्यों समय बीतता गया इनमें जटिलता आती गयी। धर्मशास्त्रीय नियमों के प्रतिष्ठाता रूप में मनु की ख्याति वैदिक काल के उत्तरोत्तर काल में अवश्य थी। इससे यह प्रतीत होता है कि साहित्य के उदय के पूर्व ही विद्वद्‌गण अपनी कृतियों में धर्म के मूल स्वरूप एवं आचार–विचार के नियमों में श्रद्धा रखने लगे थे। उन्होंने जिस सामाजिक परिवेश का वर्णन किया वह धर्मशास्त्रों द्वारा ही अनुमोदित प्रतीत होता है। ऐसे परिवेश में रहने वाले मनीषियों का यह कर्तव्य होता था कि वे धर्मानुमोदित प्रणय का ही चित्रण जगत् के कल्याण एवं हित के लिए करें। उच्छृङ्खल प्रणय के प्रसङ्ग का वहाँ कोई अवसर ही नहीं आता था। संस्कृत सुधीजनों के पास एक श्रेष्ठ आदर्श दीर्घकाल से प्रतिष्ठित था, जिसका उन लोगों ने बड़े सात्त्विक ढंग से पालन करना चाहा था। जिससे यह नहीं समझना चाहिए कि उनके पास उच्छृङ्खल प्रणय का चित्रण ही नहीं है– ऐसे चित्रों की भरमार विशेष रूप से हमें रूपको में मिलते है, जिन्हें 'सामाजिक नाटक' (वर्तमान समय में) कहा जाता है।

कालिदास के रघुवंशी नरेश वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा के रक्षक थे। वे बाल्यावस्था से विविध विद्याओं में पारंगत होते थे, यौवनकाल में सन्तानोत्पत्ति की इच्छा रखते थे तथा प्रौढावस्था में सन्यासी का रूप धारण कर वनों एवं आश्रमों में निवास करते थे।[1] इसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि फलतः वर्णाश्रम का अनुसरण संस्कृत काव्य का प्रथम वैशिष्ट्य माना जाता है।

संसार के मौलिक तत्त्वों का चिन्तन–मनन साथ ही दार्शनिक समस्याओं का समाधान करना भी भारत देश की मुख्य विशेषता रही है। वैदिक ग्रन्थों में भी हमें इन तात्त्विक चिन्तनों की झलक दिखाई देती है। आगे चलकर संहिता काल की भावना ने उपनिषद्‌काल के चिन्तन को जन्म दिया। औपनिषदिक तत्त्वज्ञान का पर्यवसान 'तत्त्वमसि' महाकाव्य तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' में था। प्रातिभज्ञान से इस अद्वैत ज्ञान का स्फुरण पहले हुआ। तर्क से इसकी प्रतिष्ठा पीछे सिद्ध की गयी। विश्व की उत्पत्ति,

---

1. शैशवेऽभ्यस्त विद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्।। रघुवंश 1/8

स्थिति आदि समस्याओं के समाधान के लिए हमारे षड्दर्शनों का उदय हुआ। सांख्य तथा मीमांसा दोनों दर्शन आदृत हुए। सांख्य का आरम्भिक चिंतन वैदिक होते हुए भी अनीश्वरवादी था। सांख्य की ही कार्यकारणवादी सरणि को लेकर ही योगदर्शन का उदय हुआ, जिसने साधना के व्यावहारिक पक्ष पर साथ ही परम पुरूष जैसी अलग सत्ता पर जोर दिया। इसी बीच बौद्धों का अनीश्वरवादी अवैदिक दर्शन भी पल्लवित हुआ था, जो आगे चलकर वैदिक दर्शन के चरम परिपाक अद्वैतवाद को आविर्भूत करने में भी हॉथ बटाया।

कुछ ही समय बाद दो प्रकाण्ड दार्शनिक विद्वान् पैदा हुए, जिनमें कुमारिलभट्ट तथा शंकराचार्य है। इन लोगों ने अपने–अपने दार्शनिक ग्रन्थों द्वारा क्रमशः पूर्व प्रचलित मीमांसा दर्शन तथा वेदान्तदर्शन की प्रतिष्ठाकर रसपेशल उक्तियों द्वारा अपने सिद्धान्त को लोकप्रिय बनाया। यद्यपि इन दर्शनों का उदय तो बहुत पहले ही हो चुका था, परन्तु इनका विकास संस्कृत काव्य के विकास के समानान्तर ही हुआ। इसलिए इनका प्रभाव संस्कृत कवियों पर भी पड़ा। कालिदास की दार्शनिक पृष्ठभूमि सांख्य तथा योगदर्शन के द्वारा प्रभावित हुई, माघ की मीमांसा तथा सांख्य योग से, श्रीहर्ष अद्वैतवाद के कट्टर अनुयायी थे। इसके अलावा कहीं–कहीं इन कवियों ने अपनी अभिरूचि बौद्ध तथा जैन दर्शनों में भी पर्यवसित की है। ऐसे वातावरण में संस्कृत के कवियों का भारतीय दर्शन से प्रभावित होना स्वाभाविक था।[1]

प्रायः यह देखने को मिलता है कि संस्कृत का कवि अपनी कविता को कलात्मक रूप से संजाने सॅवारने का प्रयास करता रहता है। इस कविता की सजावट को हम 'नक्काशी' के नाम से सम्बोधित कर सकते हैं। प्राचीन कवि अपनी कविता रूपी वनिता को बाह्य साधनों से नहीं अलङ्कृत करते, प्रत्युत उनकी कविता बिना किसी अलड्.करण के ही सहृदयों को रिझाती है, क्योंकि उसमें नैसर्गिकता एवं स्वाभाविकता कूट–कूट कर भरी होती है। क्रौञ्चवध से उद्वेलित महर्षि वाल्मीकि के मुख से

---

1. बलदेव उपाध्याय – संस्कृत साहित्य का इतिहास

"मा निषाद प्रतिष्ठां" की वैखरी जब सद्यः प्रस्फुटित हो चली, काव्य के यथार्थ स्वरूप की वास्तविकता का ज्ञान सुधीजनों को तभी हुआ, कि काव्य सिन्धु रस के कूल को ही आश्रित कर अपना अमिट दिव्य प्रवाह बहाती चलेगी।

महर्षि वाल्मीकि लौकिक संस्कृत के प्रथम कवि होने के अतिरिक्त आलोचक भी थे, जिन्होंने करूणमय, शोक तथा श्लोक का समन्वय सर्वप्रथम प्रचलित किया।[1] ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने असंलक्ष्यक्रम रसध्वनि को ही काव्य की आत्मा माना।[2] वह इसी ऐतिहासिक आधारस्तम्भ पर प्रतिष्ठित तथ्य है। इस प्रकार संस्कृत महाकाव्य की कल्पना का मूल आधार वाल्मीकि रामायण है, उसी का विश्लेषण कर मनीषियों ने महाकाव्य की रूपरेखा निर्धारित की। काव्यालङ्कारकार दण्डी तथा काव्यालंकार सार रूद्रट के अलङ्कार ग्रन्थों में विद्यमान महाकाव्य की भावना का उत्थान आर्षकाव्य रामायण के अन्तरङ्ग विश्लेषण से जन्य है। प्रसिद्ध आलङ्कारिक आचार्य भामह ने भी अलङ्कारार्थ वक्रोक्ति की सत्ता नितान्त रूप से स्वीकार की है।[3] वक्रोक्ति के अत्यधिक अनुराग से एक नवीन काव्य–मार्ग का जन्म हुआ, जिसे आचार्य कुन्तक ने 'विचित्र–मार्ग' नाम दिया। अलङ्कारों का प्रयत्न पूर्वक सन्निवेश, सजावट की उत्कृष्ट कल्पना, अतिशय उक्ति का चमत्कारी विन्यास, झङ्कृत पदावली इत्यादि विशेषताएं इस विचित्र मार्ग की निजी पहचान थी। यह भी उतनी ही स्पृहणीय एवं श्लाघनीय है जितनी दूसरी वाक्शैली। संस्कृतज्ञ कवियों ने इन्हीं में से एक को अपनी काव्य रचना का पथनिर्देशक बनाया। कालिदास वाल्मीकि की शैली के सुकुमार मार्ग के अग्रणी कवि रहे तथा परवर्ती भारवि, माघ इत्यादि कवि विचित्र मार्ग के पथप्रर्दशक बने। इसी कलात्मक विशेषता ने संस्कृत काव्यधारा की परम्परा को आगे बढ़ाने में सहायता प्रदान किया।

---

1. समाक्षरैश्चतुर्मिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा।
   सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः।। — रामायण– 1/2/40
2. क्रौञ्चद्वन्द्व वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः। — ध्वन्यालोक – 1/5
3. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
   यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना।। — भामह– काव्यालङ्कार

संस्कृत साहित्य नागरिक जीवन का साहित्य है। संस्कृत साहित्य का प्रत्येक नागरिक अत्यधिक समृद्ध एवं विलासी जीवन व्यतीत करता है। नागरिक के निवास स्थान की यह झलक मेघदूत के यक्ष के निवास–स्थान में, माघ के द्वारिका वर्णन में, मृच्छकटिक के चारूदत्त तथा वसन्तसेना के घरों में देखी जा सकती है। संस्कृत के कवियों का सम्बन्ध सर्वदा वैभवशाली महीपालों से स्थापित था। इन्हीं राजाओं के आश्रय में ही रहकर कविजन अपनी प्रतिभा का विस्तार करते थे। नागरिक का जीवन संगीत, साहित्य, चित्रकला, नृत्यकला और प्रकृति–निरीक्षण की कलात्मकता से समवेत रहता था। सुखमय एवं ऐश्वर्यपूर्ण जीवन बिताना ही उनका परम लक्ष्य होता था। उसके प्रत्येक कार्य में हमें सौन्दर्य एवं माधुर्य के दर्शन होते थे। नागरिक के ये सभी सहज परिकर उसके कला–प्रेम के भव्य निदर्शन थे। ऐसी स्थिति में काव्यों में भावों की नागरिकता, भाषा का सौष्ठव एवं ग्राम्यता का अभाव आदि गुणों का दृष्टिगोचर होना स्वाभाविक ही है।

इन सभी विशेषताओं के अतिरिक्त संस्कृत कवियों का तपोवन इत्यादि के प्रति भी स्वाभाविक आकर्षण दिखाई देता है। कालिदास की दृष्टि में लक्ष्मी के ललित निकेतन राजभवनों का उतना मूल्य नहीं है जितना कौपीनधारी तपस्वियों के निसर्ग सुन्दर आश्रमों का। वे आश्रम की मधुरिमा पर मुग्ध होते हैं। आश्रम, वृक्ष, वन इत्यादि के वर्णन कवि के हृदय में एक रागात्मिका वृत्ति के उदय में सहायक बनते हैं। रघुवंश के प्रथम सर्ग में जिसका वर्णन साक्षात् रूप से देखा जा सकता है।[1] आश्रम के इन विचित्र दृश्यों में रमण करने वाले कवि को हम जनजीवन से पराङ्.मुख कैसे मान सकते है। ऐसे शोभन चित्र किस सरस कवि के चित्त को अपनी ओर नहीं खींच लेगा।[2]

भारवि को भी गोप एवं गोपियों के सरल जीवन से गहरी सहानुभूति है। गायों के पीछे चलने वाले पशुओं के साथ भाई–चारा रखने वाले, जंगल को ही अपना घर

---

1. सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम्।
   विश्वासाय विहङ्गानामलवालाम्बुपायिनाम्।। — रघुवंश – 1–51
2. आत्पात्यय संक्षिप्तनीवारासु निषादिभिः।
   मृगैर्वर्तितरोमन्थमुटजाङ्गनभूमिषु।। — रघुवंश – 1–52

समझने वाले तथा पशुओं के द्वारा सरलता के विषय में अनुकरण किये जाने वाले गोपगण हमारे कवि हृदय पर गहरी छाप डालते हैं।[1] इस प्रकार भारवि का हृदय मानवता तथा मैत्री के सच्चे स्नेह से परिपूर्ण था। पल्लवों के राजाश्रय में अपना जीवन बिताने वाले भारवि का हृदय जनसाधारण की भावनाओं से सहानुभूति रखता है। इससे यह प्रतीत होता है कि कवियों की सहानुभूति केवल मानव तक ही सीमित नहीं रहती, प्रत्युत वह पशु–पक्षियों के आचरण तथा व्यवहार के निरीक्षण में पटु तथा समर्थ थी।

कवि लोग 'तपोवन' को भी भारतीय संस्कृति का एक अविभाज्य अङ्ग मानते थे। वाल्मीकि, कालिदास आदि सभी ने एक से एक रमणीय दृश्यों का अपने–अपने काव्यों में गुणगान किया। शाकुन्तल के आरम्भ में ही आश्रम की यह छवि कितनी स्निग्ध कितनी सुन्दर तथा कितनी मधुर है।[2]

"तपोवन के वृक्षों के कोटरो में तोतों के बच्चे आराम कर रहे हैं, सुग्गों ने नीवार के दानों को अपने बच्चों के मुँह में डाल रखा है, सहज विश्वास के उत्पन्न होने से मृग शब्दों को सुनकर भी ज्यों–के–त्यों खड़े रहते है, सरोवर को जाने वाले मार्ग वल्कल वस्त्र से चुये हुए जल की बूंदों से चिह्नित है।"

रघुवंश के प्रथम सर्ग में आश्रम के पशु–पक्षियों का आपस में प्रेम कितना सहज एवं सुकुमार है। ऐसे स्वाभाविक स्नेह से परिपूर्ण तपोवन के दृश्य हमारे रोम–रोम को प्रफुल्लित कर देते हैं। इतनी सद्भावना पूर्ण नैसर्गिक प्रेम को हम क्या संस्कृत कवि भूल सकता है। इसीलिए कविजनों ने काव्यों में तपोवन के लिए निर्मल–स्वैच्छिक वर्णन को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया।

ये तपोवन भारतीय संस्कृति के धरोहर हैं, जो आध्यात्मिकता तथा कमनीयता के सर्वोत्कृष्ट कार्यस्थल हैं। इसी सभ्यता एवं संस्कृति का जो अध्ययन ऋषियों ने कराया

---

1. गतान् पशूनां सहजन्मवन्धुतां गृहाश्रयं प्रेम वनेषु विभ्रतः।
   ददर्श गोपानुपधेनु पाण्डवः कृतानुकारानिव गोभिरार्जवे।। किरात0– 4/13
2. "नीवाराः शुकगर्भकोटरमुख भ्रष्टास्ततरूणामधः।
   प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।। अभिज्ञानशाकुन्तल– 1/14

वह इसी तपोवन में ही परिवर्धित एवं विकसित हुआ। इसका ऐतिहासिक दृष्टान्त हमारे सामने है कि रघु का जन्म महाराज दिलीप के आश्रम निवास तथा गोसेवा का परिणत फल है। अयोध्या नगरी की जनता ऐसे आदर्श भूत महीपति के गुणों का वर्णन जितना भी करे उतना कम है। इस प्रकार जीवन को आध्यात्मिक भावना से पूर्ण करने तथा क्षुद्र स्वार्थों के बलिदान का, परस्पर मैत्री तथा सहानुभूति का सुन्दर सन्देश आज भी हमारे तपोवन दे रहे हैं। इस प्रकार प्रकृति की यह भाव प्रेरक शक्ति कल्पित नहीं, किन्तु यथार्थ है यही कालिदास का मत है।

"मधुद्विरेफः कुसुमैक पात्रौ पपौप्रियास्वामनुवर्तमानः।" कुमार0 3/36

इस प्रकार कालिदास इत्यादि कवि आर्य संस्कृति के प्रतिनिधि ठहरे। उन्होंने कुमार सम्भव में इसके महत्त्व को बड़े ही सुष्ठ शब्दों में व्यक्त किया है–

"इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः।।

कुमार0– 5/2

इसके अलावा संस्कृत काव्यों में प्रेम के रसमय वर्णन का भी अपना वैशिष्ट्य है और यह प्रेम रूढ़िग्रस्त तथा सहज प्रतिभा जन्य भेद से दो प्रकार का होता था। रूढ़िग्रस्त प्रेम का वर्णन ज्यादातर भारवि, माघ इत्यादि के काव्यों में प्राप्त होता है तथा सहज प्रतिभाजन्य प्रेम का वर्णन हमें वाल्मीकि तथा कालिदास के काव्यों में प्राप्त होता है जिसमें साधना के सहारे दोषपूर्ण काम भी पूर्ण शुद्ध और परिष्कृत प्रेम के रूप में परिणत हो गया है। संस्कृत काव्यों की सृष्टि मूलतः राजदरबारों में हुई जहाँ शिष्टता एवं सभ्यता का प्राधान्य था। इसलिए भारतीय समाज की सदाचार–सम्पन्नता ने कभी भी काव्यों में प्रेम वर्णन एवं अश्लीलता को प्रश्रय नहीं दिया। देशप्रेम तथा देशोन्नति की भावना संस्कृत साहित्य में पूर्ण रूप से निबद्ध है। इससे प्रतीत होता है कि संस्कृत साहित्य के उद्‌गम का युग पूर्ण स्वतंत्रता का काल है जो सभ्य मानवों तथा जातियों को भौतिक तथा आध्यात्मिक विकास की ओर अग्रसर कर रहा था।

वैदिक युग से ही यह कल्पना बद्धमूल है कि भारतीय आर्य 'सप्तसिन्धु' प्रदेश के ही निवासी है कहीं बाहर से आकर यहाँ बसने वाले जीव नहीं है। फलतः इस मातृभूमि के प्रति प्रेम होना स्वाभाविक ही है। वेदों में यही मातृरूपा पृथिवी देवता के रूप में वर्णित है यथा – "द्योर्मे पिता पृथ्वी में माता" —– (काठकसंहिता)

अथर्ववेद का पृथ्वीसूक्त तो वैदिक आर्यों के साक्षात् राष्ट्रीय प्रेम का समुज्ज्वल प्रतीक है। इसमें 63 मंत्रों के द्वारा पृथ्वी के यथार्थ स्वरूप का जो साहित्यिक वर्णन प्रस्तुत कियागया वह अत्यन्त ही महनीय एवं श्रेयस्कर है। पृथिवी की महिमा का यह असाधारण वर्णन वर्णन नहीं है अपितु आथर्वण ऋषि के हृदय से निकले उनके उद्गार है जिनमें भारतीयता की अमिट छाप प्रतिविम्बित होती है।

सत्यं बृहद्ऋतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवी धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरूं लोकं पृथिवी नः कृणोतु।।
यस्याश्चतस्त्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संवभूवः।
या विभर्ति बहुधा प्राणादेजत् सा नो भूमिर्गोष्वव्यन्ने दधातु।।"

(अथर्ववेद – 12वां काण्ड)

ऐसी महनीय एवं मातृरूपिणी पृथिवी को जननी के सदृश आदर एवं सत्कार की दृष्टि से देखना हम भारतीयों का कर्तव्य था। इसी प्रकार वैदिक आर्य नदियों को भी देवताओं के समान आदर एवं सम्मान की दृष्टि से देखते थे। ऋग्वेद में वर्णित प्रख्यात नदीसूक्त 10/75 अपने महनीय स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। ये केवल जलमयी वस्तुएं नहीं थी। प्रत्युत कल्याण एवं अभय प्रदान करने वाली चेतन युक्त सजीव देवता थी। इसलिए लोग इनसे अपनी–अपनी मनोकामनाओं को पूर्ण करने के लिएण आग्रह करते थे– इसका प्रमाण हमें विश्वामित्र नदी सवांद सूक्त में प्रत्यक्ष ही दृष्टिगत होता है–

"रमध्वं मे वचसे सोम्याय, ऋृतावरीरूप मुहूर्तमेवैः।
प्र सिन्धुमच्छा बृहती मनीषा, वस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः।।"

विश्वामित्रनदीसूक्त

स्नान के समय जिस क्षण भारत की सप्त सिंधुओं से अपने जल में समावेश के लिए इस मन्त्र में प्रार्थना करता है उस समय उसके चित्त पर भारतवर्ष के अखण्ड रूप

का दृश्य उपस्थित हो जाता है– इससे प्रतीत होता है कि आर्य देश की एकता तथा अखण्डता की इससे बढ़कर और क्या शोभन कल्पना की जा सकती है?

आगे चलकर राष्ट्र का यह समष्टि कल्याणकारक भाव, एकता और अखण्डता का भाव पुराणों में और भी मुखरित हो जाता है। प्रत्येक पुराण अपने विषय वैविध्य में नदियों, स्रोतों, तड़ागों, वनों, पर्वतों, पहाड़ों, आश्रमों, तीर्थों इत्यादि प्राकृतिक दृश्यों के प्रति वर्णन करने में जागरूक हो जाता है।[1]

भारत की एकता अखण्डता तथा प्रभुता का यह प्रसाद विष्णु पुराण, भागवत् पुराण इत्यादि पुराणों में परिलक्षित हो रहा है। सुरमुनि भारतवासियों की प्रशंसा के गुण गाते हैं क्योंकि यह भारत देश स्वर्गिक सुखों तथा मोक्ष प्रदायी पुण्यों को देने वाला निष्कण्टक मार्ग है, और देवता होने के बाद भी यहाँ जन्म लेकर मनुष्य अपने निःस्वार्थमय कल्याण का सम्पादन करता है।

गायन्ति देवाः खलुगीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमि भागे।
स्वर्गापवर्गास्पद मार्गभूते भविन्त भूपः पुरूषाः सुरत्वात्।।

विष्णुपुराण – 2/3/25
ब्रह्म पुराण –

भागवत् पुराण के शब्दों में –

कल्पायुषां स्थानजयात् पुनर्भवात् क्षणायुषां भारतभूजयोवरम।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः।।

भागवत्पुराण – 5/19/23

इस प्रकार धर्मशास्त्रों, पुराणों, स्तोत्रों में वर्णित भारत की एकता, अखण्डता, धार्मिक विविधता के दृश्यों के वर्णित होने से यह भलीभाँति मालूम हो जाता है कि धार्मिक ग्रन्थों में भी राष्ट्रमयी एकता का निदर्शन एवं प्रसार था।

इसका प्रमाण तो हमें भारतवर्ष के महनीय कवि कुलगुरू कालिदास के ग्रन्थों में भी देखने को साक्षात् मिलता है। जिस पर आश्चर्य करने की कोई बात ही नहीं है।

---

1. गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
   नर्मदे सिन्धु कावेरि नमस्तुभ्यम् नमो नमः।। – स्तोत्ररत्नावली

कुलगुरू कालिदास शिप्रा नदी के किनारे स्थित उज्जैनी में प्रतिदिन महाकालेश्वर के बहुत बड़े भक्त थे। भगवान् शिव के अष्टाङ्गमय स्वरूप का वर्णन उनके विभिन्न ग्रन्थों जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल[1], विक्रमोर्वशीयम्, मालविकाग्निमित्रम नाटक[2] तथा कुमारसम्भव आदि महाकाव्यों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

इससे स्पष्ट है कि कालिदास का शिव की अष्टमूर्तियों के प्रति विशेष लगाव एवं स्नेह था। इन अष्टमूर्तियों की स्तुति कालिदास के हृदय में अखण्ड भूमण्डल की उज्ज्वल परिचायिका है।

इतना ही नहीं कालिदास को भारतवर्ष के मस्तक पर स्थित देवतात्मा हिमालय का वर्णन करना भी बड़ा प्रिय लगता था। उन्होंने हिमालय का वर्णन सजीव चेतन प्राणी के रूप में किया है। इनके समस्त काव्यों में हिमालय का उदारता तथा भव्यता से जो वर्णन हुआ है– उसका कोई कवि सानी नहीं है। रघुवंश, शाकुन्तल इत्यादि में तो वह प्रसङ्ग वश प्रयोग किया है, किन्तु कुमारसम्भव जैसे सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य में हिमालय का मानव से तादात्म्य स्थापित करते हुए सजीव देवतात्मा के रूप में चित्रण दर्शाया है।[3] इससे बड़ी रमणीय महनीयता कवि की क्या हो सकती है?

इस प्रकार संस्कृत–काव्य जगत् में भारतीयों की राष्ट्र के प्रति प्रेम, बंधुत्वभाव एवं भाईचारे की झलक साथ ही राष्ट्रीयता का अपूर्व सन्देश, समन्वयवादिता, सहिष्णुता एवं एकता की जो झलक दृष्टिगोचर होती है उसे हम स्वर्ग से भी श्रेष्ठ माने तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। विश्वभावना की अभिव्यक्ति इससे बढ़कर सुन्दर शब्दों में नहीं की जा सकती।

"अयं निजः परोवेति गणना लघु चेतसाम्। सूक्ति–

विश्वबन्धुत्व की इस सौहार्दपूर्ण भावना को देखकर जनमानस का हृदय यह अकस्मात् कह उठता है – "सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः"

---

1. या सृष्टिः स्त्रष्टुराद्या, वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री,
   ये द्वे कालं विधत्तः, श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्। अभि० – 1/1
   यामाहुः सर्ववीज प्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः,
   प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टा भिरीशः।।
2. अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्विभ्रतो नाभिमानः। मालविकाग्निमित्रम
3. अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवात्मा, हिमालयो नाम नगाऽधिराजः।
   पूर्वाऽपरौ तोयनिधी वगाह्य, स्थितः पृथिव्याइव मानदण्डः।। कुमारसम्भव 1/1

ऐसी उदात्त जनजीवन की भावना तथा समन्वयात्मकता की अभिव्यक्ति ही भारतीय संस्कृति की, साहित्य की, श्रेष्ठ रचना की विशिष्टता है।

भारतीय संस्कृत काव्य के निर्माण की पूर्ण प्रेरणा मनीषी कवियों को रामायण तथा महाभारत जैसे महनीय राष्ट्रीय महाकाव्यों के अध्ययन से प्राप्त हुई। इसमें संशय करने का स्थान नहीं है रामायण तथा महाभारत के पाश्चात्य पद्धति से एपिक के अन्तर्गत होने पर भी उनकी रचना शैली तथा वर्ण्य विषय की विवेचना में नितान्त पार्थक्य है। जिसका सङ्केत हमने पहले ही कर दिया है। भारतीय महाकाव्यों के विकास में अहं भूमिका वेदों की भी रही। जिनमें स्तुति परक मंत्रों के अतिरिक्त दानशील उदार हृदय उदार राजाओं की प्रंशसनीय स्तुतियां भी विद्यमान है, जिन्हें वर्तमान समय में हम गाथानारांशसी के नाम से सम्बोधित करते हैं। संहिता के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों में भी कतिपय कीर्ति सम्पन्न राजाओं की स्तुतियां मिलती हैं, जिनमें प्राचीन काल के अनेक ऐतिहासिक राजाओं के जीवन से सम्बद्ध विशिष्ट घटनाओं का साहित्यिक परिदृश्य प्राप्त होता है। ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित शुनःशेप आख्यान, ऐन्द्र महाभिषेक, तथा शतपथ ब्राह्मण में वर्णित पुरूरवा उर्वशी आख्यान ताण्ड्य ब्राह्मण में वर्णित वत्स मेधातिथि इत्यादि आख्यानों में भी कतिपय गाथाएं उद्धृत की गयी हैं। इस प्रकार के वर्णनों की सत्ता होने पर भी कवि मनीषियों ने इनका विशेषप्रयोग अपने काव्यों में नहीं किया केवल महाकवि कालिदास ने अपने विक्रमोर्वशीयम् नाटक में ऋग्वेदस्थ पुरूरवा एवं उर्वशी के संवाद को साहित्यिक काया प्रदान कर स्वीकृत किया। परन्तु मुख्य रूप से रामायण तथा महाभारत ही आगे चलकर परवर्ती महाकाव्यों के अक्षय्य स्त्रोत एवं आधार स्तम्भ बने।

रामायण एवं महाभारत के अनन्तर कालिदास और अश्वघोष तक के बीच जो महाकाव्य लिखे गये वे केवल नाम मात्र शेष रह गये। कुछ विद्वद्गणों की यह भी भावना है कि प्राकृत काव्य संस्कृत काव्य को उत्तेजना देने वाला प्राचीनतम काव्य है जिसका अनुवाद करके ही संस्कृत भाषा में काव्यों का जन्म हुआ। परन्तु विद्वानों की यह धारणा नितान्त भ्रामक है। इन मनीषियों ने प्राकृत भाषा के लिए प्राकृत ग्रन्थों का प्रचार करना चाहा, क्योंकि प्राकृत का इतना प्राचीन उद्भव कभी था ही नहीं। अतएव यह मत पूरी तरह भ्रामक है।

संस्कृत काव्य का उदय जानने के लिए व्याकरण शास्त्र के आदि आचार्य दाक्षीपुत्र पाणिनि, कात्यायन, पतंञ्जलि के ग्रन्थों का अध्ययन नितान्त आपेक्षित है। यह तो विदित ही है कि दाक्षी पुत्र पाणिनि पश्चिमोत्तर प्रदेश में पेशावर के समीपस्थ शालातुर ग्राम के रहने वाले थे जो वर्तमान में 'लाहुर' के नाम से प्रसिद्ध है। दाक्षीपुत्र पणिनि का आविर्भाव काल 8वींशता0 ई0 पूर्व है। पाणिनि के आलोचक वार्तिककार कात्यायन दाक्षिणात्य थे। तथा चतुर्थ शता0ई0पूर्व विद्यमान थे। ऐसी किम्बदन्ती है कि पाणिनि ने जाम्बवतीपरिणय (पाताल विजय) तथा कात्यायन ने स्वर्गारोहण नामक काव्य लिखे है– जिसका सङ्केत पतञ्जलि (द्वितीय शता0 ई0पूर्व) के महाकाव्य में 'वाररूचं काव्यं' कहकर किया गया है। इन प्रमाणों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि महाकाव्य का उदय आठवीं शता0 ई0 पूर्व में ही पाणिनि के द्वारा ही हो चुका था। पाणिनि के नाम से कुछ उदाहरण पद्य के रूप में सुभाषित ग्रन्थों में मिलते है जो यह सिद्ध करते है कि संस्कृत काव्य का उद्गम बहुत पहले ही हो चुका था।[1] इसके अलावा एक और प्रमाण यह है कि पाणिनि के नाम से सुभाषित पद्य केवल सूक्तिग्रन्थों में ही उपलब्ध नहीं हैं, बल्कि कोशग्रन्थों, अलङ्कार शास्त्रीय ग्रन्थों आदि में उद्धृत मिलते है।[2]

लेकिन उक्त मत को लेकर पुरातत्त्ववेत्ताओं में बड़ा विवाद था उनका कहना है कि ये कविताएं वैयाकरण पाणिनि की हैं या अन्य किसी पाणिनि नामधारी कवि की? दोनों मे भेद है या अभेद। पीटर्सन, डा0 भण्डारकर आदि विद्वान पाणिनि के सूत्रों की वेदतुल्य शुष्क भाषा और इन पद्यों की सरस अलङ्कृत भाषा में विषमता स्वीकार करते हुए यही कहते है कि इन श्लोकों का रचनाकार पाणिनि वैयाकरण पाणिनि नहीं हो सकते। क्योंकि प्रौढ़ालङ्कृत काव्यों का उदय वैयाकरण पाणिनि से बहुत इधर का ही है। उस समय सरल एवं सीधी भाषा में ही लोगों की रचनाएं होती थी। इतनी परिष्कृत और अलङ्कृत भाषा में नहीं। इनके मत का खण्डन करते हुए डा0 पिशेल, औफ्रेक्ट आदि विद्वान कहते हैं कि पाणिनि को केवल एक शुष्क काव्य व्याकरण का ही प्रणेता मानना भारी भूल है। वे एक बहुत अच्छे कवि एवं वेत्ता थे। उनका हृदय भले ही शुष्क

---

1. सूक्ति ग्रन्थों में राजशेखर ने पाणिनि की प्रशंसा करते हुए लिखा है–
   "नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह।
   आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्ववतीजयम्।।
2. उपोढरागेण विलोल तारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
   यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम्।। ध्वन्यालोक– पृ0 39

एवं नीरस व्याकरण के नियमों का भण्डार हो, परन्तु वह सरस कमणीय काव्य कला का सुकुमार आकर भी था। रही बात अलङ्कृत एवं परिष्कृत भाषा की तो क्या सरल एवं सहज मार्ग द्वारा प्रवर्तित काव्य के दर्शन हमें वेद में नहीं मिलते। अलङ्कारों के चाकचिक्य की अनुपम दर्शनीय छटा क्या वेद में भी सहृदय को नहीं झकझोरती। अतः जब वेद में ही इतने परिष्कृत एवं भावमण्डित शब्दों की लड़ियां विद्यमान मिलती है तो फिर हमें पाणिनि के ग्रन्थों एवं पद्यों में उपलब्ध अलङ्कारों के वैभवशाली वर्णन से हमें क्या घबड़ाना? अतः हमें पाणिनि और वैयाकरण पाणिनि के विषय में भेद न करते हुए दोनों को वैयाकरण पाणिनि ही मानना चाहिए और पहले लिखे गये पद्यों को उन्हीं के द्वारा रचित मानना चाहिए।

इसके अलावा 'सदुक्तिकर्णामृत' में विशिष्ट कवि प्रशंसा के विषय में उद्धृत एक पक्ष में भी रघुकार, भारवि, भवभूति, दाक्षी पुत्र पाणिनि जैसे उत्कृष्ट कवियों का नाम उल्लिखित है।[1] महाभाष्य के अनेक स्थलों पर दाक्षिपुत्र पाणिनि का सङ्केत पग-पग पर उपलक्षित है।[2]

औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी अपने 'सुवृत्ततिलक' नामक ग्रन्थ में पाणिनि के सर्वाधिक प्रिय उपजाति छन्द को चमत्कार का सार बतलाया है। इसके अलावा यह भी एक बहुत महत्वपूर्ण बात है कि पाणिनि यदा-कदा फुटकर पद्य लिखने वाले कोई साधारण कवि नहीं थे, बल्कि संस्कृत साहित्य के सर्वप्रथम महाकाव्य लिखने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। जिस महाकाव्य का नाम कहीं तो पातालविजय और कहीं 'जाम्बवतीजय' प्राप्त होता है। 18 सर्गो में निबद्ध इस प्रसिद्ध महाकाव्य में श्रीकृष्ण का पाताल जाकर जाम्बवती को लाने के लिए जो प्रयास करना पड़ा उसी की कथा से संवलित है। अतः 'पातालविजय' जाम्बवतीविजय का नामान्तर मात्र है। अतः कोई प्रमाण न मिलने के कारण वैयाकरण पाणिनि तथा कवि पाणिनि की एकता में अविश्वास के लिए कोई स्थान नहीं है।

---

1. सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे न रमते
   धृतिर्दाक्षी पुत्रे एति हरिश्चन्द्रोऽपि हृदयम्।
   विशुद्धोक्तिः शूरः प्रकृति मधुरा भारविगिर-
   स्तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते।। — संस्कृत साहित्यकार इतिहास – बलदेव उपाध्याय
2. सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः" — महाभाष्य– 1/1/20 पर

पाणिनि की कविता में सरसता एवं माधुर्य का समावेश है। अलङ्कारों का आकर्षक प्रयोग मानस–पटल में अनोखी विचित्रता उत्पन्न कर देता है। उत्प्रेक्षा के सहज प्रयोग से हृदय में आनन्द की लहरें उठने लगती है। श्रृङ्गार का विचित्र वर्णन बड़ा ही मनमोहक है। प्राकृतिक उपमानों के दृश्य अत्यन्त सजीव एवं मनमोहक है।

निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो मुखं निशायाममिसारिकायाः।

धारानिपातैः सह किन्नु वान्तश्चन्द्रोऽयमित्यार्ततरं ररास।।

वर्षाऋतु में बादलों की प्रचण्ड गर्जना हो रही है। पाणिनि के मत में यह रसहीन गर्जना नहीं हैं, प्रत्युत उनका करूण आर्त्तनाद है। तात्पर्य यह है कि, रात्रि के समय अभिसारिका के मुखमण्डल को बिजली रूपी आँखों से देखकर मेघों को यह सन्देह हो रहा है कि कहीं हमारे धारा सम्पात के साथ–साथ चन्द्रमा भूमि पर तो नहीं गिर पड़ा? यदि ऐसा नहीं हैतो गहन अन्धकार में अभिसारिका का इतना चमकीला चेहरा कहाँ से आया? नायिका के कान्तियुक्त मुख को देखकर उन्हें चन्द्रमा का सन्देह हो रहा है। इस सन्देह से आशङ्कित हो वे इतना करूण आर्त्तनाद कर रहे हैं।

पाणिनि ने प्राकृतिक वर्णनों पर विलक्षण कल्पना की सृष्टि की है शरत्काल का समय है चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब इस समय निर्मल हो जाता है, परन्तु आकाश में बादलों के न होने से सूर्य की गर्मी पहले से भी और अधिक तीव्र हो जाती है–

पाणिनि की सम्मति में शरद् का व्यवहार नायिका के समान प्रतीत होता है–

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद् दधानार्द्रनखक्षताभम्।

प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार।।

नायिका के समान शुभ्रपयोधरों (मेघ तथा स्तन) पर नखक्षत के समान रंग बिरंगे इन्द्रधनुष को धारण करती हुई शरद्ऋतु कलङ्की चन्द्रमा (मानों उपनायक) को प्रसन्न (निर्मल) कर रही है और साथ ही साथ सूर्य (नायक) के ताप (मानसिक दुःख तथा गर्मी) को भी अधिक बढ़ा रही है।

वररूचि के नाम से भी कुछ सूक्ति पद्य मिलते हैं। सुभाषितावली शार्ङ्गधर पद्धति में ही इनके पद्य पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त 'सदुक्तिकर्णामृत' में भी कुछ वररूचि कृत श्लोक मिलते हैं। यह वररूचि कौन थे– इस विषय में कुछ भी कहना

अत्यन्त दुष्कर प्रतीत होता है। पाणिनीय व्याकरण पर वार्तिक लिखने वाले कात्यायन का नाम भी वररूचि था। दूसरी ओर प्राकृतप्रकाश नामक प्राकृत के भी निर्माता कोई वररूचि हो गये थे। कवि वररूचि, जिनके पद्य सूक्ति ग्रन्थों में मिलते हैं, इन दोनों से अलग हैं या एक। इसे एकदम सही रूप में बतलाना अत्यन्त कठिन है। विद्वद्गणों की मान्यता है कि कवि वररूचि तथा कात्यायन दोनों एक ही व्यक्ति हैं, क्योंकि महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अपने ग्रन्थ महाभाष्य में 'वाररूचंकाव्यं' कहकर किसी काव्य का ग्रन्थ का उल्लेख किया है, किन्तु सम्प्रति यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है जिसका यथार्थ नाम स्वर्गारोहण काव्य मिलता है।

यथार्थता कथं नाम्नि मा भूद् वररूचेरिह।
व्यधत्त कण्ठाभरणं यः सदारोहण प्रियः।।[1]

यदि वार्तिककार कात्यायन ही इन श्लोकों के रचयिता मान लिए जॉय तो वररूचि का समय ईसा से पूर्व चौथी शता0 में होना चाहिए। 'कथासरित्सागर' नामक ग्रन्थ में तो स्पष्ट रूप से यह वर्णित है कि कात्यायन वररूचि पाटलिपुत्र के प्रसिद्ध राजा नन्द के महामंत्री थे। इन्होंने वहीं के वर्ष उपाध्याय से सभी विद्याएं पढ़ी थी। व्याकरण के तो आप प्रकाण्ड पण्डित थे ही। इनका गोत्रज नाम कात्यायन था। इनकी कविता वड़ी ही मनोहरिणी है जिसमें प्रसाद एवं माधुर्य गुणों का सन्निवेश है। वर्णन सरल होने पर भी सजीव है। तथा अलङ्कारों से मण्डित हैं।

महाभाष्यकार प्रणेता 'पतञ्जलि' (150ई0पूर्व) ने अने ग्रन्थ महाभाष्य में द्रष्टांत रूप में कई श्लोकों को उद्धृत किया है, जिनके अनुशीलन से संस्कृत काव्यधारा की प्राचीनता स्वतः सिद्ध होती है। पद्यमय काव्य के साथ मण्मय काव्य की भी प्राचीनता का पता पतंञ्जलि स्पष्ट रूप से देते हैं। 'लुब् आख्यायिकाभ्यो बहुलम्' वार्तिक के व्याख्या प्रसंग में इन्होंने वासवदत्ता, सुमनोत्तरा तथा भैभरथी नामक अनुपलब्ध आख्यायिका ग्रन्थों का नाम निर्देश किया है जिससे मद्यकाव्य की लोकप्रियता का स्पष्ट ज्ञान हमें मिलता है।[2] इसके अतिरिक्त महाभाष्य में निर्दिष्ट काव्यग्रन्थ काव्यरचना की

---

1. वररूचि के काव्य का यथार्थ नाम 'स्वर्गारोहण' था। इसका परिचय 'कृष्णचरित काव्य' के इस पद्य से मिलता है–
   यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीत दान् भुवि।
   काव्येन रूचिरेणैव ख्यातो वररूचिः कविः।।
2. संस्कृत साहित्य का इतिहास – डा0 पुष्पा गुप्ता

लोकप्रियता तथा व्यापकता की ओर सङ्केत करते हैं। 'वाररूचंकाव्यं' पतंञ्जलि के द्वारा निर्दिष्ट अद्यापि अनुपलब्ध एक ऐसा ही काव्य है। उस युग में नाटकों की रचना तथा अभिनय जनसाधारण के मनोरञ्जन का एक सामान्य साधन माना जाता था। पतंञ्जलि ने कंसवध तथा बालिबन्धन नाटकों का ही उल्लेख नहीं किया है प्रत्युत उनके प्रत्यक्ष अभिनय का भी स्पष्ट निर्देश किया है। अतः ई0 पूर्व द्वितीय शतक में काव्य के नाना प्रकारों की रचनायें की जाती थी तथा जनता में उनकी पर्याप्त लोकप्रियता तथा प्रसिद्धि थी।

छन्दःशास्त्र के अध्ययन एवं परिशीलन से भी काव्य की पुरातनता विशद रूपेण प्रमाणित होती है। आचार्य पिङ्गल ने अपने ग्रन्थ छन्दसूत्र में विविध प्रकार के लौकिक एवं वैदिक छन्दों का वर्णन किया है। वैदिक छन्दों से लौकिक छन्दों का विकास तथा अभ्युदय गवेषणा का एक स्वतंत्र विषय है, परन्तु नाना नवीन छन्दों की गवेषणा एवं कल्पना अवश्य ही तत्सम्बद्ध प्रचुर काव्य के निर्माण की ओर सङ्केत कर रही है। नवीन लौकिक छन्दों का नामकरण भी भिन्न–भिन्न साधनों के आधार पर आश्रित था। कतिपय नाम तो छन्दों की स्वतः प्रवृत्ति, गति तथा लय के कारण प्रतीत होते हैं; जैसे– मन्दाक्रान्ता, द्रुतविलम्बित, वेगपती, त्वरित गति आदि। कतिपय पुष्प तथा पौधों के नाम पर हैं। जैसे माला और मञ्जरी कतिपय पशुओं के शब्द तथा आचरण के आधार पर है; जैसे शार्दूलविक्रीडित, अश्वललित, हरिणीप्लुता, हंसरूता, तथा गजगति। परन्तु अधिकांश छन्दों का नाम सुन्दरियों के नाम हैं– रूचिरा, प्रमदा, प्रमिताक्षरा, मञ्जुभाषिणी, स्त्रग्धरा। इन नामों की समीक्षा के आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि इन छन्दों का नाम श्रृङ्गारात्मक विषयों में प्रथम प्रयोग के आधार पर है। डा0 याकोबी का कथन है कि इन छन्दों का निर्माण तथा संस्कृत काव्यों में प्रयोग विक्रम पूर्व शताब्दियों से सम्बन्ध रखता है और महाराष्ट्री प्राकृत में लिखित श्रृङ्गरात्मक गीतिकाव्य की रचना की स्फूर्ति तथा उत्तेजना संस्कृत गीति काव्यों से प्राप्त हुई।

इस प्रकार संस्कृत भाषा में काव्य का उदय विक्रमपूर्व शताब्दियों की एक महत्त्वशाली घटना है। पतञ्जलि से आरम्भ कर अश्वघोष तक के काव्यों की अप्राप्ति होने से काव्यों का पर्याप्त परिचय हमें नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत काव्य का पूर्ण उदय विक्रम संवत् के प्रतिष्ठापक विक्रमादित्य के समय हुआ। काव्य अपने रूचिर निर्माण तथा रचना के निमित्त शान्त वातावरण, आर्थिक समृद्धि तथा

सामाजिक शान्ति की जितनी अपेक्षा रखता है उतनी वह किसी गुणग्राही आश्रयदाता की प्रेरणा की भी।

महाकाव्य का स्वरूप प्रारम्भ से ही युगानुकूल बदलता रहा है। अतएव काव्यशास्त्रीयों द्वारा की गयी महाकाव्य की परिभाषा भी एकरूप न होकर समय–समय पर बदलती रही है। संस्कृत साहित्य में महाकाव्य की परम्परा तथा महाकाव्यों की अक्षय्यनिधि विश्व–साहित्य में अछूता स्थान रखती है। व्यास, वाल्मीकि और कालिदास ने महाकाव्य के प्रणयन का जो क्रम ईसा पूर्व शताब्दियों पहले आरम्भ किया था वह सत्रहवीं शताब्दी ई0 तक अविच्छिन्न चलता रहा। महाकाव्यों की रचना कौशल शैलीगत चमत्कार आदि के सतत परिवर्तनशील होने के फलस्वरूप काव्यशास्त्रियों ने लक्ष्य ग्रन्थों का गहन अध्ययन करके उनकी समीक्षा ही नहीं की, अपितु तदनुसार महाकाव्य के विद्यमान लक्षण में परिमार्जन– संशोधन भी किया। यही प्रवृत्ति पाश्चात्य देशों में भी महाकाव्य की परिभाषा अथवा उसका लक्ष्य बताने के प्रसङ्ग में पायी जाती है। वहाँ भी विद्यमान आदर्शभूत लक्ष्य ग्रन्थ को देखकर ही महाकाव्य का स्वरूप वर्णन किया। अरस्तू ने होमर के इलियड तथा ओडेसी महाकाव्यों को लक्ष्य मानकर महाकाव्य के लक्षण बताये। हमारे देश में रामायण, महाभारत को आदर्शभूत आकर महाकाव्य मानकर काव्यशास्त्रियों ने महाकाव्य का स्वरूप वर्णन किया है। उसके बाद कालिदास के महाकाव्य समालोचना के मानक व आधार बने। वाल्मीकि, व्यास, च्यवन आदि यदि कालिदास के उपजीव्य थे तो कालिदास अपने परवर्ती संस्कृत के प्रायः सभी महाकवियों के लिए उपजीव्य बने।[1] कालिदास के रघुवंश महाकाव्य को देखकर ही साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने महाकाव्य की परिभाषा में संशोधन किया जिसके अनुसार भामह की परिभाषा में परिवर्तन करते हुए उन्होंने यह माना कि महाकाव्य वह भी होगा जिसमें एक वंश के अनेक व्यक्तियों का वृत्त भी वर्णित हो–

सद्वंश क्षत्रियोवापि धीरोदात्त गुणान्वितः।
एक वंश भवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा।। सा0 दर्प0 6/316

सामाजिक प्रगति के साथ महाकाव्यों के गतिशील होने की अपरिहार्यता को ध्यान में रखते हुए ही पाश्चात्य विद्वानों का यह अभिमत है कि काव्यरूपों का

---

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास – डॉ0 रामचन्द्र मिश्र

विभाजन ही निरर्थक है। कला के क्षेत्र में लिरिक (गीतिकाव्य) महाकाव्य, नाटक, उपन्यास आदिका वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा भेद किया जाय तो वह कृत्रिम होगा, क्योंकि एक तो आत्मगत और वस्तुगत भावों की पृथक सत्ता नहीं है, दूसरे कलाविद् एवं कवि सदैव काव्यशास्त्रीय नियमों का उल्लंघन करते रहते हैं। प्रत्येक उच्चकोटि की कलात्मक कृति में कलाविद् अपने पूर्ववर्ती विधानों की अवहेलना करके समीक्षकों को बाध्य कर देता है कि वे शास्त्रीय प्राविधानों में परिवर्तन करें। अतएव परिभाषाएं बार–बार बनती और सुधरती रहती है।

महाकाव्य के स्वरूप को भली–भॉति समझने के पूर्व यह उपयोगी प्रतीत होता है कि इस सम्बन्ध में आलङ्कारिकों द्वारा समय–समय पर दिये गये लक्षणों पर विहङ्गम दृष्टि डाल ली जाय। काव्यशास्त्र पर सबसे प्राचीन ग्रन्थ भरतमुनि का नाट्य शास्त्र है। भरत के भी पूर्व यास्क के निरूक्त एवं पाणिनि की अष्टाध्यायी में काव्य विषयक उल्लेख मिलते हैं किन्तु इनसे महाकाव्य की परिभाषा पर कोई प्रकाश नहीं पड़ा है। तदनन्तर अग्निपुराण में सर्वप्रथम काव्य स्वरूप का उल्लेख मिलता है। अग्निपुराण में महाकाव्य की परिभाषा इस प्रकार की गयी है– महाकाव्य का विभाजन सर्गों में होता है– इसका आरम्भ संस्कृत से होता है।[1]

स्वरूप को न छोड़ते हुए अन्य भाषा प्राकृत आदि से आरम्भ करना भी दोष नहीं है। इसका इतिवृत्त इतिहास की कथा से सम्बद्ध हो अथवा सभ्यों में प्रचलित हो। मंत्रणा, दूत प्रेषण, युद्ध आदि का अति विस्तार न हो। शक्वरी, अति जगती, अतिशक्वरी, त्रिष्टुप्, पुष्पिताग्रा, वक्त्रादि छन्दों से समन्वित हो, सर्गान्त में छन्दः परिवर्तन हो और सर्ग अत्यन्त संक्षिप्त न हो। अतिशक्वरी आदि छन्दों के साथ–साथ कोई सर्ग मात्रा छन्दों से भी रचित होना चाहिए। जिस पद्धति में सज्जनों का अनादर होता है वह निन्दित है अतः यहाँ त्याज्य है। नगर वर्णन, समुद्र, पर्वत, ऋतु, चन्द्र, पादप, उद्यान, जलक्रीड़ा, उत्सवों तथा दूतीवचन, कुलटाओं के आश्चर्यजनक चरित्रों के साथ–साथ प्रगाढ़ अन्धकार प्रचण्ड पवन आदि लोकातिशायी तत्त्वों की चर्चा से महाकाव्य संयुक्त होना चाहिए। सभी प्रकार की रीतियों से समन्वित, सभी भावों से संकलित हो इस प्रकार के संयुक्त गुणों से युक्त महाकाव्य का रचयिता महाकवि कहलाता है।

---

1. अग्निपुराण – अध्याय – 337 / 52

इसके अनन्तर प्रथम आचार्य भामह ने विधिवत् महाकाव्य की परिभाषा दी भामह ने अपने ग्रन्थ काव्यालङ्कार में महाकाव्य का लक्षण इस प्रकार किया है।

"सर्गबन्धो महाकाव्यं महतांञ्च महच्च यत्।
अग्राम्यशब्दमर्थ्यं च सालङ्कार सदाश्रयम्।।
मन्त्रदूत प्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत्।
पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तं नाति व्याख्येयमृद्धिमत्।।
चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत्।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्।।
नायकं प्रागुपन्यस्य वंशवीर्यश्रुतादिभिः।
न तस्यैव वधं ब्रूयादन्योत्कर्षाभिधित्सया।।
यदि काव्यशरीरस्य न स व्यापितयेष्यते।
न चाभ्युदयभाक्तस्य मुधादौ ग्रहणस्तवौ।।[1]

महाकाव्य का यह प्राचीनतम उपलब्ध लक्षण है। इसमें महाकाव्य सम्बन्धी कोई भी मौलिक एवं आधारभूत विशेषता छूटी नहीं है। भामह के अनुसार काव्य उसे कहेंगे जो सर्गबद्ध, महान चरित्रों से सम्बद्ध, आकार में बड़ा, ग्राम्य शब्दों से रहित, अर्थसौष्ठव से सम्पन्न, अलङ्कार से युक्त सदाश्रित मंत्रणा दूत प्रेषण, अभियान युद्ध नायक के अभ्युदय तथा नाटकीय पञ्च सन्धियों से समन्वित अनति व्याख्येय एवम् ऋद्धिपूर्ण हो यों तो उसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों का निरूपण हो, किन्तु प्रधानता अर्थ की रहे, लौकिक व्यवहार का अतिक्रमण न हो तथा सभी रस असङ्कीर्ण रूप से वर्तमान हो।

भामह के बाद आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श में महाकाव्य के सभी लक्षणों को अङ्गीकार करते हुए उसके स्वरूप को उद्घोषित किया। इनका महाकाव्य लक्षण सर्वप्राचीन माना जाता है। इनका कहना है कि– नायक चतुरोदात्त होता है तथा प्रबन्ध रसानुभूति प्रधान होता है। इसके अलावा पूर्ववर्ती सभी विशेषताएं इसमें भी उपलब्ध रहती है। उनका यह भी कहना है कि लोकरञ्जन महाकाव्य का लक्ष्य होता है।[2] इसके अनन्तर 'काव्यालङ्कार के रचयिता रूद्रट' ने महाकाव्य की परिभाषा दी। उन्होंने महाकाव्य के कथानक में दो भेद बतलाये हैं– (1) उत्पाद्य (2) अनुत्पाद्य।[3] इसके

---

1. भामह कृत काव्यालङ्कार – 1/19–23
2. दण्डी– काव्यादर्श (1/14–19)
3. रूद्रट काव्यालङ्कार – 16/2–19

अतिरिक्त उन्होंने महाकाव्य में नायक के साथ प्रतिनायक एवं अवान्तर कथानक (उपकथानक) को भी महत्त्वपूर्ण बतलाया है। इनकी महाकाव्य परिभाषा में महत्त्वपूर्ण बिन्दु यह है कि– इन्होंने सामयिक युग के अनेकविध रूपों, वृक्षों, घटनाओं आदि को महाकाव्य में अङ्कित करने के निर्देश किये हैं।

अन्ततः आचार्य विश्वनाथ ने अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों द्वारा की गयी महाकाव्य की परिभाषा को मात्र संकलित करके समवेत रूप में साहित्यदर्पण में प्रस्तुत किया। उन्होंने महाकाव्य की परिभाषा करते हुए कहा है–

"सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः।।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा।
श्रृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युष्तैष्येकं च फलं भवेत्।
आदौ नमस्क्रियाऽऽशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्।
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः।।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन् दृश्यते।।
सर्गान्तेभाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्।
सन्ध्यासूर्येन्दु रजनीप्रदोषध्वान्तवासरः।।
प्रातरमध्याह्न मृगयाशैलर्तुवन सागराः।
संभोगविप्रलम्भौ च मुनि स्वर्गपुराध्वराः।।
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः।
वर्णनीयायथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमीइह।।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा।
नामास्य, सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु।।[1]

जिसमें सर्गो का निबन्धन हो वह महाकाव्य कहलाता है। इसमें एक देवता या सद्वंश क्षत्रिय जो धीरोदात्तत्वादि गुणों से युक्त हो नायक होता है। कही एक वंश के

---

1. विश्वनाथ कृत – साहित्यदर्पण – षष्ठ परि० पृ० 225

सत्कुलीन अनेक राजा भी नायक होते है। श्रृङ्गार, वीर और शान्त में से कोई एक रस अङ्गी होता है अन्य रस गौण होते है। सब नाटक सन्धियाँ होती हैं कथा ऐतिहासिक या लोक प्रसिद्ध सज्जन सम्बन्धी होती है धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस चतुर्वर्ग में से कोई एक उसका फल होता है। आरम्भ में आशीर्वाद, नमस्कार या वर्ण्य–वस्तु का निर्देश होता है। कहीं खलों की निन्दा और सज्जनों का गुण–वर्णन होता है। इसमें न बहुत छोटे न बहुत बड़े। आठ से अधिक सर्ग होते है। उनमें प्रत्येक में एक ही छन्द होता है, किन्तु अन्तिम पद्य (सर्ग का) भिन्न छन्द होता है। कहीं–कहीं सर्ग में अनेक छन्द भी मिलते है। सर्ग के अन्त में अगली कथा की सूचना होनी चाहिए। इसमें सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संयोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, मन्त्र, पुत्र और अभ्युदय आदि का यथासम्भव साङ्गोपाङ्ग वर्णन होना चाहिए। इसका नाम कवि के नाम से (जैसे माघ) या चरित्र के नाम से (जैसे कुमार सम्भव) अथवा चरित्र–नायक के नाम से (जैसे रघुवंश) होना चाहिए। कहीं इनके अतिरिक्त भी नाम होता है– जैसे भट्टि सर्ग की वर्णनीय कथा से सर्ग का नाम रखा जाता है।

महाकाव्य साहित्य की एक विधा है। साहित्य किसी भी देश और समाज की सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक चेतना का सरस शब्दार्थ गुम्फित आनन्दमय पाक है।[1]

समाज की वह सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक चेतना युगानुकूल मान्यताओं को अपनाती हुई मानव समाज के साथ ही परिवर्तित परिवर्धित होती रहती है। अतएव महाकाव्य की विकास यात्रा में समाज की सांस्कृतिक चेतना एवं आध्यात्मिक आरोह की धाराएं भी एक साथ बहती रहती है। समाज के ये परिवर्तनशील मूल्य एवं मानक सामयिक महाकाव्यों में प्रतिबिम्बित होते रहते हैं।[2]

महाकाव्य का यह मौलिक स्वरूप भूत, वर्तमान, भविष्य को एक साथ अपने अंचल में समेटता हुआ चलता है। इसी कारण समालोचकों ने रामायण एवं महाभारत को विकासशील महाकाव्य (एपिक आफ ग्रोथ) की संज्ञा दी है।

---

1. संस्कृत को रघुवंश की देन – डा0 शङ्करदत्त ओझा
2. संस्कृत साहित्य का इतिहास – बलदेव उपाध्याय

पाश्चात्य आलोचकों के मत से महाकाव्य दो प्रकार के होते हैं– (1) विकसित महाकाव्य (2) कलापूर्ण महाकाव्य। जिन्हें क्रमशः एपिक आफ ग्रोथ तथा एपिक ऑफ आर्ट कहा जाता है।

विकसित महाकाव्य वह है– इस प्रकार के महाकाव्य में किसी कथा को केन्द्र बनाकर समय–समय पर विभिन्न कवियों द्वारा प्रणीत अनेक उपकथाएं एकत्र हो जाती है और इस प्रकार काव्य का आकार बढ़ता जाता है यह वर्धनशीलता कुछ समय बाद समाप्त हो जाती है जैसे– ग्रीक महाकवि होमर का इलियड और ओडेसी नामक युगल महाकाव्य।[1] इनका वर्तमान परिष्कृत रूप होमर की प्रतिभा का फल है। परन्तु गाथाचक्रों के रूप में वे प्राचीन काल से बन्दीजनों के द्वारा गाये जाते थे।

दूसरा कलापूर्ण महाकाव्य वह है– जिसे एक ही कवि अपनी काव्यकला से गढ़कर तैयार करता है। इसमें प्रथम श्रेणी के काव्यों के समग्र गुण विद्यमान रहते है परन्तु यह रहता है एक ही कवि की प्रौढ़ प्रतिभा का परिणाम। जैसे– लैटिन भाषा में वर्जिल कवि द्वारा रचित इनीड महाकाव्य वर्जिल ने अपने लिए होमर को आदर्श माना और उन्हीं की काव्यकला का पूर्ण अनुसरण अपने महाकाव्य में किया। मिल्टन के पैराडाइजलास्ट तथा पैरेडाइस रिमेण्ड होमर, वर्जिल तथा दॉते के महाकाव्यों के समान उत्कृष्ट मान्य कलापूर्ण महाकाव्य हैं। इस दृष्टि से यदि संस्कृत काव्यों का वर्गीकरण किया जाय तो वाल्मीकि रामायण प्रथम श्रेणी में रखा जायेगा तथा रघुवंश एवं शिशुपाल वध आदि महाकाव्य द्वितीय श्रेणी में रखे जायेंगे।

लौकिक संस्कृत में कविता लिखने का उदय वाल्मीकि से हुआ। आदि कवि की करूण सरिता काव्य सरिता में विगलित हो गयी तथा वाल्मीकि दूसरे प्रजापति बन बैठे और अश्रुतपूर्व सारस्वत रचना अङ्कुरित हो उठी। उनके अन्तस् में छिपी सहसा लौकिक भाषा और छन्द के परिधान में अवगुण्ठित कविता फूट निकली। यह थी कवि मृगनाभि से निःस्यूत काव्य कस्तूरिका की मलयानिली सुगन्धिः – 'मा निषाद प्रतिष्ठां'।

---

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास – बलदेव उपाध्याय

उसी समय भारतीय काव्य की दिशा का परिचय सहृदयों को मिल गया। यही उनके काव्य का वैशिष्ट्य था। यही भावप्रवणता क्रौञ्चयुगल के वियोग से उत्पन्न वाल्मीकि के हृदयतल में स्थित शोक को श्लोक बनाने में कारण बनी। वाल्मीकि की इसी रसमयी पद्धति को हम सुकुमार मार्ग कह सकते है। रस ही उसका जीवन है स्वाभाविकता उसका भूषण है। कालिदास ने इस शैली के अपनाकर इतना यश अर्जन किया। इस पद्धति के दो विशिष्ट एवं श्रेष्ठ कवि है– वाल्मीकि और कालिदास। कालिदास में वाल्मीकीय शैली का उदात्त उत्कर्ष मिलता है कालिदास ने अपने आपको वाल्मीकि की कविता में सिक्त कर दिया था। उनसे बढ़कर रामायण का भक्त शायद ही कोई दूसरा कवि मिले। वाल्मीकि को बिना समझे कालिदास का अध्ययन पूरा नहीं हो सकता। रघुवंश महाकाव्य में कालिदासने पूर्वसूरभिः कहकर बाल्मीकि की ओर ही इशारा किया है[1]– इसके अलावा रघुवंश में ही रामायण को कवि प्रथम पद्धति कहा गया है।[2] कालिदास प्रकृति के प्रवीण पुरोहित थे उनकी दृष्टि में प्रकृति तथा मानव का परस्पर सम्बन्ध विश्व में विराजने वाली भगवद् विभूति की एक स्पष्ट अभिव्यक्ति है। इस निसर्ग भावना के समान ही कालिदास की कविता की रमणीयता है। अलङ्कारों का झङ्कार का युग वह न था। यद्यपि कालिदास की कविता में अलङ्कारों का भव्य विन्यास है परन्तु यह विन्यास इतना भड़कीला नहीं है कि पाठकों का हृदय वर्ण्य वस्तु को छोड़कर अलङ्कारों की छटा की ओर आकर्षित हो जाय उस अलङ्कार से वस्तु का सलोनापन बढ़ता है जो बरबस सहृदय को अपनी ओर खींच लेती है। कालिदास की शैली को परवर्ती कुछ कवियों ने अपनाया। अश्वघोष के ऊपर तो कालिदास की स्पष्ट छाप है– गुप्तकाल के प्रशस्ति लेखक हरिषेण और वत्सभट्टि ने कालिदास के काव्यों का गहरा अनुशीलन कर उसी के आदर्श पर अपनी कविता लिखी इतना ही नहीं कालिदास की कीर्तिकौमुदी कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक फैल चुकी थी। भारतीय विद्वान् जिन–जिन उपनिवेशों में धर्म और सभ्यता के प्रचार के लिए गये वहाँ उन्होंने कालिदास के काव्यों का प्रचार किया। इसलिए सुवर्णद्वीप, कम्बोज, जावा आदि देशों में उपलब्ध संस्कृत शिलालेखों में कालिदास की कविता का पर्याप्त अनुकरण पाया जाता है।

---

1. रघुवंश – 1/4
2. रघुवंश – 15/33

भारतीय संस्कृत वाङ्मय का आदिस्त्रोत जिस सांस्कृतिक परिवेश में विकसित एवं परिवर्धित हुआ उसे इतिहासविदों ने "आश्रम संस्कृति की संज्ञा से विभूषित किया। आर्थिक दृष्टि से शायद वह कृषि युग था जिसमें ग्रामीण संस्कृति विकसित हुई। राजनीतिक दृष्टि से यह राजाओं का युग था जो कुलश्रेष्ठ संस्कृति का परिचायक है।

वैदिक काल के धर्मों में, कलाओं में, जीवन की उदात्तता निहित है। विभिन्न स्थानों में काव्यमयी भावनाओं से पेशल उक्तियां यत्र–तत्र विद्यमान है, फिर भी परिष्कृत काव्य के विकास के लिए अभी भी उर्वर भूमि प्रस्तुत नहीं हुई थी। लौकिक संस्कृत साहित्य का जन्म भले ही तमसा के निर्जन आश्रम में हुआ हो, किन्तु उसका विकास संस्कृति के उस परिवेश में हुआ जिसे हम आर्थिक दृष्टिकोण से कृषि एवं हस्तकला का युग, राजनैतिक दृष्टिकोण से राजाओं एवं सम्राटों का युग, सामाजिक दृष्टि से चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के विकास का युग एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण से विविध दार्शनिक धाराओं का युग कह सकते है। संस्कृति की इस आधार शिला में संस्कृत का जो साहित्य निर्मित किया गया उसके आदि प्रतीक रामायण एवं महाभारत हैं। यह साहित्य एक ओर सम्राटों के राजकीय वैभव में तथा दूसरी ओर ग्राम्यों की सादगी में विकसित एवं परिवर्धित हुआ। वैदिक संस्कृत का यह ग्रामीण भाव संस्कृत साहित्य तक आते–आते नागरिक स्वरूप में परिवर्तित हो गया।

संस्कृत साहित्य जिस युग में लिखा गया उसी समय से श्रेष्ठ उपलब्धियों का आरम्भ होने लगता है। इसलिए यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि भारतीय संस्कृति में जो सर्वश्रेष्ठ है उसकी अभिव्यक्ति संस्कृत साहित्य में हुई है और संस्कृति साहित्य में जो सर्वश्रेष्ठ है उसकी अभिव्यक्ति कुलगुरू कालिदास में हुई है।

इतिहास की व्यापकता, भावों की उदात्तता, विशदता, गम्भीरता तथा शिल्प विधि का अलौकिक चमत्कार, इन सभी दृष्टिकोणों से कालिदास काव्यकला के सुमेरू माने जा सकते हैं। कालिदास को काव्य प्रणयन की प्रेरणा किन कवियों से मिली एवं किन काव्यपद्धतियों से मिली। इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कालिदास का युग अभी विवादास्पद है, किन्तु यह निश्चित है कि कवि

कालिदास के प्रेरणास्त्रोत राष्ट्रीय महाकाव्य रामायण, महाभारत में निहित थे। सांस्कृतिक वातावरण भाव, भाषा, रचना विधान प्रत्येक क्षेत्र में कालिदास ने इन ग्रन्थों से प्रेरणा प्राप्त की।

महाकवि कालिदास का आर्विर्भाव किस युग विशेष में हुआ। इस विषय में आज भी मतैक्य नहीं है।

उनके स्थितिकाल के विषय में जितने आलोचक है उनके उतने ही विचार है। महाकवि कालिदास का स्थितिकाल प्रथम शता0 से लेकर ग्याहरवीं शता0 तक दोलायमान है। उनके स्थितिकाल के विषय में प्रचलित मुख्य रूप से दो मत ही सामने आते हैं–

1– प्रथम मत उन्हें प्रथम शता0 ई0 पूर्व घोषित करता है। इस मत के समर्थक है – सी0वी0 वैद्य, के0सी0 महोपाध्याय, वरदाचारी आदि।

2– दूसरे मत के समर्थक है– आर0डी0 भण्डारकर, कीथ, स्मिथ, भोलाशंकर व्यास, मैक्डानल तथा वासुदेवशरण मिराशी है। ये सभी विद्वान उनको भास एवं अश्वघोष का परवर्ती मानते है।

प्रथम मत की समीक्षा :–

कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' में अपने पूर्ववर्ती भास, सौमिल्ल और कविपुत्र का नाम लिया है। सौमिल्ल और कविपुत्र के विषय में तो हमें तो कुछ भी ज्ञात नहीं है किन्तु भास की रचनाएं हमें उपलब्ध हुई है।[1] जिनमें स्वप्नवासवदत्ता एक महत्त्वपूर्ण नाटक है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कालिदास की स्थिति भास के पश्चात् हुई और क्योंकि महाकवि ने महायान सम्प्रदाय के संस्थापक बुद्धचरित और सौन्दरानन्द के रचयिता अश्वघोष (प्र0शता0ई0) का उल्लेख न करके उनसे अपना अपरिचय व्यक्त किया है। इससे स्पष्ट होता है कि अश्वघोष कालिदास के परवर्ती थे न कि पूर्ववर्ती।

प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानातिक्रम्य वर्तमान कवेः।
कालिदास कृतौ कथं वहुमानः। मालविकाग्निमित्रम – 1/1 के बाद का गद्यांश

क्योंकि मालविकाग्निमित्रम् नाटक में शुंग वंश का इतिहास यथेष्ट रूप से वर्णित है जो अन्य ग्रन्थों में नहीं उपलब्ध होता है। ऐसा मालूम होता है कि कालिदास शुंग नरेशों के समकालीन रहे होगें या उनसे बहुत ही समीप किसी समय हुए होंगे।

पूर्वोल्लिखित अनेक चर्चाओं से यह भलीभॉति ज्ञात होता है कि कालिदास अश्वघोष की पूर्ववर्ती हैं परवर्ती नहीं वे शुंग नरेशों पुष्यमित्र और अग्निमित्र के समकालीन या ठीक बाद हुए होंगे। इसलिए कालिदास प्रथम शता0ई0पूर्व में रहे होंगे।

चूॅकि हालकृत गाथासप्तशती (प्रथम शता0ई0पूर्व) में उज्जयिनी के नरेश विक्रमादित्य का सङ्केत किया गया है और गुणाढ्य कृत वृहत्कथा के आाधार पर रचे गये कथासरित्सागर में उज्जयिनी के परमार नरेश महेन्द्रादित्य के पुत्र विक्रमादित्य के पुत्र का उल्लेख किया गया है इसलिए यह सम्भव है कि विक्रमादित्य प्रथम शता0ई0 पूर्व में उज्जयिनी के नरेश रहे होंगे और कालिदास उनके समकालीन रहे होंगे। यह स्मरणीय है कि विक्रमादित्य से अभिहित अन्य परवर्ती नरेश केवल विक्रमादित्य शब्द की उपाधि के रूप में धारण करते थे न कि अभिधान के रूप में जबकि महेन्द्रादित्य का पुत्र विक्रमादित्य इस शब्द को उपाधि के रूप में नहीं धारण करता था। इससे सिद्ध होता है कि यही व्यक्ति अपने नाम से सिंहासनारोहण के पश्चात् विक्रम संवत् का प्रवर्तक हुआ होगा।

अतः कालिदास के स्थितिकाल के विषय में अधिक विस्तार में न जाकर हम यही कहेंगे कि उपर्युक्तसभी कारणों से कालिदास को ई0पू0 प्रथम शता0 में मानना सर्वाधिक श्रेयस्कर एवं शतप्रतिशत उचित है।

कविवर कालिदास के जीवन के विषय में भी प्रामाणिक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। उनके वंश परिचय, माता–पिता, शिक्षा, गार्हस्थ जीवन तथा आजीविका से सम्बन्धित सभी सामग्री का अभाव है। उनके जीवन के विषय में अनेक किंवदन्तियां प्रचलित है। कुछ लोग कवि के नाम का अर्थ लगाते हैं– 'काली का सेवक'। सम्भवतः यह भी कहा जा सकता है कि यह नाम भी साधारणतया अपने अर्थ से निरपेक्ष रूप में कवि को उसके माता–पिता ने दिया हो। एक अन्य जनश्रुति के अनुसार– कवि आरम्भ

में महामूर्ख थे, किन्तु बाद में विदुषी पत्नी विद्योत्तमा द्वारा प्रताड़ित होकर काली देवी की ध्यान चित्त होकर उपासना की जिसके प्रसाद से इनकी काव्य प्रतिभा स्वतः उद्भूत हो गयी। एक अन्य किंवदन्ती यह है कि कुछ विद्वान् इनका सम्बन्ध लङ्.का के राजा कुमारदास से करती है, और वहीं किसी वेश्या के घर में मृत्यु होना बताती है। परन्तु यथार्थता तो यह है कि इन उक्त सभी अनुश्रुतियों में कोई प्रामाणिकता प्रतीत नहीं होती, क्योंकि उनके जीवन के सम्बन्ध में अभी तक कोई यथार्थ प्रमाण नहीं मिल सका है। अतएव सम्यक रूप से उनके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

कालिदास की स्थितिकाल के समान उनके जन्म स्थान से सम्बन्धित सभी प्रमाण अन्धकारमय है। उनका आविर्भाव किस स्थान में और किस जगह में हुआ। इस विषय में सही उत्तर दे पाना आज भी एक कठिन समस्या का विषय बना हुआ है। क्योंकि कोई भी अन्य ऐसे निश्चयात्मक प्रमाण उपलब्ध नहीं होते जिनके आधार पर इन सभी विकट समस्याओं का उचित समाधान प्रस्तुत किया जा सके। महाकवि की कृतियों के आधार पर उनके जन्म के स्थान के सम्बन्ध में चार मत प्रसिद्ध है–

1– प्रथम मत के अनुसार उनका सम्बन्ध मगध देश से जोड़ा जाता है, क्योंकि रघुवंश महाकाव्य में सुदक्षिणा को मागधी तथा दिलीप को मागधीपति सम्बोधित किया गया है।[1(क) (ख)]

2– दूसरा मत प्रो0 लक्ष्मीधर कल्ला का है जो कालिदास को काश्मीर देश का रहने वाला मानते हैं। उनका कहना है कि पूर्वमेघ में मेघ कुबेर के सेवक यक्ष का सन्देश उत्तर दिशा को जाता है और काश्मीर देश की भी स्थिति उत्तर दिशा में ही है। इसके अलावा महाकवि कालिदास द्वारा वर्णित, कण्वाश्रम, कश्यपाश्रम, मालिनी नदी, शचीतीर्थ आदि अन्य स्थान भी काश्मीर में ही है। इसके अलावा उनके समस्त काव्यों में काश्मीरी शैव धर्म से सम्बन्धित दृष्टान्तों का भी वर्णन है जो केवल काश्मीर की ही देन है।

1(क) सुखश्रवा मङ्गलतूर्यनिस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम्
न केवलं सद्मनि मागधीपतेः पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि।। रघुवंश, 3/19

1(ख) उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुरस्त सदृशेन तत्समौ।। रघुवंश–3/23

उक्त मत के प्रत्युत्तर में हम कह सकते है कि कवि काश्मीर निवासी नहीं है। कवि द्वारा वर्णित भौगोलिक स्थानों का आधार पुराण न होकर महाभारत है और दूसरी बात यह है कि उक्त रीति–रिवाज एवं परम्पराएं काश्मीर प्रदेश तक ही सीमित थी। अतः इस आधार पर उन्हें काश्मीर निवासी नहीं कहा जा सकता।

3– तृतीय मत के आधार पर कुछ विद्वान कालिदास को बंगाल का निवासी मानते हैं। इसका सबस बड़ा कारण वह यह मानते हैं कि उन्होंने धान की खेती का वर्णन बड़े ही रमणीय ढंग से प्रस्तुत किया है। किन्तु यह बात उचित नहीं प्रतीत होती क्योंकि कालिदास ने रघुदिग्विजय के प्रसङ्ग में बंगाल प्रदेश की पराजय का वर्णन बड़ा ही कठोरता पूर्ण ह्रदय से किया है। किसी भी व्यक्ति को साधारणता अपनी जन्मभूमि के प्रति ऐसे शब्द प्रयोग करना अच्छा नहीं लगता क्योंकि सभी मनुष्य को अपनी जन्मभूमि से अटूट पारस्परिक स्नेह होता है। इस दृष्टि से कालिदास को बंगाल प्रदेश का मानना सर्वथा असङ्गत है।

4– चौथा एवं अन्तिम मत कालिदास को उज्जयिनी का रहने वाला मानते हैं। इस मत के समर्थक महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री एवं विसेन्ट स्मिथ है– इनका कहना है कि कालिदास ने ऋतुसंहार में सभी छह ऋतुओं के प्रसङ्ग में मानव जीवन को आह्लादित करने वाले प्राकृतिक चित्रों का वर्णन किया जो मालवा प्रदेश की जलवायु से काफी मिलती जुलती है। यत्र–तत्र विन्ध्याचल का वर्णन भी स्पष्ट रूप से मिलता है। इसके अलावा मेघदूत में जिन नगरों, पर्वतों, नदियों का वर्णन प्राप्त होता है उसमें से अधिकतर स्थान मध्यभारत से सम्बन्धित हैं और उसमें उज्जयिनी का वर्णन कवि ने एक विशेष अभिप्राय से किया है जिसे प्रति कवि का एक अजीब आकर्षण था। इस आधार कालिदास को उज्जयिनी का ही मानना चाहिए।

उक्त मतों का अनुशीलन करने के पश्चात् यह सम्यक् रूप से कहा जा सकता है कि महाकवि कुलकुरू कालिदास के निवास का औचित्य उज्जयिनी के साथ है साथ ही साथ मालवा प्रदेश से भी उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा होगा, क्योंकि मेघ के अलकापुरी जाने के समय यक्ष मेघ के मार्ग को निर्दिष्ट करता हुआ कहता है कि यद्यपि तुम्हारे मार्ग से उज्जयिनी का मार्ग कुछ टेढ़ा अवश्य पड़ेगा फिर भी तुम उज्जयिनी

होते हुए जाना ऐसा कहने में कवि का उज्जयिनी के प्रति एक अजीब स्नेह प्रदर्शित होता हुआ दिखाई देता है जिससे यह भली भॉति विदित होता है कि कवि ने अपने जीवन का अधिकांश समय उज्जयिनी में ही व्यतीत किया होगा।[1]

सम्भवतः यह कहा जा सकता है कि कालिदास का जन्म उज्जयिनी के प्रान्तर भाग में ही हुआ होगा।

कालिदास के काव्यों का सम्यक् अनुशीलन करने से यह विदित होता है कि उनके जीवन का अधिकांश भाग समाज के उच्च स्तरीय परिवारों राज्याश्रयों में व्यतीत हुआ था। इसलिए वह समाज में प्रचलित शिष्ट आचार–विचार, परिष्कृत भाषा तथा रीतिरिवाज से परिचित थे। संस्कृत भाषा तथा प्राकृत भाषा पर उनका असाधारण अधिकार था। रस, छन्द, अलङ्कार के वह प्रकाण्ड पण्डित थे। उपमा की सौन्दर्यता पग–पग पर उनके काव्यों में परिलक्षित होती थी।

कालिदास जाति से ब्राह्मण एवं शिव के महान् उपासक थे। वे प्रकृति एवं मानवीय भावनाओं के सूक्ष्म निरीक्षक थे। भौगोलिक क्षेत्र के ज्ञान से पूर्णतया बद्ध थे। इनके समस्त काव्यों में वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों, पुराणों स्मृतियों, धर्मशास्त्रों, रामायण, महाभारत सांख्य, न्याय, वैशेषिक इत्यादि दार्शनिक ग्रन्थों इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, संगीतशास्त्र, आयुर्वेद ज्योतिष अनेक कलाओं का सम्यक् वर्णन मिलता है।

संस्कृत काव्य साहित्य में कविकुलगुरू कालिदास के काव्यों का अद्वितीय स्थान है। काव्य शब्द से तात्त्पर्य है– गीतिकाव्य (खण्डकाव्य) तथा महाकाव्य दोनों से है। इन्होंने दो खण्डकाव्यों ऋतुसंहार, मेघदूत, दो महाकाव्यों कुमारसम्भव, रघुवंश की रचना की। इसके अलावा मालविकाग्निमित्रम, विक्रमोर्वशीयम् और अभिज्ञानशाकुन्तल नामक रचनाएं मानी जाती हैं। जिनमें प्रथम चार काव्य है अवशिष्ट तीन नाटक।

---

1. वक्रः पन्था यदिपिः भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां, सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः।
विद्युद्दामस्फुरित चकितैस्तत्र पौराङ्गनाना लीलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितौऽसि।।

सुरभरती के विलास 'कविकुलगुरू' कालिदास संस्कृत साहित्य के अप्रतिम रत्न हैं। महाकवि कालिदास की कीर्ति कौमुदी समग्र भारत में सातवी शती0 ई0 तक प्रसरित हो चुकी थी। काव्य मनीषियों ने उन्हें 'कनिष्ठिकाधिष्ठित' इस विरूत में मण्डित कर उनकी महिमा का गुणगान करने लगे।

"पुराकवीनां गणना प्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठित कालिदासा" यह उक्ति उनके महत्त्व की दृष्टि से चरितार्थ ही है– भले ही उनके स्थितिकाल के अनिश्चय के कारण कालक्रम की दृष्टि से सत्य न हो। कालिदास का पहला उल्लेख पुलकेशिन द्वितीय के एहोल शिलालेख (634 ई0) में हुआ है।

"स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रिम कालिदासभारवि कीर्तिः"

और लगभग इसी समय के बाण ने अपने हर्षचरित में कालिदास की प्रशस्ति की है। "निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु" इससे प्रतीत होता हैं कि कालिदास इससे पूर्व रहे होंगे। जिनके समय से संस्कृत के काव्य सहित्य का अभ्युदय और साथ ही उसकी समृद्धशाली परम्परा का आरम्भ हुआ।

कुमारसम्भव :– कुमारसम्भव महाकाव्य कालिदास की प्रौढ़ परिपक्व प्रतिभा का सफल निदर्शन है। कुमारसम्भव का जो रूप इस समय हमें उपलब्ध है उसमें 17 सर्ग विद्यमान हैं। अनेक विद्वानों की धारणा है कि 'कुमारसम्भव' के आरम्भिक आठ सर्ग ही कालिदास द्वारा सृजित हैं क्योंकि संस्कृत साहित्य के विख्यात टीकाकार मल्लिनाथ ने आरम्भिक आठ सर्गों पर ही टीका लिखी है। किन्तु कुछ विद्वदगणों का कहना है कि अन्तिम नौ सर्गों के बिना कुमारसम्भव में महाकाव्य के सम्पूर्ण लक्षण नहीं घटित हो पाते और इन नौ सर्गों की भाषा शैली में भी प्रारम्भिक आठ सर्गों की अपेक्षा कोई भिन्नता नजर नहीं आती है विशेष आपत्ति का कारण तो कुमारसम्भव का आठवाँ सर्ग है जिसमें शिव–पार्वती के उद्दाम वासनात्मक श्रृङ्गार का वर्णन है। इसलिए ऐसा कोई बाह्य एवं अन्तः प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है जो इन अंतिम नौ सर्गों को कालिदास की रचना न सिद्ध करता हो। अतः उक्त कथन विवादास्पद ही प्रतीत होता है।

'कुमारसम्भव' प्रथम महाकाव्य होने पर भी कला की सुन्दर सृष्टि से सम्पन्न है। इसमें भावों का उद्रेक चरम सीमा पर हुआ है। अपनी कोमल कल्पना एवं प्राञ्जल

पदविन्यास के कारण वह आधुनिक रूचि के विशेष अनुकूल है। कविताकान्त कालिदास की वर्ण्य शक्ति कुमारसम्भव में रमणीय रूप में प्रकट हुई है। इस महाकाव्य में कालिदास ने शिव–पार्वती के विवाह और उनके पुत्र कार्तिकेय (कुमार, स्कन्द) द्वारा तारकासुर के वध की कथा वर्णित की है।

कुमारसम्भव कालिदास की प्रतिभा का सम्यक् परिपाक है इसमें भाव सौष्ठव एवं कलासौष्ठव का सुन्दर सन्वय है। अलङ्कारों की विचित्र छटा, वर्ण्य विषयों में सजीवता, विशदता और स्वाभाविकता का पुट विद्यमान है–

इस दृष्टि से कुमारसम्भव का अमर सन्देश यही है कि बगैर काम वासनाओं को जलाये सच्चे स्नेह की प्राप्ति असम्भव है क्योंकि बिना तपस्या के स्नेह कभी परिनिष्ठित नहीं हो सकता।

रघुवंश :– सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में रघुवंश एक उत्कृष्ट महाकाव्य है, जिसमें काव्य के सम्पूर्ण लक्षणों का निर्वाह बड़ी ही उत्तम रीति से किया गया है। इसमें प्रारम्भ में ही शिव–पार्वती की स्तुति के द्वारा रघुवंश का आरम्भ हुआ है। इसके 19 सर्गों में 31 सूर्यवंशी राजाओं का गान किया गया है। आरम्भिक नौ सर्गों में राम के चार पूर्वजों– दिलीप, रघु, अज, दशरथ का वर्णन है। दस से पन्द्रह सर्ग तक रामचरित का यशोगान हुआ है तथा अन्तिम चार सर्गों में कुश से लेकर अग्निवर्ण तक राम के उत्तराधिकारियों का वर्णन है।

रघुवंश में कालिदास की परिपक्व प्रतिभा का दर्शन होता है इसकी लोकप्रियता का कारण विभिन्न काल में निर्मित अनेक टीकाओं के अस्तित्व से मिलता है। रघुवंश की उत्कृष्टता से प्रभावित होकर ही सूक्तिकारों ने कालिदास को 'रघुकार' के नाम से सम्बोधित किया– 'क इह रघुकारे न रमते–। रघुवंश में कालिदास ने रघु के अदम्य उत्साह का वर्णन बड़े ही सजीव रूप में वर्णित किया है– रघु अपनी अलौकिक दानशीलता से सम्पूर्ण व्यक्तियों का कल्याण करता है।

रघुवंश के 16वें सर्ग में महनीय काव्य तत्त्वों का सुन्दर आभास मिलता है। 19वें सर्ग का अन्त कवि ने कामुक एवं विलासी राजा अग्निवर्ण के मार्मिक चित्रण से किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास इसकाव्य के निर्माण में वाल्मीकि रामायण के सबसे अधिक ऋणी हैं। क्योंकि नवें सर्ग से 15वें सर्ग तक कवि ने वाल्मीकि रामायण

से ही प्रेरणा ली। इस प्रकार रघुवंश में कवि की प्रतिभा पग–पग पर परिलक्षित होती है। एक ओर भावों का भव्य आकर्षण है तो दूसरी ओर कलात्मकता का भाव सन्निहित है। एक ओर भाषा में प्रसाद और माधुर्य गुणों का समन्वय है तो दूसरी ओर अवर्णनीय अलङ्कारों की छटा परिलक्षित होती है। एक ओर अज–इन्दुमती के अन्तरङ्ग प्रेम का वर्णन है तो दूसरी ओर सीता परित्याग का मार्मिक दृश्य, एक ओर दिलीप की तपस्या एवं उसके तपोमय जीवन का वर्णन है तो दूसरी ओर अग्निवर्ण की घोर विषयाशक्ति। इस प्रकार रघुवंश में अनेक विरोधी गुणों का समन्वय है। इसके अलावा कहीं दार्शनिकता से परिपूर्ण पाण्डित्य का बोलबाला है तो कहीं काव्यशास्त्रीय वैदुष्य परिलक्षित होता है। कहीं उपमा का अनोखा वितान फैला है तो कहीं अर्थान्तरन्यास का, कहीं वर्णनों में विविधता है तो कहीं कल्पनाओं की ऊँची उड़ान। इस प्रकार उक्त सभी दृष्टियों से कुलगुरू कालिदास अन्य कवियों लिए आदर्श के भाजन सिद्ध हुए।

शैली की दृष्टि से कुलगुरू कालिदास न केवल संस्कृत वाङ्.मय के अपितु विश्व वाङ्मय के देदीप्यमान नक्षत्र है। उनकी सूक्ष्म एवं पैनी दृष्टि वाह्य एवं आभ्यान्तर विधाओं का सूक्ष्म अवलोकन करती हुई रमणीय एवं प्राञ्ज्ल पदावली में उनको अनुस्यूत करती है। इसमें शैली की प्रौढ़ता, भाषा पर पूर्ण अधिकार तथा प्रकृति के रमणीय दृश्यों का पर्यवेक्षण अत्यन्त पैनी दृष्टि से किया गया है। इनकी शैली में कहीं उपमाओं का सुन्दर पद गुम्फन है तो कहीं अर्थान्तरन्यास की अनोखी छटा, कहीं प्रसाद गुण का मञ्जुल सामञ्जस्य है तो कहीं माधुर्य का भाव परिलक्षित होता है। कालिदास ने अपने सभी ग्रन्थों यथा गीतिकाव्य, महाकाव्य एवं नाट्य रचना सभी में अपनी प्रखर एवं उज्ज्वल प्रतिभा का दर्शन कराया है। उनकी शैली सरलता में सरसता, सहज भावाभिव्यक्ति में कल्पना प्राचुर्य, दुरूहता में सुबोधता आदि विरोधी गुणों से परिपूर्ण हैं। कालिदस की सर्वतोमुखी प्रतिभा उन्हें संस्कृत काव्यजगत् में अद्वितीय स्थान प्रदान करती है। कालिदास की ख्याति का सर्वप्रमुख कारण है उनकी "प्रसादपूर्ण, लालित्य और परिष्कृत शैली" उन्होंने अपने समस्त ग्रन्थ वैदर्भी रीति में सृजित किये हैं। "वैदर्भीरीति–सन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते"। आचार्य दण्डी ने वैदर्भी रीति की उद्भावना सर्वप्रथम कालिदास द्वारा ही मानी है। साहित्य दर्पणकार ने वैदर्भी रीति का लक्षण निम्न प्रकार से दिया।[1]

---

1. माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका।
   अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भीरीतिरिष्यते।। सा0 दर्पण – 9/2–3

महाकवि कालिदास ने काव्य में भाव सौष्ठव के साथ–साथ भाषा सौष्ठव, पदलालित्य एवं भाषा की प्राञ्जलता पर भी ध्यान दिया। कालिदास की भाषा की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि उनकी भाषा सहज प्रवाहमयी एवं रसानुकूल होती है। साथ ही साथ वह भावों के अनुरूप होती है, जो पाठकों के चित्त को सद्यः अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। इनकी कृतियों की प्रसिद्धि का सबसे बड़ा कारण यही है।

इनके काव्यों में वर्ण्य विषय के अनुरूप पदावली का प्रयोग, सर्वत्र परिलक्षित होता है। यत्र–तत्र शब्द ध्वनि भाव ध्वनि को अभिव्यक्त करती हुई चलती है। कहीं-- कहीं संगीतात्मकता, लयात्मकता का पुट दृष्टिगोचर होता है। जैसे– महर्षि बाल्मीकि के आश्रम में जब लक्ष्मण सीता को छोड़ जाते है तो उस समय जानकी के करूण क्रन्दन का अत्यन्त मार्मिक चित्रण महाकवि ने किया है। जानकी के शोक पर समवेदना प्रकट करते हुए मोरों ने नाचना, भ्रमरों ने कुसुमरसास्वाद, मृगियों ने कुशचवर्ण छोड़ दिया था– इस प्रकार सम्पूर्ण वन में कारूणिक दशा का दृश्य विद्यमान था– क्रिया दीपक अलङ्कार का क्या ही सुन्दर दृष्टान्त है–

नृत्यं मयूराः कुसुमानि भृङ्गा, दर्भानुपात्तान् विजहुर्हरिण्यः।

तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद रूदितं वनेऽपि।।[1]

यहाँ 'विजहु' क्रियापद सभी के साथ जुड़कर चमत्कार उत्पन्न कर रहा है। यहाँ 'वनेऽपि' शब्द यह ध्वनित कर रहा है कि वन–प्रान्त का जब यह विरह विदग्ध हाल है, तो फिर अयोध्या तथा वहाँ के राज प्रासाद का क्या हाल होगा जहाँ से सीता का वियोग हुआ है।

इस प्रकार कालिदास की शैली में सुबोधता, काव्य में नाटकीयता नैसर्गिक सुषमा में सहज अलङ्करण, भावाभिव्यक्ति में कल्पना प्राचुर्य परिलक्षित होते हैं। शैली में भाषा की स्थिरता, अलङ्कारों का स्वाभाविक विन्यास, बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रकृति का मनोहारी चित्रण, रसों का सुन्दर परिपाक एवं विभिन्न मनोभावों का सुन्दर निदर्शन प्राप्त होता है।

---

1. रघुवंश – 14–69

कालिदास ने भाषा पर अपने स्वाभाविक अधिकार का रोचक प्रमाण निम्नलिखित श्लोकों में दिया है।

ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी, वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः।
जाताभिषङ्गो नृपतिर्निषङ्गादुद्धर्तुमैच्छत् प्रसभोद्धृतारिः।।[1]

और भी—

सुवदनावदनासवसंभृतस्तदनुवादिगुणः कुसुमोद्गमः।
मधुकरैरकरोन्मधुलालुपैर्वकुलमाकुलमायतपङ्क्तिभिः।।[2]

कालिदास ने तीव्र अनुभूतियों के प्रदर्शन के लिए और रमणीय मोहक चित्रों की स्थापना के लिए अलङ्कारों का विधान अत्यन्त स्वाभाविक और सहज रूप में किया। उन्होंने पाण्डित्य का प्रदर्शन करने की दृष्टि से अलङ्कारों का प्रयोग नहीं किया- उनको सबसे ज्यादा उपमा अलङ्कार प्रिय था। इसलिए 'उपमा कालिदासस्य' से उनको मण्डित किया गया। उनकी उपमाएं एकाङ्गी न होकर सर्वाङ्गीण एवं व्यापक हैं। कालिदास ने इन्दुमती की उपमा 'संचारिणी दीपशिखा' से दी है। उनकी यह उपमा काव्यप्रेमियों को इतनी अधिक प्रिय हुई कि कालिदास 'दीपशिखा' की उपाधि से समलङ्कृत हुए। चलती हुई दीपशिखा के आगे बढ़ जाने से मार्ग स्थित भवनों के अंधेरे में डूब जाने का साम्य राजाओं के शरीर को ही अंधेरे में डुबा देने मात्र से नहीं है प्रत्युत उस अंधेरे की निराशा में उन राजाओं के उत्साही मन के डूब जाने की व्यञ्जना का सङ्केत दे रहा है—

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे, विवर्णभावं स स भूमिपालः।।[3]

प्रकृति के अक्षय्य भण्डार से भी महाकवि ने रंग बिरंगी उपमाएं ली है— इसके अलावा उपमा का एक सुन्दर उदाहरण है— दिन और रात्रि के मध्य सुशोभित सन्ध्या के तुल्य दिलीप और सुदक्षिणा के मध्य में रक्तवर्णा नन्दिनी का चित्रण अत्यन्त सजीव है—

---

1. रघुवंश – 2/30
2. रघुवंश – 9/30
3. रघुवंश – 6/67

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या।

तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या।।[1]

कुमारसम्भव में जब चिरव्रती शंकर ने पार्वती, काम और बसंत के प्रभाव से उद्विग्न होकर विश्वसुन्दरी शैलजा की रूपराशि का दर्शन किया तो उनकी मनः स्थिति का भावोद्रेक कवि ने उपमा के विलक्षण सौन्दर्य के द्वारा किया है–

हरस्तु किञ्चित् परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।

उमामुखे विम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि।।[2]

कालिदास की उपमाओं में जो भावाभिव्यक्ति और रसभाव विद्यमान है उसी के समकक्ष अर्थान्तरन्यास की धारा भी बहती है–

"अर्थान्तरस्य विन्यासे कालिदासो विशिष्यते।"

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।

एको हि दोषो गुणसन्निपाते, निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः।।[3]

भाव यह है कि यद्यपि हिमालय गुणों की खान हैं परन्तु उसमें एक ही दोष है वह यह कि वह सदा हिम से आच्छादित रहता है। परन्तु उसका यह दोष गुणों में ही छिप जाता है जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणों में उसका कलंक छिप जाता है। उसी प्रकार गुण समूह में एक दोष भी छिप जाता है।

कविकुल गुरू ने अपने सभी काव्यग्रन्थों में वैचित्र्य एवं वैविध्य का बड़ा ही रमणीय दृश्य उपस्थापित किया है– वे जिस भाव को जिस रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं भाषा वहाँ उसी रूप में सामने आ जाती है– वर्णनों के अवसर पर उनकी भाषा की सजीवता का क्या ही सुन्दर वर्णन है– सायंकाल में सूर्यास्त का दृश्य अत्यन्त मनोरम होता है–

संचारपूतानि दिगन्तराणि, कृत्वादिनान्ते निलयाय गन्तुम्।

प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा, प्रभापतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः।।[4]

---

1. रघुवंश – 2/20
2. कुमारसम्भव – 3/67
3. कुमारसम्भव – 1/3
4. रघुवंश – 2/15

भगवान् राम सरयू नदी को देखकर भाव विह्वल हो जाते हैं और उसमें साक्षात् जननी का प्रतिरूप देखते है और अन्त में उसे माता सम्बोधित करते हैं। प्रकृति के मानवीकरण का क्या सुन्दर उद्दाम चित्रण निम्न श्लोक में कालिदास ने किया है–

सेयं मदीया जननीव तेन मान्येन राज्ञा सरयूर्वियुक्ता।

दूरे वसन्तं शिशिरानिलैर्मां तरङ्गहस्तैरुपगूहतीव।।[1]

इसी कारण महाकवि कालिदास को जयदेव ने "कविकुलगुरूःकालिदासो विलासः" कहा है।[2] कालिदास ने उत्प्रेक्षा के चमत्कार से क्या–क्या वर्णन दर्शाया है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश में उत्प्रेक्षा अलङ्कार की अति लुभावनी रचना की है। सीता के चरणों से वियुक्त नूपुर मानो सीता–चरण–विरह–व्यथा से मौन है। नूपुर के प्रति भगवान् राम की निम्न उक्ति कितनी मार्मिक है–

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां

भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।

अदृश्यत त्वच्चरणारविन्द–

विश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्।।[3]

कालिदास की उत्प्रेक्षा उपमा की परछाई सी है। उत्प्रेक्षा की इसी विच्छित्ति देखिए। इसी प्रकार गंगा–यमुना संगम वर्णन में क्या उत्प्रेक्षा का अनोखा चित्रण प्रदर्शित किया है– यमुना की लहरों से संश्लिष्ट पवित्र गंगा ऐसी सुशोभित हो रही है मानों साक्षात् शिव की प्रतिमूर्ति हो जो एक तरफ तो कृष्ण सर्पों से घिरी हो और दूसरी ओर भस्मलेप से अलङ्कृत दिखाई पड़ रही हो।

क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य।

पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्न प्रवाहा यमुनातरङ्गैः।।[4]

---

1. रघुवंश – 13/63
2. प्रसन्नराघव – 1–22
3. रघुवंश – 13/23
4. रघुवंश – 13/57

कालिदास प्रकृति के कुशल चितेरे हैं। प्रकृति के प्रति कवि का भाव पग–पग पर अभिव्यक्त होता है। मानव की भांति उनकी प्रकृति भी सुख–दुःख का अनुभव करती है। उनकी प्रकृति जड़ नहीं अपितु संवेदनशील है। रघुवंश में कालिदास ने गर्भवती सुदक्षिणा का वर्णन करते हुए लिखा है–

शरीरसादादसमग्रभूषण मुखेन साऽलक्ष्यत लोध्रपाण्डुना।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी।।[1]

कालिदास सौन्दर्य के उपासक हैं, इसलिए उन्हें सौन्दर्य का कवि भी कहा जाता है। रघुवंश में उन्होंने इन्दुमती के सौन्दर्य का बहुत ही सुन्दर वर्णन कियाहै। स्वयंवर सभा में श्यामवर्ण पाण्ड्यराज के वर्णन के प्रसङ्ग में सुनन्दा इन्दुमती से कहती है– कि ये महराज नीलकमल के समान श्यामवर्ण है और तुम गोरोचना सी गोरी हो अगर तुमने इनसे विवाह कर लिया तो तुम दोनों की शोभा मेघ और विद्युत की शोभा सदृश हो जाएगी–

इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः।
अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु।।[2]

रघुवंश की भंति कुमारसम्भव महाकाव्य में भी भावपक्ष एवं कलापक्ष का सुन्दर निदर्शन हुआ है। यह महाकाव्य भी श्रृङ्गार–प्रधान काव्य है जो तपरूपी प्रेम की चरम सीमा पर ही अभिव्यञ्जित होता है। अलङ्कारों की सुन्दरता, भाषा की अद्वितीयता ही कुमारसम्भव की अपनी निजी विशेषता है।

कुमारसम्भव की भी भाषा रघुवंश की भांति परिनिष्ठित एवं उदात्त पूर्ण है, जो प्रसाद एवं माधुर्य गुणों से मण्डित है।

शैली की दृष्टि से यह साधिकार कहा जा सकता है कि कालिदास वैदर्भी रीति के सर्वश्रेष्ठ कवि है।

महाकवि कालिदास सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति थे। सौन्दर्य का वर्णन करते हुए उन्होंने कुमारसम्भव में कहा हैः–

---

1. रघुवंश – 3/2
2. रघुवंश – 6/65

दिने दिने सा परिवर्धमाना लब्धोदया चान्द्रमसीव लेखा।
पुपोष लावण्यमयान्विशेषाज्ज्योत्स्नान्तराणीव कलान्तराणि।।[1]

भाव यह है कि चन्द्रमा की कला के सदृश पार्वती भी धीरे–धीरे वृद्धि को प्राप्त होने लगी। जिस प्रकार ज्योत्सना अर्थात् चाँदनी के बढ़ने के साथ–साथ उनकी अन्य कलाएं भी बढ़ती गयी हैं, उसी प्रकार पार्वती के साथ–साथ उसके अंग–प्रत्यंग भी वृद्धि को प्राप्त होने लगे।

कालिदास जब किसी भी भाव का अङ्कन करते हैं तो उसमें वह एक अनूठी शैली का प्रयोग करते हैं, जिसे वे कथन की अपेक्षा व्यञ्जनावृत्ति का आश्रय ले उसकी ओर सूक्ष्म सङ्केत कर देना ही पर्याप्त समझते है। इस माध्यम से कालिदास ने क्या ही बालसुलभ शालीनता का चित्रण किया है–

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती।।[2]

उनकी शैली की प्रमुख विशेषता है 'ध्वन्यात्मकता' जो पाठकों को स्वतः अभिभूत कर लेती है। जब महर्षि अङ्गिरा ऋषि पार्वती के सम्बन्ध में हिमालय के पास जाते है और हिमालय से शंकर के लिए पार्वती की मंगनी की प्रार्थना करते हैं तो उस समय समीप में ही बैठी पार्वती की मानसिक दशा का अङ्कन किया गया है। उक्त श्लोक में कोई अलङ्कार विद्यमान नहीं है फिर भी कवि ने कमलपंखुड़ियों की गिनती के वर्णन से पार्वती की सहज लज्जाशीलता, आन्तरिक प्रेम तथा आनन्दातिरेक के गोपन की प्रवृत्ति की बड़ी रूचिकर एवं मार्मिक व्यञ्जना की है।

कालिदास का शब्दलाघव उनकी कलात्मक चमत्कारिता का परिचायक है। वे कल्पना की ऊँची उड़ान भरने में परिपक्व एवं कुशल हैं। उनकी रशपेशलता से परिपूर्ण रचनाओं में "क्षणे–क्षणे यन्नवतामुपैति तदेवरूपं रमणीयतायाः" वाली लोकोक्ति सर्वथा चरितार्थ होती है।

---

1. कालिदासकृत कुमारसम्भव
2. कुमारसम्भव – 6/84

कालिदास ने श्रृङ्गार के दोनों पक्षों यथा संयोग श्रृङ्गार और विप्रलम्भ श्रृङ्गार का सुन्दर परिपाक अपने काव्यों में किया है।

कालिदास की काव्य भूमि में प्रेम की अनुभूति के सदृश सौन्दर्य की अनुभूति को भी एक अलौकिक आध्यात्मिक तत्त्व में परिलक्षित किया गया। प्रेम और सौन्दर्य एक ही रूप है। इनका पारस्परिक सम्बन्ध है। कवि ने शब्दचित्र के वैशिष्ट्य से सौन्दर्य का प्रदर्शन सर्वत्र किया हैं। महाकवि ने स्त्रीपुरूष के आङ्गिक सौन्दर्य का वर्णन भी सुरूचिपूर्ण ढंग से कियाहै– महाकवि पार्वती की मुस्कराहट का वर्णन करने में क्या अतिशयोक्ति की है–

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुट विद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद् विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरूचः स्मितस्य।।[1]

इसी प्रकार शब्दों की चमत्कारिता के द्वारा पार्वती के अङ्ग सौष्ठव का वर्णन भी कवि ने बड़े अच्छे ढंग से प्रदर्शित किया है–

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपात चूर्णिताः।
वलीसु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदविन्दवः।।[2]

तपस्या करती हुई पार्वती के वर्णन में जहाँ प्रथम मेघ की बूँदे उसके सघन पक्ष्म वाले नेत्रों पर गिरकर कुछ देर रूककर, ओंठो पर गिरते हुए, कठोर पयोधरों पर गिरने से चूर्णित होकर त्रिवली पर लुढ़कने के बाद गम्भीर नाभि में जा घुसती है। यहाँ पर कालिदास ने ध्वनि की चमत्कारिता का सुष्ठ रूपेण दिग्दर्शन कराया है। इस वर्णन में एक ओर पद्मासन की योगाभ्यास वाली स्थिति, दूसरी ओर पार्वती के तत्तदंगो की सुन्दरता और सुडौलपन की व्याख्या पायी जाती है। तापस वेष में मनोरम प्रतीत होती हुई पार्वती का सौन्दर्य अद्भुत प्रतीत हो रहा है–

यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरूहैर्जटाभिरप्येवम् भूत्तदाननम्।
न षट्पदश्रेणिभिरेव पङ्कजं सशैवलासङ्गमपि प्रकाशते।।[3]

---

1. कुमारसम्भव – 1/44
2. कुमारसम्भव – 5/24
3. कुमारसम्भव – 5/9

जैसे साज श्रृङ्गार किये हुए केशों से उसका मुख सुन्दर लगता था वैसे ही जटाओं से भी शोभित हुआ। कमल केवल भौरों से नहीं अपितु सिवार से लिपटा होने पर भी अच्छा लगता है।

महाकवि ने नववधू के प्रेम का क्या अतिरञ्जित वर्णन किया है –

आत्मानमालोक्य च शोभमानामादर्शबिम्वे स्मितायताक्षी।
हरोपयाने त्वरिता वभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः।।

कुमारसम्भव – 7/22

कुमारसम्भव में अलङ्कारों का यथोचित सन्निवेश प्रदर्शित होता है। महाकवि ने कविता रूपी वनिता को सर्वत्र ही सुन्दर अलङ्कारों से सुसज्जित कियाहै। उन्होंने श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास, दृष्टान्त आदि को समुचित स्थान प्रदान किया है। उत्प्रेक्षा का एक अत्यन्त रोचक वर्णन निम्न श्लोक में किया है–

आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरूणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्पस्तवकावनम्रा सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव।।

कालिदासकृत–कुमारसम्भव

अर्थात् स्तन भार से झुके हुए शरीर पर प्रातः कालीन सूर्य की भांति अरूणिम वस्त्र को धारण किये हुए वह ऐसी प्रतीत हो रही थी मानो फूलों के गुच्छों से झुकी हुई पल्लविनी लता नवीन लाल–लाल कोंपलों वाली चलती फिरती कोई लता हो।

महाकवि कालिदास ने ध्वनिकाव्य के भी उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किये, क्योंकि व्यञ्जकता का होना उनकी शैली का अपना गुण है। व्यञ्जकता से वैशिष्ट्य का विवेचन काव्यों की अपनी चमत्कारिता है– इसलिए काव्य में व्यञ्जना एवं व्यङ्ग्य अर्थ का अपना अलग महत्त्व होता है। यही काव्य का प्राणभूत है। महाकवित्व की कसौटी व्यङ्ग्य अर्थ ही है। साधारण कवियों के काव्य में यह व्यङ्ग्य अर्थ नहीं पाया जाता, किन्तु शब्द एवं अर्थ का ज्ञान महाकवियों को होता ही है वे ही उस (व्यङ्ग्यार्थ) अर्थ को समझकर उसका अभिनिवेश अपने काव्य में करते हैं। अतएव महाकवि पद की प्राप्ति के लिए व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान आवश्यक है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ को ही

काव्य की आत्मा कहा है। इस दृष्टि से कालिदास महाकवित्व की कसौटी पर खरे उतरते हैं। जैसा कि स्वयं आनन्दवर्धन ने कहा है–

येनस्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो
द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवयः इति गण्यन्ते।[1]

इसी प्रसङ्ग से सम्बन्धित महाकवि ने कुछ उद्धरण प्रस्तुत किये हैं– पार्वती द्वारा शिव के वरण प्रसङ्ग में मार्मिक व्यञ्जना प्रस्तुत की गयी है। एक ओर शिव की अकिंचनता, दुर्वेष, असौन्दर्य और अप्रभावोत्पादकता है, दूसरी ओर पार्वती का अलौकिक सौन्दर्य, सुकुमारता और दिव्य आकर्षण है। दोनों का विरोध हास्यमिश्रित व्यङ्ग्य में प्रस्तुत किया गया है। बटुरूपधारी शिव का वक्तव्य है– कि शिव से प्रेम करके चन्द्रकला और तुम दोनों ने अपना दुर्भाग्य बुलाया है। कोमल भाव के साथ ललित पदावली का क्या समन्वय है–

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां, समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी।।[2]

इस कारण सोढ्ढल ने इन्हें रसेश्वर की उपाधि से समलङ्कृत किया और उनकी प्रशंसा करते हुए कहा है–

ख्यातः कृतो सोऽपि कालिदासः शुद्धा सुधा स्वादुमती च यस्य।
वाणीमिवाच्चोष्णा मरीचिगोत्रसिन्ध्वोः परं पारमवाप कीर्तिः।।

तात्पर्य यह है कि धन्य हैं वे कवि कालिदास जिनकी कीर्ति उनकी कविता के समान ही निर्दोष, अमृततुल्य एवं मधुर है। जिस प्रकार उनकी वाणी सूर्यवंश का पूरा वर्णन कर सकी वैसे ही उनकी कीर्ति भी समुद्र के पार पहुँची है।

कालिदास ने अनेक साहित्यिक रूढ़ियों को जन्म दिया जैसे– द्रुतविलम्बित छन्द में 'यमकमयवर्ण'। उन्होंने नवम सर्ग में वसन्तऋतु का यमकमय प्रयोग किया है किन्तु उनमें रस की ही प्रधानता है। यथा–

---

1. ध्वन्यालोक – 1/6 वृत्तिभाग
2. कुमारसम्भव – 5/71

कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम्।
इतियथाक्रममाविरभून्मधुर्द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम्।। रघुवंश -- 9/26

कालिदास के महाकाव्य संस्कृत काव्यकला का चरमोत्कर्ष प्रस्तुत करते हैं। कालिदास के युग में नैसर्गिक सौन्दर्य को ही वरीयता दी जाती थी जिसका प्रमाण उनके 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में दृष्टगत होता है–

"दूरीकृता खलु गुणैरुद्यानलतावनलताभिः" अभि0 पृ0 39

महर्षि बाल्मीकि की अपेक्षा इनमें सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी मान्यताएं काफी विकसित हो गयी थी। सौन्दर्य में इन्होंने स्वाभाविकता को ही महत्त्व दिया–

"इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापितन्वी" अभिज्ञानशाकु0 – पृ0 46

कालिदास सुकुमार भावों के कवि हैं। उनकी असाधारण विश्व व्यापिनी प्रतिभा महाकाव्यों में विचित्र वर्णन करने, अलौकिक रस सन्दोह अभिव्यक्त करने, तथा आदर्शभूत सृष्टि करने में निपुण थी। वैसे ही नाटको तथा गीतिकाव्यों में पात्रों के अनुरूप चरित्रचित्रण करने में तथा सूक्ष्म विकारों के वर्णन में समर्थ थी।

प्रसाद की अगाधता, माधुर्य का मधुर सन्निवेश, पदों की कोमलतकान्त अवली, भाव का सौष्ठव, उपमा की विमलता तथा अपूर्वता, अलङ्कारों की रमणीयता सभी ने कालिदास की कविता को विश्वविख्यात बना डाला। कालिदास के भावों का साम्राज्य लोगों को मंत्रमुग्ध कर देता है, इसके अलावा अनूठी एवं चमत्कारिणी उपमा का कहना ही क्या है? रघुवंश महाकाव्य की तरह आदर्श सृष्टि कहीं परिलक्षित नहीं होती है। रघुवंश और कुमारसम्भव जैसी सूक्ष्मनिरीक्षण शक्ति अन्यत्र विद्यमान नहीं हैं। कालिदास का प्रकृति प्रेम, अपूर्व सहानुभूति से मिश्रित है। वे ही एकमात्र ऐसे कवि है जिन्होंने प्रथम बार प्रकृति के साथ बन्धुत्व स्थापित करने का प्रयास किया। कुमारसम्भव के प्रथम श्लोक में उन्होंने हिमालय को जड़ नहीं माना प्रत्युत उसे देवतात्मा कहकर सम्बोधित किया।[1] इसलिए कालिदास के काव्य में प्रकृति भी अपने अधिष्ठाता देवताओं

---

1. अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयोनाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः।। कुमार0– 1/1

के व्याज से अपनी सहानुभूति और अपने स्नेह का प्रदर्शन करती है। कालिदास का यही सुकुमार एवं भावात्मक दृष्टिकोण कुमारसम्भव में भी परिलक्षित होता है।[1] रघुवंश के द्वितीय सर्ग में हिमालय का वर्णन प्रकृति के आलम्बन रूप का परिचायक है—

"स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावास वृक्षोन्मुखबर्हिणानि।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन्।।" रघुवंश 2/17

राजा दिलीप उन हरे वनों को देखते जा रहे थे, जिनमें छोटे—छोटे जलाशयों से वराह निकलकर आ रहे थे, जहाँ मोर अपने निवास—वृक्ष की ओर उड़ रहे थे और हिरण घास पर बैठे हुए थे। अग्नि के समान राजा दिलीप पर लताएं उसी प्रकार दृष्टि कर रही थी, जिस प्रकार राजा के स्वागतार्थ नगर की कन्याएं धान की खीले बरसाती हैं—

"स निर्विश्य यथाकामं तटेष्वालीनचन्दनौ।
स्तनाविव दिशस्तस्याः शैलो मलयदर्दुरौ।।" रघुवंश — 4/51

इसी प्रकार परमधाम जाते समय श्री राम ने सरयू को अयोध्यावासियों के लिए स्वर्ग की सीढ़ी बना दिया—

"उपस्थितविमानेन तेन भक्तानुकम्पिना।
चक्रे त्रिदिवनिश्रेणिः सरयूरनुयायिनाम्।।" रघुवंश —15/100

रघुवंश के सोलहवें सर्ग का ग्रीष्मवर्णन प्रकृति के दृष्टान्त का सर्वश्रेष्ठ नमूना है—

अगस्त्यचिह्नादयनात्समीपे दिगुत्तरा भास्वति सन्निवृत्ते।
आनन्दशीतामिव वाष्पवृष्टिं हिमस्तुतिं हैमवतीं ससर्ज।। रघुवंश — 16/44

प्रकृति के इन वर्ण्य दृश्यों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास को प्रकृति का मनोवैज्ञानिक चित्रण भी करना पसंद था। अग्निमित्र व्यसनी है उसमें रजोगुण की प्रधानता है फलतः उसे अपनी वासनाओं की ही छाया सर्वत्र दीख पड़ती है। इन्दुमती के निष्प्राण हो जाने पर उसके शरीर को गोद में लिए हुए अज इस प्रकार प्रतीत होते है जैसे— प्रातः कालीन चन्द्रमा की ओट में मृग की धुंधली छाया हो।

कालिदास को जीवजन्तुओं के व्यवहार का भी ज्ञान था। इनके उपमानों में चित्रमयता भी पर्याप्त रूप से विद्यमान है।

"रक्तवर्णा नन्दिनी की पीठ पर बैठा हुआ पीले केसरों वाला सिंह ऐसा प्रतीत होता है जैसे गेरू के पहाड़ी ढाल पर पीले फूलों वाला लोध्रवृक्ष फूल रहा हो।

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्र द्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम्।। रघु0–2/29

धवल वस्त्र धारण किये हुए दिलीप अपनी पत्नी सुदक्षिणा के संग वैसे ही सुशोभित हो रहे थे जैसे – पूर्णिमा के दिन चित्रानक्षत्र के साथ उज्ज्वल चन्द्रमा प्रकाशित हुआ हो।

काऽप्यभिख्या तयोरासीद् व्रजतोः शुद्धवेषयोः।
हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव।। रघुवंश – 1/46

कालिदास ने स्त्रियों के सौन्दर्य में भी प्राकृतिक चित्रणों के दर्शन किये हैं अज विलाप कर रहे है–

"कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम्।
प्रषतीसु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलवासु विभ्रमाः।। रघुवंश– 8/59
"त्रिदिवोत्सुकयाऽप्यवेक्ष्य मां निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया।
विरहे तव में गुरूव्यथं ह्रदयं न त्ववलम्बितुं क्षमा।। रघुवंश– 8/60

रघु के दिग्विजय के प्रसंग में दक्षिण भारत की कावेरी नदी का दुश्चरित्रा नायिका के रूप में सुन्दर वर्णन किया है– महाराज रघु जब कावेरी के तट पर पहुंचे तो उनके सैनिकों ने जीभरकर स्नान किया और जल को मथ दिया–

ततो वेलातटेनैव फलवत्पूगमालिना।
अगस्त्याचरितामाशामनाशास्यजयो ययौ।। रघुवंश – 4/45

प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में कालिदास के अन्दर तीन विशेषताएं विद्यमान है शब्दों के दृष्टिकोण से पदावलियों में मधुरिमा रहती है, अर्थ में चित्रमयता रहती है एवं उपमानों का सुन्दर सामञ्जस्य सन्निविष्ट रहता है। संस्कृत साहित्य में कालिदास जैसे वसंत वर्णन करने वाला कोई कवि नहीं है। अश्वघोष इत्यादि परवर्ती महाकवियों ने तो इनके ही भावों का अनुकरण किया। इसके अलावा कालिदास में मौलिकता है, उपमा,

रूपक, उत्प्रेक्षा द्वारा कवि ने चित्रमयता की सृष्टि की। पदलालित्य और अर्थ सौन्दर्य सभी ग्रन्थों में विद्यमान है–

नयगुणोपचितामिव भूपतेः सदुपकारफलां श्रियमर्थिनः।
अभिययुः सरसो मधुसम्भृतां कमलिनीमलिनीर पतत्रिणः।। रघु0 – 9/27

जिस प्रकार नीति पूर्वक पराक्रमादि गुणों से बढ़ी हुई और सज्जनों की उपकारिका राजा दशरथ की लक्ष्मी के आगे से बहुत से मंगन हाथ फैलाया करते थे उसी प्रकार पराग से भरी हुई तालाब की कमलिनी के आस–पास भ्रमर और हंस मंडराने लगे।

कुसुममेव न केवलमार्तवं नवमशोकतरोः स्मरदीपनम्।
किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितः।। रघु0 – 9/28

वसन्त में फूले हुए केवल अशोक के नये–नये फूलों को देखकर ही कामोद्दीपन नहीं होता था, किन्तु कामिनियों के कानों में सुशोभित विलासी एवं विलासिनियों को उन्मत्त करने वाले पल्लव भी कामोद्दीपक हुए।

उपहितं शिशरापगमश्रिया मुकुलजालमशोभत किंशुके।
प्रणयिनीव नरवक्षतमण्डनं प्रमदया मदयापित लज्जया।। रघु0–9/31

वसंत के आने से पलाश के वृक्षों में कलियाँ निकल आयी है। वे ऐसी जान पड़ती थी मानों काम के आवेश में लाज को छोड़कर किसी कामिनी ने अपने प्रियतम के शरीर पर नखक्षत कर दिये हों।

श्रुति सुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरूचो बभुः।
उपवनान्तलताः पवना हतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः।। रघु0–9/35

कालिदास ने मधुमास की प्रकृति–सुषमा पर नारीत्व का आरोप किया है। वन की लताएं भौंरे के गुञ्जार के बहाने गीत गा रही थीं। इसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वसन्तवर्णन, चित्रकूट, संगम, सरयू आदि के दृश्यों का वर्णन करते समय कालिदास की प्रतिभा अपने उत्कर्ष के चरमबिन्दु पर पहुँच गयी है। रघुवंश का एक ही उपमान संगम का पूर्णचित्र अङ्कित कर देता है–

"क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभः प्रदेशा।।" रघुवंश– 13/56

मानसरोवर से निकली हुई सरयू नदी अव्यक्त से प्रादुर्भूत बुद्धितत्त्व के समान है –

पयोधरैः पुण्यजनाङ्गनानां निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु यस्याः।

ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति।। रघुवंश– 13/60

इन सभी दृश्यों का सिंहावलोकन करने के अनन्तर यह भली–भाँति विदित होता है कि कालिदास का जितना अधिक नदियों के साथ सौहार्द पूर्ण स्नेह था उतने ही प्रभावशाली शब्द भी उनके पास विद्यमान थे। प्रकृति चित्रण के प्रसङ्ग में उन्होंने कभी भी रूढ़िवादिता स्वीकार नहीं की। उन्होंने मुग्ध दृष्टि से भारत के विभिन्न स्थलों की नैसर्गिक शोभा देखी थी जिसका अनिवर्चनीय प्रभाव उनके हृदय पर पड़ा।

प्रकृतिवर्णन की दृष्टि से कुमारसम्भव भी सुन्दर महाकाव्य है इसके लिए कालिदास ने कथा प्रकरण ही ऐसा चुना है जिसका वर्णन पूर्णरूप से हिमालय की उपत्यकाओं में ही केन्द्रित है। देवात्मा हिमालय, मन्दाकिनी, नन्दी, सप्तर्षि, काम रति, ऋतुराज वसन्त सभी इस महाकाव्य के पात्र है। ये सभी पात्र अलौकिक दिव्यता लिये हुए हैं तथा उनके साथ जुड़ी कथा भी दिव्य है। इसी कारण सहृदय कुमारसम्भव का स्वाध्याय करने के अनन्तर काव्यामृत महासिंधु की रसोर्मियों में निमज्जन करता हुआ वेसुध हो जाता है। कालिदास ने अपनी नवनवोन्मेषशालिनीप्रतिभा के सहारे इन अलौकिक और दिव्य विभूतियों का वर्णन किया। उन्हें जहाँ एक ओर हिमालय के वर्णन में सहायता मिली वहीं दूसरी ओर यक्ष, किन्नर, गन्धर्वों तथा ओषधि प्रस्थपुरी के काल्पनिक वर्णन में भी पूर्ण सफलता मिलती है। उनकी उक्तियां, उत्प्रेक्षा, सौन्दर्य विधान कुछ ऐसा हैं जिसका वर्णन करने के लिए हमारे पास शब्द ही नहीं है।

रघुवंश की भांति कुमारसम्भव का भी प्रकृति चित्रण आलम्बन विभाव के रूप में है। भावनाओं को रंग से रंजित कर खींचने वाले मधुर चित्रों में केवल कालिदास ही पहले कवि है। इनके इन दृश्यों की बराबरी अश्वघोष भी नहीं कर पाये।

कुमारसम्भव के आठवें सर्ग में सन्ध्याकाल अत्यन्त विशद रूप से वर्णित है जिसका उत्तरकालीन कवियों ने अनुसरण करके अपने महाकाव्य में सन्ध्या, सूर्यास्त, चन्द्रोदय आदि के वर्णन किये– कुमारसम्भव का एक दृश्य–

सीकरव्यतिकरं मरीचिभिर्दूर यत्यवनते विवस्वति।
इन्द्रचापपरिवेषशून्यतां निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी।। कुमारसम्भव – 8/31

हिमालय पर बैठे हुए शिव पार्वती से कह रहे है– यह देखो तुम्हारे पिता के झरने बहे चले आ रहे हैं परन्तु इनकी पहले जैसी शोभा नहीं है, सूर्य के डूब जाने से उसकी किरणों का सम्पर्क झरनों के जलकरणों से जाता रहा अतएव वे इन्द्रधनुष के परिवेष से शून्य है।

कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग में हिमालय का विम्बग्राही वर्णन कवि ने किया है। पर्वतराज हिमालय के पार्थिव स्वरूप का वर्णन करते समय कवि ने केवल कल्पना का ही आश्रय नहीं लिया, बल्कि हिमालय की उपत्यकाओं में घूमते समय देवदारू, चीड़, बांस के सघन वन, गरजते हुए मदमस्त सिंहों, चामर मृगों ने भी उनके मन को अपनी ओर खींचा होगा, इन सभी का वर्णन उनके अनुभव पर ही अधिष्ठित प्रतीत होता है, परन्तु भागीरथी का कल–कल बहना, रत्न एवं धातुओं का प्राप्त होना इन सब का वर्णन काल्पनिक नहीं है। इसके अलावा कालिदास ने स्त्री सुलभ सौन्दर्य के वर्णन में भी एक मौलिकता दिखाई है– देखिये–

शिरीषपुष्पाधिक सौकुमार्यौ, बाहू तदीयाविति में वितर्कः।
पराजितेनापि कृतौ हरस्य यौ कण्ठपाशौ मकरध्वजेन।। कुमार0– 1/41

मेरी कल्पना यह है कि पार्वती के दोनों हाँथ शिरीष फूल से भी अधिक सुकोमल है, क्योंकि यदि यह बात न होती तो कामदेव अपने पुष्पबाणों से शिव को वश करने में असमर्थ होकर पराजित बन उनके कण्ठ को बांधने के लिए इन भुजाओं की सहायता क्यों लेता?

इस प्रकार कुमारसम्भव का प्रत्येक श्लोक सरस, मधुर एवं आकर्षक है। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त ने जिस रसध्वनि को काव्य की आत्मा माना है उसी की अजस्त्र धार यहाँ प्रवाहित है। कालिदास में अतुलनीय प्रतिभा

विद्यमान थी। काव्यशास्त्र, संगीतशास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र के वह महान् पारखी थे। इसी दृष्टि से उनके कतिपय श्लोक शब्दसौष्ठव, शब्दसंगीत, अभिव्यञ्जना और 'गावों की कोमलता के दृष्टिकोण से अवर्णनीय हैं। उनका काव्य सहृदय को अलौकिक जगत् में खींच ले जाता है, जिसका वर्णन अभिज्ञानशाकुन्तल में भी उन्होंने किया है–

तवास्मिगीत रागेण हारिणा प्रसभंहतः" – अभि0

इसी आत्मविस्मरणकारिणी स्थिति को अभिनव ने व्यतिरेक तुराथीतीत स्थिति माना है। जहाँ कुमारसम्भव का रसोन्मेष सहृदयों को आकृष्ट कर लेता है वहीं – कान्तिचन्द्रपाण्डेय के शब्दों में– यह वह स्थिति है जहाँ चैतन्य भी आत्मा में समाहित हो जाता है। दीपक की निश्चल लौ के समान केवल आत्मा ही प्रकाशित रहती है, आत्मा अपने आनन्द स्वरूप में स्थिर रहती है। इसी वैशिष्ट्य के कारण आनन्दवर्धन ने कालिदास की गणना बाल्मीकि के साथ करके उन्हें 'महाकवि' इस उपाधि से मण्डित किया। कालिदास ने भारत की प्राकृतिक सम्पत्ति का नये उपमानों का, सौन्दर्य की अनुपमेय भावनाओं का एवं नैसर्गिक व्यापारों का वैज्ञानिक की तरह सूक्ष्म निरीक्षण कर सौपर्य सौन्दर्य के परिधान पहना महिमामण्डित किया।

कवि का उद्देश्य हिमालय में उन सुखों की उपलब्धि दिखाना है जिनकी कल्पना मनुष्य स्वर्ग में करता है। यहाँ के भोजपत्र का उपयोग किन्नरियां, विद्याधारियां प्रेमपत्र लिखने में करती है।

"न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेख क्रिययोपयोगम्"।। कुमार0 – 1/7

हिमालय पर्वत पर विद्याधरों की स्त्रियाँ गजबिन्दु के समान लाल भोजपत्र पर धातुओं के रस से अपने सन्देशमय प्रेमपत्र को लिखकर प्रियतमों को भेंजती हैं।

"भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढामुहुः कम्पित देवदारूः। कुमार0 – 1/15

रूप योजना एवं विम्ब ग्रहण कराने का यह अत्यन्त कौशलपूर्ण उपाय है। कालिदास ने पहली बार हिमालय के मानवीय स्वरूप का वर्णन छठे सर्ग के 51वें श्लोक में किया–

"धातुताम्राधरः प्रांशुर्देवदारूबृहद्भुजः।
प्रकृत्यैव शिलोरस्कः सुव्यक्तो हिमवानिति।। कुमारसम्भव – 6/51

हिमालय के मानवीय स्वरूप और उसकी राजधानी ओषधिप्रस्थपुरी के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास आकाश के चित्रकर्म प्रस्तुत करने के पक्षपाती थे। उनकी कल्पनाएं पुराणों की मान्यताओं से अनुप्राणित है। कल्पना करने में भी कालिदास को यथार्थ से अधिक दूर जाना अच्छा नहीं लगता। पर्वतराज हिमालय के राजभवन में भी वही सम्बन्ध, वहीं भाव तथा मानसिक द्वन्द दिखाई पड़ते हैं, जो मानवीय व्यवहार में प्रायः दीख पड़ते है– पिता हिमालय के हृदय में भी पार्वती को देखकर वात्सल्य की दुग्धधार बहने लगती है–

महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगामतृप्तिम्।
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हिचूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा।। कुमारसम्भव–1/26

इस प्रकार कालिदास ने हिमालय के द्विविध स्वरूप का वर्णन किया है। हिमालय भारत के उत्तर में पूर्व समुद्र और पश्चिम समुद्र का स्पर्श करता हुआ पर्वतराज है तथा अपने मानवीय स्वरूप से वे पार्वती के पिता है।

कुमारसम्भव के द्वितीय सर्ग में तारकासुर के आसुरी वैभव का वर्णन है। सूर्य, चन्द्र, पर्वत, नदी, समुद्र सभी उसके आतंक से भयभीत है। छहों ऋतुओं की भी विचित्र दशा है–

पर्यायसेवामुत्सृज्य पुष्पसम्भारतत्पराः।
उद्यानपालसामान्यमृतवस्तुमुपासते। कुमारसम्भव – 2/36

तृतीय सर्ग में भगवान् शङ्कर की समाधि को भङ्ग करने के लिए मदन अपने सखा ऋतुराज वसन्त को लेकर हिमालय की रङ्गभूमि में उतरता है तथा इस अवसर पर कामदेव भी अपनी पत्नी रति के साथ विद्यमान है।

मधुश्च ते मन्मथ! साहचर्यादसावनुक्तोऽपि सहाय एव।
समीरणो नोदयिता भवेति त्यादिश्यते केन हुताऽशनस्य।। कुमार0–3/21

कुमारसम्भव के तृतीय सर्ग में वर्णित वसन्त वर्णन में हिमालय जैसा ही वैशिष्ट्य विद्यमान है। एक ओर ऋतुराज वसंत की नैसर्गिक सुषमा, तो दूसरी तरफ स्वयं वसन्त

अपने मानवीय स्वरूप में वहाँ उपस्थित है। कामदेव के पञ्च बाणों में आम्रमञ्जरी सबसे अधिक प्रसिद्ध है। वसन्त अपने मित्र के लिए बाण तैयार करता है। नयी—नयी कोंपले लगाकर उसने आम की मञ्जरी का भी बाण तैयार कर दिया। आम के बौरों पर बैठे हुए भौरे ऐसे प्रतीत होते है मानों वसन्त ने उस बाण पर कामदेव के नाम के अक्षर लिख दिये हों।

लग्नद्विरेफाञ्जनभक्तिचित्रं मुखे मधुश्रीस्तिलकं प्रकाश्य।
रागेणबालाऽरूणकोमलेन चूतप्रवालोष्ठमलञ्चकार।। कुमार0 — 3/30

कामदेव अपनी पत्नी रति को लेकर जब इस काव्यभूमि में उतरा तो चराचर विश्व काम की उद्दाम ऊर्मियों में प्रवाहित होने लगा। भौंरा अपनी प्रिया के पीछे—पीछे घूमता हुए एक ही फूल के कटोरे से रस का मधुपान करने लगा, कृष्णवर्णी हिरण स्पर्श से आनन्दित बंद आंखों वाली हिरनी को अपनी सींग से खुजलाने लगा, हस्तिनी सूंड़ में कमल राग से सुगन्धित जल भरकर अपने प्रिय गज को पिलाने लगी। चक्रवाक अपनी आधी कटी हुई कमल की नाल लेकर चक्रवाकी को खिलाने लगा। यह चेतन जगत् की परिणति थी जिसको हम अचेतन एवं निर्जीव समझते थे, वहाँ पर भी काम की छाया का स्पन्दन होने लगा। देखिये —

"मधुद्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
श्रृङ्गेण च स्पर्शनिमालिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः।।" कुमार0—3/36
"पर्याप्तपुष्प स्तबकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालोष्ठ मनोहराभ्यः।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुज बन्धनानि।।" कुमार0— 3/39

कुसुमगुच्छक रूपी स्तनों से परिपूर्ण और हिलने वाले पल्लवरूपी ओष्ठों से मनोहारिणी लतारूपी कामिनियों से स्थावर वृक्ष रूपी कामुक पुरूष भी फैली हुई शाखा रूपी भुजा के द्वारा आलिङ्गन को प्राप्त करने लगे। अर्थात् जब ब्रह्मादि स्थावर पदार्थो को भी कामविकार उत्पन्न हो गया तब दूसरे प्राणियों की अवस्था का क्या कहना है? साहित्य विशेषज्ञों के अनुसार यहाँ केवल श्रृङ्गार का आभास हो रहा है इसलिए रसाभास है परन्तु कालिदास का उद्देश्य रसाभास का चित्रण करना नहीं है अपितु उनका उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि अनुकूल वातावरण प्राप्त करके कामवासना जड़—चेतन सभी को अपने अङ्क में आबद्ध कर लेती है—

भगवान् शंकर की समाधि की दूसरी स्थिति है। वे दीपक की निश्चल लौ के समान समाधिस्थ है। नन्दी अपना स्वर्णदण्ड लेकर सभी को शान्त कर रहे है। उनके एक ही आदेश पर वृक्षों ने हिलना–डुलना बन्द कर दिया, पशु पक्षियों ने कलरव करना बन्द कर दिया, जंगली जन्तु जहाँ खड़े थे वहीं की वहीं खड़े रह गये। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानों सारा वन अभयारण्य चित्रलिखित सा हो गया हो।

निष्कम्पवृक्षं निभृतद्विरेफं मूकाऽण्ऽजं शान्त मृग प्रचारम्।
तच्छासनात्काननमेव सर्व चित्राऽर्पितारम्भ मिवाऽवतस्थे।। कुमार0–3/42

जब कामदेव ने अपने धनुष पर बाण चढ़ाया तब शिवजी का भी धैर्य क्षणभर के लिए छूट गया और वे पार्वती को देखने लगे तब पार्वती भी नवकदम्ब कुसुमों के सदृश अपने पुलकपूर्ण अङ्गों से अपना भाव प्रकट करती हुई तिरछे मुँह करके खड़ी हो गयी।

"विवृण्वती शैलसुतापि भावभङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारूतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन।।" कुमार0 – 3/68

इस प्रकार वसन्त ऋतु का चित्रण रूप योजना और विभिन्न व्यापारों की संश्लिष्टता से युक्त है। दार्शनिक सिद्धान्तों को जाने बिना कालिदास का लक्ष्य स्पष्ट नहीं हो पाता है।

चतुर्थ सर्ग में– रति विलाप का दृश्य बड़ा ही मार्मिक है। समाधिस्थ शंकर पर वसंत के पार्थिव सौन्दर्य का प्रभाव नहीं पड़ता। कामदेव की भी शक्ति प्रतिहत हो जाती है परमयोगी शिव के तृतीय नेत्र से प्रादुर्भूत क्रोधाग्नि की लपटों में काम जल जाताहै। कामदेव, रति और वसन्त के प्रयत्न इस सर्ग में एक ही लक्ष्य की ओर उन्मुख है– रघुवंश के अष्टम सर्ग में पुष्पमाला के आधार से इन्दुमती के मर जाने पर महाराज अज ने विलाप किया है। इसी प्रकार कुमारसम्भव के चतुर्थ सर्ग में कामदेव के भस्म हो जाने पर जो रति का विलाप हुआ है वह बहुत ही ह्रदय विदारक है।– अज इन्दुमती के मरने पर विलाप कर रहा है–

"कुसुमान्यपि गात्रसंगमात् प्रभवन्त्यायुरपोहितं यदि।
न भविष्यति हन्त! साधनं किमिवान्यत् प्रहरिष्यतोविधेः।।" रघु0–8/44

यदि कोमल फूल भी शरीर को छूकर जीवन नष्ट करने में समर्थ है तो मारने वाले निर्दयी विधाता के लिए और कौन चीज साधन नहीं हो सकती। जल कोमल सुमन से ऐसी दशा हो जाती है तो कठोर वस्तुओं का कहना ही क्या?

"अथवा मृदु वस्तु हिंसितुं मृदुनैवारभते प्रजान्तकः।
हिमसेकविपत्तिरत्र में नलिनी पूर्वनिदर्शनं मता।।" रघुवंश – 8/45

अथवा यमराज कोमल वस्तु को मारने के लिए कोमल वस्तु का ही उपयोग करता है। देखो! सकुमार कमलिनी का नाश कोमल पाले के पड़ने से हो जाता है।

"अथवा मम भाग्यविप्लवादशनिः कल्पित एष वेधसा।
यदनेन तरूर्न पातितः क्षपिता तद्विटपाश्रिता लता।।" रघुवंश – 8/47

अथवा मेरे भाग्य दोष से विधाता ने इस माला को भी वज्र बना डाला है। इसने वृक्ष को तो नहीं गिराया, परन्तु उसके सहारे खड़ी लता को नष्ट भ्रष्ट कर डाला। भाग्य के विप्लव से अचिन्तित घटना भी घटित हो सकती है।

"कृतवत्यसि नावधीरणामपराद्धेऽपि यदा चिरं मयि।
कथमेकपदे निरागसं जनमाभाष्यमिमं न मन्यसे।।"[1]

अज का कथन है – कि और जब कभी मैने अपराध किया, तब भी तुमने मेरा तिरस्कार नहीं किया। क्या कारण है कि आज बिना अपराध के ही मुझसे आकस्मात् रूठ गई हो, सैकड़ो विनय करने पर भी तुम मुझसे बाते नहीं करती।

"नवपल्लवसंस्तरेऽपि ते मृदु दूयते यदङ्गमर्पितम्।
तदिदं विषहिष्यते कथं वद वामोरू चिताधिरोहणम्।।"[2]

अज कह रहे है कि हे प्रिये! नवीन कोमल पत्रों की शय्या पर भी लेटने से तुम्हारा मृदु अङ्ग क्लेश पाता था, वही अङ्ग आज कठोर चिता पर कैसे रखा जाएगा। अग्नि की विषम ज्वाला उसे कैसे सह्य होगी।

ऐसे ही हृदय विदारक करूण दृश्य कुमारसम्भव में कवि ने दर्शाये– रति भस्मीभूत हुए कामदेव के शरीर को देखकर शोकाकुल हो विलाप कर रही है–

---

1. रघुवंश – 8/48
2. रघुवंश – 8/57

"हरितारूणचारूबन्धनः कलपुंस्कोकिलशब्द सूचितः।
वद सम्प्रति कस्य बाणतां नक्चूतप्रसवो गमिष्यति।।"[1]

हे प्रिये! तुम्हारे बिना तुम्हारे प्यारे साथियों की कैसी दुरवस्था होगी। यह आम की नई मञ्जरी, जिसका डंठल हरा, लाल और सुन्दर है जिसके आविर्भाव की सूचना कोकिल की मधुर काकली दे रही है, अब किसका बाण बनेगी–

"अवगम्य कथीकृतं वपुः प्रियवन्धोस्तव निष्फलोदयः।
बहुलेऽपि गते निशाकरस्तनुतां दुःखमनंग मोक्ष्यति।।"[2]

हे अनङ्ग! तुम्हारी मृत्यु का हाल सुनकर आकाश में व्यर्थ उदय लेने वाला चन्द्रमा कृष्णपक्ष के बीत जाने पर भी अपनी कृशता बड़े दुःख से छोड़ेगा। तुम्हारे बिना अब वह कामी जनों को कदापि मुग्ध नहीं कर सकता। अतः उदय होने पर भी वह दुःखी है।

इस प्रकार अज विलाप, तथा रतिविलाप में कई ऐसे करूणमय पद्यों का सन्निवेश है जो हठात् सहृदय भावुक के मन को झकझोर डालते हैं। अतीत की प्रणय केलि की स्मृति के चित्र रहरहकर इन करूण गीतियों की तन्त्री को विहाग की राग से झङ्कृत कर देते हैं। पर वाले विरह की तरह कालिदास का पाठक यहाँ केवल दो बूँद ऑसू नहीं गिराता बल्कि उसका शोक सेतु को तोड़कर बहते हुए जलसंघात (क्षतसेतु बन्धनों जलसंघातः) की तरह अनवरूद्धगति से निःसृत हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य तथा प्रकृति का यह दर्शनीय वियोग किस रसिक की हृदय तन्त्री को निनादित नहीं करता। धन्य है कालिदास और धन्य है उनकी सौन्दर्य दर्शन चातुरी।

ऐसे स्थलों पर कालिदास ने मन की भावनाओं की अभिव्यञ्जना करने के लिए प्राकृतिक उपादानों की सहायता ली। जिसे जो वस्तु प्रिय होती है मरने के बाद भी उसे उस वस्तु की आंकाक्षा बनी रहती है। रति शोकाकुल होकर कहती है– वसन्त तुम जब अपने मित्र का श्राद्ध करना तो उन्हें पत्तों वाली आम की मञ्जरी अवश्य देना, क्योंकि उन्हें आम की मञ्जरी अत्यधिक प्रिय थी।

---

1. कुमारसम्भव – 4/14
2. कुमारसम्भव – 4/15

"परलोक विधौ च माधव! स्मरमुद्दिश्य विलोलपल्लवाः।
निवपेः सहकारमञ्जरीः प्रियचूत प्रसवो हि ते सरवा।।[1]

कुमारसम्भव के पञ्चम सर्ग में कवि ने "पार्वती के आश्रम" का बड़ा ही सजीव वर्णन कियाहै। साथ ही पार्वती की लज्जा और उनके मानसिक असमंजस की भी अभिव्यञ्जना कवि ने बड़े रोचक ढंग से की है– पशु–पक्षियों, वृक्षों–लताओं सभी के साथ पार्वती का अटूट स्नेह परिलक्षित हो रहा है–

"अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान्घटस्तनप्रस्त्रवणैर्व्यवर्धयत्।
गुहोऽपि येषां प्रथमाऽऽप्त जन्मनां न पुत्रवात्सल्यमपाकरिष्यति।।"[2]

पार्वती ने आलस्य छोड़कर अपने हाँथों से बीजारोपण कर घड़े के पानी से सींचकर उत्तम वृक्ष उत्पन्न किये और उन वृक्षों को अपने पुत्रों के समान बढ़ाया। जिन वृक्षों पर उत्पन हुए अपत्य स्नेह में अपने गर्भजात पुत्र स्कन्द के पैदा होने पर भी कोई कमी नहीं हुई।

अरण्यबीजाऽञ्जलिदानलालतास्तथा च तस्यां हरिणा विशश्वसुः।
यथा तदीयैर्नयनैः कुतुहलात् पुरः सखीनामभिमीत लोचने।।[3]

पार्वती जब भी आश्रम में ओढ़नी ओढ़कर पूजा करने बैठती, तब उन्हें देखने के लिए दूर–दूर से ऋषि–मुनि आया करते थे।

कहते हैं कि अभीष्ट वस्तु की अकस्मात् अकल्पित उपलब्धि मानव मन को आश्चर्य के कितने गम्भीर गर्व में गिरा डालती है। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य का सुन्दर प्रसङ्ग आता है– पार्वती के जीवन में– जब वह शङ्कर की नाना प्रकार से निंदाएं करने पर ब्रह्मचारी भी साक्षात् शिव के रूप में आविर्भूत होकर पार्वती को आगे जाने से रोकता है तथा उसके हाथ को पकड़ लेता है। जाने के लिए उठा हुआ पैर वहीं का वहीं थम जाता है। उनकी स्थिति उस नहीं के समान हो जाती है जो आगे बढ़ने का तेजी से प्रयास करती है, परन्तु मार्ग में पहाड़ के सहसा अवरोध उत्पन्न हो जाने के कारण न आगे ही बढ़ पाती है और न पीछे ही लौट पाती है।

---

1. कुमारसम्भव – 4/38
2. कुमारसम्भव – 5/14
3. कुमारसम्भव – 5/15

"तं वीक्ष्य वेपुथमती सरसाऽङ्ग यष्टिर्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराऽऽकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ।।"[1]

इस दृष्टि से कुमारसम्भव की कृति पूरी तरह रसवादी जान पड़ती है– रघुवंश महाकाव्य की भांति यहाँ पर कवि किसी नैतिक व्यवस्था का पोषक नहीं दिखाई देता। यौवन की सरस क्रीड़ा में रमण करना ही कवि का प्रतिपाद्य मालूम होता है। जिसे कवि ने पौराणिक इतिवृत्त लेकर व्यक्त किया।

रघुवंश के पञ्चम सर्ग में रघु की वीरता देखने को मिलती है पर वह युद्ध वीरता की नहीं दानवीरता की झांकी है। इसी सर्ग के अन्त में एक नया चरित्र उभर कर आता है। अज के चरित्र के परिपार्श्व के रूप में इन्दुमती स्वयम्बर, अज–इन्दुमती प्रेम आदि। इन्हीं अज का वर्णन आठवें सर्ग तक चलला रहता है।

दशरथ उस समय तक बालक थे। राम का चरित्र, पितृ–भक्ति आदि स्वार्थ–त्याग का ज्वलन्त उदाहरण है।

इन सभी बातों से यह विदित होता है कि– कालिदास का अध्ययन गम्भीर था। निश्चय ही वे कालिदास सरसता के कवि थे, और हृदय के कवि थे। कालिदास का कलावादी दृष्टिकोण शुद्ध रसवादी है। रघुवंश की आदर्शवादिता ने कभी भी उनकी रसवादी भावनाओं को ठेस नहीं पहुंचाया है। उनका कलावादी दृष्टिकोण न तो भारवि के नारिकेलफल की तरह है और न माघ की भांति अलङ्कारों की बहुलता से युक्त है और न श्रीहर्ष की तरह कल्पनाओं के भॅवर में फॅसाने वाला है, बल्कि कालिदास कवि हृदय, सुकुमार सरस भावों वाले है। उनकी कला का एक मात्र प्रतिपाद्य– किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्' है। कालिदास का श्रृङ्गार मर्यादित श्रृङ्गार है– इसी कारण विद्वद्गण कालिदास को प्रधानतया श्रृङ्गार का कवि मानते है। श्रृङ्गारिक वर्णनों तथा प्रकृति वर्णनों में कालिदास की कोई बराबरी नहीं कर सकता। इसके अलावा श्रृङ्गार के संयोग पक्ष का ही नहीं, बल्कि वियोग पक्ष के चित्रण में भी कालिदास की तूलिका

---

1. कुमारसम्भव – 5/85

अत्यधिक दक्ष है।[1] रघुवंश के चतुर्दश सर्ग की राम की करूण अवस्था का चित्रण सूक्ष्म होते हुए भी ह्रदय के अन्तस्तल को छूने की क्षमता रखता है। राम के वियोग का वर्णन केवल एक श्लोक में कर कालिदास ने उसकी अभिव्यञ्जना को तीव्र बना दिया है,[2] जिसके आगे पत्थर को पिघला देने वाले भवभूति के सैकड़ों करूण वर्णनों को न्यौछावर किया जा सकता है। इनके श्रृङ्गारिक वर्णन अत्यधिक सरस है। कुछ एक जगह तो नीतिवादी की दृष्टि में वे कुछ अमर्यादित से दिखाई पड़े– कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग का शिव पार्वती संभोग वर्णन भारतीय मनीषियों के द्वारा कटु दृष्टि से देखा गया, किन्तु सहृदय आलोचकों का यह कहना है कि काव्य की दृष्टि से वह कालिदास की अपूर्व देन है। कालिदास ने मानव प्रकृति ही नही अचेतन प्रकृति को भी चेतन के रूप में चित्रित कर प्रकृति के श्रृङ्गार के कई दृश्य वर्णित किये। कुमारसम्भव के प्रथम, तृतीय तथा सप्तम सर्ग का पार्वती के रूप का वर्णन कालिदास के नखशिख वर्णन की जान है।

"व्याहृता प्रतिवचो न संदधे गन्तुमैच्छदबलंबितांशुका।
सेवते स्म शयने पराङ्गमुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः।।"[3]

शिव के द्वारा बातचीत किये जाने पर पार्वती उन्हें कोई प्रत्युत्तर नहीं देती थी, उनके द्वारा रोकने के लिए वस्त्र को पकड़ लिये जाने पर, वहाँ से चली जाना चाहती थी तथा एक ही शय्या पर सोने पर भी दूसरी ओर मुँह करके सोती थी, इस प्रकार शिव की रति में विध्न करने पर भी पार्वती उनके प्रेम को बढ़ाती ही थी।

"अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तरङ्गवातेन विनीत खेदः।
रहस्त्वदुत्संग निषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः।।"[4]

---

1. त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरूषार्थ प्रवर्तिनीम्।
   तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरूषं विदुः।। — कुमारसम्भव – 2/13
2. वभूव रामः सहसा सवाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः।
   कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः।। — रघुवंश – 14/84
3. कुमारसम्भव – 8/2
4. रघुवंश – 13/35

हे सीते! आज मैं उस घटना की याद कर रहा हूँ जब मृगया से निवृत्त होकर थका हुआ मैं इस गोदावरी के किनारे पर लहरों के संसर्ग से शीतल वायु के कारण थकावट दूर कर तुम्हारी गोद में सिर रखकर वेतस के कुञ्ज के एकान्त में सो गया था।

इन सभी दृष्टान्तों के सिंहावलोकन से यह प्रतीत होता है कि कालिदास केवल कवि ही नहीं थे, बल्कि एक सफल नाटककार की पदवी से उन्हें यदि सुशोभित किया जाय तो कम नहीं होगा।

रघुवंश के द्वितीय सर्ग का सिंह दिलीप संवाद, तृतीय सर्ग का रघु इन्द्र संवाद, पञ्चम सर्ग का कौत्स रघुसंवाद तथा सोलहवें सर्ग का कुश अयोध्या संवाद कवि की नाटकीय संवाद शैली का सङ्केत कर सकते है –

इसी प्रकार कुमारसम्भव का शिव पार्वती संवाद कालिदास के दोनों प्रबन्धकाव्यों में इस दृष्टि से अपना विशिष्ट स्थान रखता है। "एक गाय के लिए बहुमूल्य जीवन को बलिदेवी पर चढ़ाते दिलीप को सिंह मूर्ख समझता है तो नंगे दरिद्र अकुलीन शिव को वरण करने की इच्छा वाली पार्वती को ब्रह्मचारी अपरिपक्वबुद्धि घोषित करता है। दोनों तर्क द्वारा उन्हें समझाते है पर दिलीप और पार्वती के उत्तर तर्क प्रणाली का आश्रय न लेकर हृदय की आवाज को सामने रखते हैं।

सिंह और वटरूप ब्रह्मचारी की दलीलों का उनके पास कोई जबाव है ही नहीं। दिलीप के पास केवल यही उत्तर है कि वह यशः शरीर को स्थूल शरीर से अधिक समझता है तथा अपनी रमणीय निधि के लिए भौतिक देह को बलि पर रखकर कीर्ति की रक्षा करना चाहता है और भोली भाली पार्वती पहले तो दलीलों का जबाव देने लगती है पर बाद में दिल की आवाज़ को सामने रख देती है "न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते।"

सिंह को दिलीप के उत्तर सन्तुष्ट नहीं करते। उसे यह सनक सवार हो गयी कि गाय जैसी तुच्छ वस्तु के लिए इतनी महान् सम्पत्ति अभिनव यौवन, रमणीय शरीर को छोड़ रहा है और सिंह इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है– कि दिलीप मूर्ख है।

"एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मेत्वम्।।" रघु0–2/47

परन्तु कुमारसम्भव का ब्रह्मचारी रघुवंश के सिंह से भी अधिक वाचाल नजर आता है। उसे पार्वती पर उसके सौन्दर्य को देखकर दया का भाव जाग्रत होता है भला ऐसा सौन्दर्य किसी जौहरी को खोजने के लिए क्या इधर–उधर भटकेगा, क्योंकि रत्न किसी को ढूंढ़ने नहीं जाता उसकी खोज स्वयं जौहरी करता है।

"न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्"

पार्वती की एकमात्र कामना है कि वह शिव को अपना पति बनाये। जिसके लिए वह इतनी कड़ी तपस्या करती है। अचानक एक ब्रह्मचारी का उसके आश्रम में आगमन होता है। वह यथार्थ में शिव रूप ही है वटुवेष में वह पार्वती से कहता है– कि शिव में पार्वती के वर बनाने लायक एक भी गुण नहीं है। वर को ढूंढने में सुन्दरता, कुलीनता और सम्पत्ति का ध्यान रखा जाता है। शिव के पास इनमें से एक भी गुण नहीं है। उसका शरीर विकृत है, आंखे तीन है, उसके कुल का कुछ अता–पता नहीं है और न धन आदि ही है।[1] मालूम नहीं तुमने क्या देखकर शिव को अपना पति चुनने का निश्चय कर लिया है। इन तीनों गुणों में से शिव में तो एक भी गुण नहीं है। भला अकुलीन, कुरूप तथा दरिद्र पति को वरण करने वाली बालिका को चञ्चल बुद्धि वाला न कहा जाय तो क्या कहें?– परन्तु पार्वती ब्रह्मचारी की दलीलों का जबाव न देकर कपाली की अशिवता को 'शिवता' सिद्ध करती है और महादेव की विभूति का संकेत करती है।

कालिदास की प्रसिद्ध उपमा को पहले ही वर्णित किया जा चुका है, जिसके प्रयोग से चमत्कृत होकर विद्वानों ने उन्हें 'दीपशिखा' की उपाधि से अलङ्कृत किया। उपमा के अतिरिक्त कालिदास के प्रिय अलङ्कार वस्तूत्प्रेक्षा, समासोक्ति, रूपक, अर्थान्तरन्यास, तुल्ययोगिता आदि भी है। कालिदास ने कभी भी अलङ्कारों के मोह में फंसकर उनका हनन नहीं करना चाहा, बल्कि विषय के अनुरूप वैविध्यपूर्ण ढंग से अलङ्कारों का प्रयोग करना चाहा। जैसे–

---

1. वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्वरत्वेन निवेदितं वसुः।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि! मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने।। कुमारसम्भव– 5/72

"प्रणम्य चानर्च विलाशमस्याः श्रृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थ सिद्धेः" रघु0–2/21

इस प्रकार कालिदास के काव्यों में सर्वत्र कोमलता का साम्राज्य दीख पड़ता है। कहीं भी अलङ्कारों का दुष्प्रयोग लक्षित नहीं होता। इसलिए इनकी शैली को प्रसाद गुण मण्डित एवं अति कोमल शैली की संज्ञा दी गयी है। कालिदास की भाषा व्यञ्जना प्रधान है। सीता के द्वारा राम के प्रति भेजे गये सन्देश में जहाँ सीता राम के लिए प्रयुक्त राजा शब्द तथा उसके साथ 'स' का प्रयोग 'राम कोरे राजा ही है'[1] राजा के कर्त्तव्य के अतिरिक्त उनका पति के रूप में भी कुछ कर्तव्य था जिसे वे भूल चुके है इस भाव को व्यञ्जित करता है। इसी तरह सीता को रोती देखकर जब बाल्मीकि उसके पास आते हुए वर्णित किये जाते है तो कविवर कालिदास बाल्मीकि का परिचय "निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः" इस तरह देते है।

कालिदास के काव्यों में ऐसी कई काव्य रूढ़िया पाई जाती हैं जो भावी काव्यों का मार्ग दर्शन करती हैं। रघुवंश महाकाव्य में वर्णित राजा रघु के दिग्विजय वर्णन को पढ़कर सुधी मनीषियों को यह आभास हो जाताहै कि कालिदास की दृष्टि उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक और पश्चिम में कम्बोज से लेकर पूर्व में कलिङ्ग तक एक महान् मूर्तिमती कल्पना विद्यमान थी। इन्दुमती स्वयम्बर के समय सुनन्दा के द्वारा राजाओं का परिचय देने के माध्यम से उन्होंने मगध, अंग, अवन्ती, पाण्डव, महिष्मती तथा कोशल नाम से विख्यात भारतीय भूभागों का, रघुवंश के पम्पासरोवर, पंचवटी, गोदावरी, अगस्त्याश्रम, सरयू आदि का वर्णन, भारत माता के किरीट बने हिमालय के वर्णन, उसे देवात्मा का विर्शपण दे उसकी नयनरंजक प्राकृतिक सम्पदा का वर्णन बकुल आदि के वर्णन में दोहद सम्बन्धी रूढ़ियां कालिदास में ही सबसे पहले दृष्टिगोचर होती है। जिसका अनुकरण आगे आने वाले सभी महाकवियों यथा अश्वघोष, भारवि इत्यादि के द्वारा किया गया।

इस प्रकार कालिदास के ग्रन्थों का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन करने के पश्चात् यह आभास होता है कि– क्या रस प्रवणता, क्या अलङ्कारिता अप्रस्तुत विधान क्या प्रकृति

---

1. "वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा" चतुर्दश सर्ग – रघुवंश – 14/21

वर्णन का अद्‌भुत दृश्य, भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध आदर, विश्वास एवं स्वाभिमान, क्या शैली की चमत्कारिता, क्या राष्ट्र के प्रति कल्याण कामना इत्यादि सभी दृष्टिकोण से कालिदास की समानता अन्य संस्कृत कवि नहीं कर पाता। जहाँ कहीं भी उन्होंने सार्वजनीन भाव प्रकट किये है वही उनकी दृष्टि सार्वभौम हो गयी है।[1]

अनेक भावात्मक और कलात्मक रत्नों का समवाय होने के कारण हमें कालिदास में भारत और भारतीयता की स्पष्ट झलक प्रतिविम्बित होती है। इस प्रकार कालिदास के महाकाव्य कोमल कला की दृष्टि से ही रोचक नहीं हैं, परन्तु आध्यात्मिकता की दृष्टि से भी उपोदय है।[2]

इस सभी चित्रणों के वर्णन करने की प्रकृति कालिदास को उपजीव्य महाकाव्य रामायण एवं महाभारत से प्राप्त हुई जिसको उन्होंने बड़ी कुशलता से पहचाना। इसका एकमात्र निदान उनकी विलक्षण पैनी काव्य दृष्टि में विद्यमान था। अपनी नवनवोन्मेष शालिनी प्रतिभा के बल से महाकवि ने अपने महाकाव्यों के निर्माण में पूर्ण स्वातन्त्र्य का परिचय दिया। वस्तुतः यह कवि की प्रतिभा शक्ति ही का जादू है कि जीवन–मृत्यु, युद्ध–शक्ति, प्रणय–कलह, प्रातः–सायं, मृगया–मनोरंजन, वन–कानन आदि के पूर्व ऋषियों के उक्त आकर महाकाव्यों में अनेक बार किये गये वर्णन के बाद भी ये विषय उनके काव्यों में वर्णित होने पर बासी नहीं होते। महाकवि की प्रतिभा प्रत्येक वर्णन के प्रसङ्ग में कल्पना एवं रस का पुट देकर उसे नितान्त नूतन बनाकर स्पृहणीय बना देती है।

आनन्दवर्धन ने कहा है कि– कवि की प्रतिभा शक्ति ही काव्योत्कर्ष उत्पन्न करती है– "अनेन आनन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभा गुणः" ध्वन्यालोक चतुर्थउद्योत। काव्य के रस ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य तत्त्व प्रतिभा शक्ति के अनन्त रूपों को उत्पन्न करने में किस प्रकार हेतु बनते है इसका भी मौलिक विवेचन आनन्दवर्धन ने किया है। उनका कहना है कि पूर्वऋषियों व्यास, बाल्मीकि आदि के काव्यों के रहते हुए भी परवर्ती

---

1. संस्कृत साहित्य में राष्ट्रीय भावना – पेज 126–127
   संस्कृत को रघुवंश की देन – डा0 शङ्करदत्त ओझा पृष्ठ – 47

महाकवि अपने काव्यों में रस ध्वनि का उपयोग कर काव्य में एकदम नयापन भर देते हैं। काव्य में यह नवीनता चारूता का रूप धारण करके पूर्वाचार्यो द्वारा कहीं गयी बात को भी नई सी बना देता है। राम, सीता, लक्ष्मण आदि के चरित्र तथा राम–रावण युद्ध आदि के वर्णनों के रहते हुए भी कालिदास ने उसी कथामात्र में इसका सन्निवेश कर अपनी प्रतिभा बल से इनका बारम्बार वर्णन किया है किन्तु वह पिटापिटाया वर्णन नहीं लगता उनके हर वर्णन में रस ध्वनि नयी–नयी झांकियों में अभिनवा वधू के रूप में झिलमिलाती रहती है। यही काव्य में अनन्त रूपता एवं चारूता का रहस्य[1] है।

कालिदास ने अपने पूर्व सूरियों से घटना एवं कथा की प्रेरणा लेकर उसे अपनी प्रतिभा के सतरंगी रंग से रंगकर सर्वथा नये काव्य के रूप में प्रस्तुत किया। एक ओर जहाँ प्रतिभा के समाश्रय से रस ध्वनि का पुट देकर महाकवि ने प्राचीन इतिवृत्तों को नया काव्य कलेवर दिया वहीं एक और आविष्कार कालिदास ने किया। उन्होंने इतिवृत्त को भी काट छाँट कर अपनी आवश्यकतानुसार बदला। इसके अलावा जहाँ–जहाँ उन्होंने यह अनुभव किया कि बिना कथावस्तु को मोड़ दिये कोई रोचकता या चारूता नहीं आयी वहाँ उन्होंने आवश्यकतानुसार परिवर्तन एवं परिवर्धन किये। इस संसोधन एवं परिवर्धन के पीछे भी एक औचित्यपूर्ण सिद्धान्त रहा है वह सिद्धान्त है रसानुकूलता[2] का। जहाँ–जहाँ महाकाव्य में प्रकरणों को अङ्गीरस के अनुकूल बनाने की आवश्यकता महसूस हुई वहाँ–वहाँ कथानक को घुमाकर तथा लचीला बनाकर उसे रसानुकूल बनाया गया।

कालिदास ने अपने रघुवंश आदि महाकाव्यों में ऐसा किया है। रघुवंश में अज आदि राजाओं का विवाह वर्णन और शकुन्तला में शकुन्तला का प्रत्याख्यान आदि इतिहास में उस रूप में वर्णित नहीं है किन्तु कथा को रसानुगुण और राजा को उदात्त चरित बनाने के लिए उनकी कल्पना की गयी है। महाकवि कालिदास आदि की इसी वृत्ति को देखकर आनन्दवर्धन इसे सिद्धान्त का रूप प्रदान कर दिया उन्होंने यह माना कि रसानुकूल परिवर्तन करने के लिए महाकवि पूर्ण स्वतन्त्र होता है।

---

1. वही – डा0 शङ्कर दत्त ओझा , पृष्ठ – 64
2. वही – डा0 शङ्कर दत्त ओझा , पृष्ठ – 74

इस प्रकार कालिदास ने रसभाव तत्त्व को मूर्धन्य स्थान देकर अपने महाकाव्यों से अर्थतत्त्व अथवा इतिवृत्तात्मकता को उपसर्जनीभूत कर दिया। कालिदास ने कवि स्वातन्त्र्य के इन मार्गों को परवर्ती महाकवियों के लिए प्रशस्त किया। यह कालिदास की अपनी देन है।

उनका यह स्वतंत्र प्रयोग परवर्ती साहित्यकारों के लिए सिद्धान्त बनाने हेतु प्रेरणा स्त्रोत बना। इस प्रकार कालिदास की सरस्वती शब्दों के निसर्ग सौन्दर्य को अधिक महत्त्व देती है। प्रसाधन को कम, वस्तु की भाव व्यञ्जक रूप में योजना प्रधान मानती है चमत्कार उत्पन्न करने के लिए कम। ललितोचित शब्दार्थ सन्निवेश उनके अलङ्कारों के मूल[1] में है इन्हीं मूल कारणों के बल पर आनन्दवर्धन ने कालिदास को महाकवि कहकर उनकी गणना संस्कृत के दो चार महाकवियों में की है। और उन दो चार में भी पहला नाम वह कालिदास का ही लेते है।

> तत् वस्तुतत्त्वं निःष्यन्दमाना महतां कवीनां भारती
> अलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्पुरन्त। अभिव्यनक्ति।
> येनास्मिन्नति विचिकवि परम्परावाहिनि संसारे कालिदास
> प्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा एव वा महाकवय इति गण्यन्ते। ध्वन्यालोक – 1–6

आनन्दवर्धन की दृष्टि में वही व्यक्ति महाकवि हो सकता है जो प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करने की क्षमता रखता हो। महाकवि बनने के इच्छुक व्यक्ति को शब्द और अर्थ को भली–भॉति पहचानना चाहिए। व्यङ्ग्य और व्यञ्जक के सुन्दर प्रयोग से ही कवियों को महाकवि पद की प्राप्ति होती है।[2]

> "सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन"। ध्वन्या0– 1/8

---

1. तेषु हि कथाश्रयेसु तावत् स्वेच्छैव न योज्या। यदुक्तम् कथामार्गे न चाल्पोऽप्यतिक्रमः, स्वेच्छापि यदि योज्या तद्रसविरोधिनी न योज्या। इदमपरं प्रबन्धस्य रसाभिव्यञ्जकत्वे निबन्धनम्। इतिवृत्तवशायातां कथञ्चिद्रसाननुगुणां स्थितिं त्यक्त्वा पुनरूत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्ट रसोचित कथोन्नयो विधेयः। यथा कालिदास प्रबन्धेषु। ——— कविता काव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतंत्रेण भवितव्यम्।
   ध्वन्यालोक, आचार्य विश्वेश्वर कृत टीका सहित तृतीय उद्योत–
2. वही– डॉ0 शङ्कर दत्त ओझा, पृष्ठ – 120

अतः भाव यह है कि प्रसन्नता और गाम्भीर्य इन दोनों गुणों के सुमधुर सन्निवेश के कारण ही काव्य श्रेष्ठ कहलाता है और इस कोटि के काव्य के प्रणेता को महाकवि कहा गया है।

प्रसाद एवं गाम्भीर्य गुणों से जितनी कालिदास की वाणी समृद्ध है उतनी संस्कृत के किसी कवि की वाणी नहीं है वस्तुतः इन्हीं गुणों से युक्त उनकी कविता को देखकर ही भारवि[1] ने तथा आनन्दवर्धन[2] ने एक रहस्य को उद्घाटित किया है। भारवि के अर्थगौरव का यही मूल है– भारवि ने कालिदास की इसी गुरुता के मूल तत्त्व को अपनाया और अपने अर्थ गौरव में प्रसिद्धि पायी।

भाषा की सिद्धि में कालिदास को अभूतपूर्व सफलता मिली है। आनन्दवर्धन के अनुसार उनकी यह सफलता उनकी असाधारण प्रतिभा का फल है। महाराज दिलीप की निःसन्तान पत्नी सुदक्षिणा को महाकवि 'जाया' कहता है अर्थात् पुत्रोत्पत्ति योग्यता से युक्त (मातृत्व से सम्पन्न) पत्नी "जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः"–

> अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम्।
> बनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच।। रघुवंश – 2/1

यहाँ जाया के स्थान पर प्रिया, भार्या, कान्ता, पत्नी आदि शब्द भी बिना छन्दोभङ्ग हुए प्रयुक्त किये जा सकते है, किन्तु नहीं 'जाया' में जिस भाव का सङ्केत है वह इन पर्यायों में कहाँ सम्भव था?

स्वयम्बर के आरम्भ में कवि ने इन्दुमती को 'कन्या' कहा है– "मनुष्य वाह्यं चतुरस्रायानमध्यास्य कन्या" 6/10 और अज के ऊपर दृष्टि डालने के ठीक पूर्व तक वह कन्या बनी रहती है– "ततः सुनन्दावचनावसाने लज्जां तनूकृत्य नरेन्द्र कन्या" रघु0 6/80 किन्तु जैसे ही वह अज को देखती है अज की हो जाती है सुन्दरी की प्रसाद निर्मम वरमाला बनकर अज के गले में पड़ सी जाती है उसी क्षण कन्या से वह

---

1. "प्रवर्तते नाकृतपुण्य कर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती"। किरात0 – 14/3
2. "प्रसन्न गम्भीरपदाः काव्यबन्धाः सुखावहाः"। ध्वन्यालोक 3/35

'वधू' बन जाती है– "आर्ये ब्रजामोऽन्यत इत्यथैनां वधूरसूयाकुटिलं ददर्श"– 6/82 अभी तक अज के गले में मधूक माला पहनायी नही गयी किन्तु वह मन से अज का वरण कर चुकी है इसलिए वधू तो बन ही गयी है। "असूया कुटिलं ददर्श" में उदात्त हास्य से परिपुष्ट संयोग श्रृङ्गार की अनूठी व्यञ्जना है ऐसे मर्यादित श्रृङ्गार की अभिव्यञ्जना विरले ही कहीं दिखाई दे।

प्रबन्ध रचना में यो तो शब्द चयन पर विशेष ध्यान देना चाहिए किन्तु जहाँ पर घटना अथवा चरित्र वर्णन में शैथिल्य आ गया हो वहाँ कवि को भाषा सौन्दर्य पर विशेष ध्यान देना चाहिए। किन्तु ऐसा विषय महाकवि की वाणी का विषय नहीं अपितु साधक कवि की रचना में पाया जाता है। इस प्रकार के काव्य व्यङ्ग्यार्थ की स्फुट प्रतीति से रहित होते है। इसलिए मम्मट ने ऐसे काव्य को अवर काव्य कहा है[1] तथा इसके अलावा उसे चित्र काव्य के नाम से भी सम्बोधित करते हैं। सहृदय यह जानते है कि कालिदास ने इस प्रकार के रस भाव विहीन शब्दार्थ के नाद वैचित्र्य हेतु काव्य नहीं लिखा है उनके काव्य इस प्रकार के चित्र काव्य को इङ्गित अवश्य करते हैं। किन्तु उनके वे चित्रकाव्य उस काव्य रूपी चित्र की तरह नहीं है जिसमें प्रतिपाद्य वस्तु की छाया का अङ्कन मात्र हो उसकी आत्मा (रसभावादिया) अभिव्यञ्जन न हो। रघुवंश के नवम् सर्ग में यमक मण्डित शब्दावली मात्र शब्दार्थ के निर्जीव चित्रों की वीथी ही नहीं प्रस्तुत करती अपितु वह अवसरोचित एवं प्रतिपाद्य विषय वसन्तादि वर्णन को विभावादि के माध्यम से छन्द की स्वाभाविक गति के साथ ही साथ अभिव्यक्त करती है।[2] किन्तु पश्चवर्ती महाकवियों विशेषतया भारवि, माघ, एवं श्रीहर्ष ने तो कालिदास से प्राप्त चित्रकाव्य की इस प्रेरणा का दुरूपयोग ही किया। यद्यपि उनके हाथो इस प्रकार की शैली में घनघोर पाण्डित्य की छाप दिखाई देती है। किन्तु काव्य का प्रसाद अर्थ गम्भीर्य गुण एवं रस भावादि की सांकेतिकता को तिलाँजलि दी गयी प्रतीत होती है कविता प्रसाद मधुरा सरस वाणी न होकर कहीं–कहीं तो अखाड़ेबाजी[3] सदृश मात्र रह गयी है। काव्यगत ओजादि गुण रस के नियत एवं स्थिर धर्म हैं। ये गुण प्रतिपाद्य रस के उत्कर्षक हेतु होते हैं।

---

1. शब्दचित्रं वाच्य चित्र मव्यङ्ग्यम् त्ववरं स्मृतम्। काव्यप्रकाश
2. संस्कृत को रघुवंश की देन – डा0 शङ्कर दत्त ओझा, पृष्ठ – 247
3. वही – डॉ0 शङ्कर दत्त ओझा, पृष्ठ – 70

"येरसस्याङ्गिनोधर्माः शौर्यादिवइवात्मनः" काव्यप्रकाश – अष्टम उल्लास

मम्मट की उक्त परिभाषा से यह विदित होता है कि गुणों की पदवी अलङ्कारों से ऊपर स्थापित की गयी है क्योंकि अलङ्कार काव्य के अस्थिर अनियत धर्म हैं किन्तु गुण तो नित्य अथवा स्थिर धर्म है, जो काव्य के उत्कर्ष में हेतु बनते हैं। मम्मट ने त्रिविध गुणों की सत्ता को स्वीकारा, 'माधुर्य' ओज, प्रसाद। माधुर्य कालिदास की कविता का सहज श्रृङ्गारिक आभरण है–

"कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्चतैस्तैर्विनयप्रधानैः।
त्वमात्मनस्तुल्यममुं वृणीष्व रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन्।। रघुवंश – 6/79

ओज वह गुण है जिसे सामाजिक के हृदय का विस्तार अथवा चित्त का प्रज्वलन धधक उठना कहा जा सकता है, जो कि वीररस में स्वभावतः हुआ करता है। यद्यपि वीर रस तो ओजस्वी है ही, किन्तु उससे अधिक ओजस्वी है वीभत्सरस और इससे भी ओजस्वी है रौद्ररस।[1] क्रमशः इन तीनों रसों में सहृदय का चित्त अधिक उद्दीप्त हो उठा करता है।

तीसरा एवं अन्तिम प्रसाद गुण वह गुण है जो चित्त में सहसा व्याप्त हो जाय तथा सुनते ही जिन शब्दों का अर्थबोध हो जाय ऐसे सरल एवं ललित शब्द प्रसाद के व्यञ्जक होते है।[2] कालिदास की सभी रचनाएं वैदर्भी रीति से सम्पन्न हैं। माधुर्य व्यञ्जक और सुकोमल वर्णो–पदों के प्रयोग तथा छोटे–छोटे हृद्य समास गुच्छों से उनका समस्त साहित्य वासन्ती वाटिका की भाँति रमणीय है। वैदर्भी शैली में अलङ्कृति और ध्वनि का समायोजन है। श्रृङ्गार एवं करूण के प्राधान्य के कारण उनकी रचनाओं में अन्तस्तल को आर्द्र कर देने वाली आह्लादमयी पदसंघटना अपने में ही एक अनूठी सृष्टि है। प्रत्येक शब्द अपना भाव सौष्ठव लिए हुए रस की भीनी–भीनी फुहार सर्वत्र छिड़कता जाता है।

---

1. दीप्त्यात्म विस्तृतेर्हेतुरोजोवीररसस्थितिः। — का0प्र0 अष्टमउल्लास पृ0 389
2. शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैवयः — का0प्र0

उनके अलङ्कार शब्द एवं अर्थ में इस प्रकार घुलमिलकर प्रकाशित होते हैं कि लगता है कि जैसे वे वाह्य शोभा कारक नहीं हो। रसों की निर्झरिणी में सूर्य के प्रकाश में प्रतिविम्बित अलङ्कार रंग बिरंगी आभा से चमकते रहते है। शब्दार्थ संगीत उनकी कविता का श्रृङ्गार है। वैदर्भी चषक में ढाली गयी उनके इस काव्यासव की मादकता से छककर ही कविवर 'दण्डी' ने कहा है कि–

"लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विषया गिरः।
तेनेदंवर्त्म वैदर्भ कालिदासेन शोधितम्।।"

सचमुच कालिदास की वाणी विषयों का वर्णन करके भी विषयों के परिपक्व में पगी उनकी वैदर्भी शैली ने काव्य साधना का मार्ग शोधा है। उनकी एकमात्र वैदर्भी रीति ही स्थायी रीति है जिसमें पाञ्चाली, गौड़ी सभी किसी न किसी रूप में समा जाती है।[1] प्रसाद एवं माधुर्य की प्रवाहता के कारण कालिदास मुख्यतः ललितपक्ष के कवि हैं उनकी काव्यसाधना का बखान करते हुए 'अरविन्द' कहते है–

"कालिदास शीर्षस्थ कलावित् हैं। भाव गम्भीर रचना माधुर्य नाद एवं भाषा के प्रभु जिने सुरभारती की अनन्त संभावनाओं में से इस प्रकार की काव्य शैली तथा पद संघटना का निर्माण किया है। जो निश्चित रूप से अत्यधिक महान् अत्यन्त शक्तिशाली एवं अत्यधिक नादोन्नत है। कालिदास ने संस्कृत को उत्कृष्ट नाद के भव्य भवन में स्थापित किया है तथा उनकी रचनाओं से उद्‌भूत ध्वनि वही ध्वनि है जो प्राचीन साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में दिखाई देती है।"[2]

इस साहित्य की शैलीगत विशेषताएं सुगठित परन्तु सहज संक्षेप मृदु गांभीर और स्निग्ध उदारता पद्यगत उच्चस्तरीय स्वर सामञ्जस्य परिष्कृत गद्यय का शक्तिमत् और प्राञ्जल सौन्दर्य और सबसे बढ़कर संक्षित तथा प्रभावोत्पादक पदावली की निश्चित अर्थक्ता जो रंग एवं माधुर्य से परिपूर्ण है और फिर उनकी भाषा इतनी लचीली है कि महाकाव्य से लेकर गीति तक की समस्त काव्य विधाओं में इसकी सुन्दर योजना सम्भव

---

1. विशेष अध्ययन हेतु देखिए संस्कृत का रघुवंश की देन – डॉ0 शटरदत्त ओझा। पृ0 40–45
2. श्री अरविन्द 'कालिदास(सेकेण्ड सीरीज)' पृष्ठ – 16–17

है। विशेषकर महाकाव्य तथा नाटक में। कालिदास ने अपनी महाकाव्य सम्बन्धी शैली में संस्कृत भाषा की इन विशेषताओं में नाद एवं अभिव्यञ्जना की वह पूर्णता तथा महनीयता जोड़ दी है जो अंग्रेजी भाषा के कवि मिल्टन के एतद्सम्बद्ध वैशिष्ट्यों से (आगे) बढ़ जाती है।

काव्य में रस तथा प्रतिपाद्य विषय के अनुसार छन्दों का भी विवेकपूर्ण विनियोजन करना चाहिए। औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक "आचार्य क्षेमेन्द्र" ने कहा है कि–

"काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोग विभागवित्।।

विभिन्न रसों के संयोजन के लिए भिन्न–भिन्न छन्दों का भी प्रयोग आवश्यक होता है। कालिदास छन्दों के प्रयोग में विवेकशील है। रघुवंश कुमारसम्भव दोनों महाकाव्यों में विषयवस्तु की विविधता को देखते हुए ही रसोपयोगी छन्दों की योजना की है। अनुष्टुप, उपजाति, मालिनी, वंशस्थ, हरिणी, प्रहर्षिणी वसन्ततिलका, पुष्पिताग्रा, त्रोटक, मन्दाक्रान्ता, द्रुतविलम्बित, मालिनी, रथोद्धता, मत्तमयूर, स्वगता का वर्णन किया है। छन्दों की गति एवं लय रस तथा भावादि की प्रेषणीयता के साथ पूरा तालमेल रखती है। वे विशेष प्रकार के रस की अभिव्यक्ति के लिए छन्द विशेष का आह्वान करते है। उदाहरणार्थ– उन्होंने तपश्चर्या, सौन्दर्यादि वर्णन के लिए उपजाति युद्ध एवं शौर्य के चित्रण में वंशस्थ, वेदना के लिए वियोगिनी, आखेट, उत्सव, प्रणय क्रीडादि के लिए रथोद्वता ऋतु एवं सुख सम्पदा के वर्णन के प्रसङ्ग में द्रुतविलम्बित, ऋतुओं आदि के वर्णन में वसन्ततिलका, न्यास के अभ्युदय–उत्कर्ष आदि के वर्णन में हरिणी का प्रयोग किया है– उनकी छन्दोयोजना रसानुरूप संगीत योजना है "स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषी मासनबन्धधीरः[1] तथा ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी[2]

---

1. रघुवंश – 2/6
2. रघुवंश – 2/30

का प्रयोग गतिमत्ता एवं नादात्मकता के वाहक होने के साथ ही रसानुगुण भी है। "गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ"[1] की रूक रूक कर आगे बढ़ने वाली गति अज के बोझिल ह्रदय में स्थित शोक को धीरे–धीरे अभिव्यक्त करने में सर्वथा समर्थ है। "संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा"[2] में जयमाल के लिए इन्दुमती के एक के बाद दूसरे नृप को छोड़कर आगे बढ़ते जाने का भाव छन्द की लय से इङ्गित हो रहा है। प्रबन्ध में रस की साङ्केतिकता छन्दों की विशेष संयोजना की अपेक्षा रखती है। इसे कालिदास ने एक सिद्धान्त के रूप में अपने उत्तराधेकारियों के मार्गदर्शन के लिए प्रतिपादित किया।

प्रबन्ध काव्य में प्रकृति चित्रण को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। बाल्मीकि रामायण में प्रकृति के अत्यन्त सजीव एवं आकर्षक वर्णन मिलते है, किन्तु कालिदास ने प्रकृति के वर्णन में अपनी मौलिक प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। वह प्रकृति को मानव जीवन का अभिन्न सहचर मानते हैं। उनका काव्य मानव जीवन की विशद विवेचना के लिए अर्पित था। अतएव सृष्टि की इतर वस्तुएं मानव जीवन की सेवा में ही रत दिखाई गयी है। प्रबन्ध में जैसे प्रधान कथानक के साथ नायक जीवन के अन्य अवान्तर प्रसङ्गें का चित्रण आवश्यक होता है ठीक उसी प्रकार प्रकृति के विभिन्न उपादानों जैसे प्रातः, सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, वन–पर्वत आदि का भी प्रसङ्गोचित सरसचित्रण आवश्यक है। विश्वनाथ ने महाकाव्य का स्वरूप बताते हुए स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है[3] –

रघुवंश और कुमारसम्भव महाकाव्य में कालिदास ने जगह–जगह प्रकृति के उपादानों के अनुपम चित्र चित्रित किया है। कथा प्रवाह कही भी विराम अथवा उसमें अवरोध उत्पवन्न नहीं होने देता है। परवर्ती महाकवियों ने प्रकृति वर्णन के लिए अवसर का आविष्कार किया है। जबकि कालिदास ने अवसर आने पर ही उसका सर्वथा उचित प्रयोग करते हुए उद्दीपन आदि विभावों के सहारे प्रकृति के अनेक रूपों का चित्रण

---

1. रघुवंश – 8/67
2. रघुवंश – 6/67
3. सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्त वासराः।
   प्रातर्मध्याह्नमृगया शैलर्तुवन सागराः।। साहित्यदर्पण – 6/322

किया है। वह वर्णन की सीमा भी जानते है। इसलिए उनके प्रकृति चित्रण में न कहीं अनावश्यक विस्तार है और न कहीं अपेक्षित चित्रण का ह्रास। उनका प्रकृति चित्रण मात्र प्रकृति चित्रण के लिए नहीं है।

परिणामतः जो प्रकृति पदार्थ कथा में निसर्गतः आ गया है उनकी लेखनी का अव्याज विषय बनकर धन्य हो गया है। उसमें फिर सुधार की गुंजाइश नहीं छोड़ी गयी। उनकी इस विशेषता के कारण कथावस्तु और भी अधिक रोचक बन गयी है। पुत्र प्राप्ति हेतु दिलीप और सुदक्षिणा वशिष्ठ के आश्रम जाते है। अयोध्या से बाहर निकलते ही वे प्रकृति के अनन्त साम्राज्य में पहुंच जाते है। इसी प्रकार कुमारसम्भव के "सीकर व्यतिकरं मरीचि भिर्दूर" की शोभा का क्या ही वर्णन किया है? जहाँ सूर्य के अस्त हो जाने पर उसकी किरणों का सम्पर्क बहते हुए झरने के जलकणों से अलग हो जाता है– ऐसे सुन्दर–सुन्दर दृश्यों को आवेष्टित कर महाकवि कालिदास ने प्रकृति के सुन्दरतम दृश्यों को वर्णित किया है।

रथ की गड़गड़ाहट सुनकर मोरों ने मुँह ऊपर उठाकर देखा कि कहीं बादल तो नही गरज रहे है -----

> मनोऽभिरामाः श्रृण्वन्तौ रथनेभिस्वनोन्मुखैः।
> षड्जसंवादिनीः केका द्विधा भिन्नाशिखण्डिभिः।। रघु0 1/39

राजारानी ने आँखे उठाकर जब आकाश की ओर देखा तो कलरव करती हुई धवल बगुलों की पंक्ति बिना खम्भे की बन्दनवार जैसी दिखाई पड़ी।

> "श्रेणी बन्धाद्वितन्वद्भिरस्तम्भां तोरणस्त्रजम्।
> सारसैः कलनिर्ह्रादैः क्वचिदुन्नमिताननौ।। रघु0 1/41

गोचारण एवं वसिष्ठाश्रम के वर्णन प्रसङ्ग में प्रकृति का बहुत अधिक वर्णन किया जा सकता है। इसी प्रकार कुमारसम्भव में वर्णित तृतीय सर्ग में वसंत श्री का वर्णन आठवें सर्ग में वर्णित सायंकालीन चित्र अत्यधिक प्रकृति के चित्रण में समर्थ हो सकते है। किन्तु कालिदास कथावस्तु एवं प्रसंग को सदैव ध्यान में रखते है। गोचरण एवं आश्रम के धर्मक्रिया संकुल वातावरण में अत्यधिक प्रकृति वर्णन उचित नहीं होता। इस स्थल के चित्रण का प्रमुख उद्देश्य था पुत्र प्राप्ति की याचना जो प्रकृति चित्रण के

कारण पृष्ठभूमि में पड़ जाती है। इसलिए महाकवि ,चार छः श्लोकों में ही प्रकृति का मार्मिक चित्र खींच लेता है जो चित्त को अपने अधीन कर लेती है।

दिलीप वसिष्ठाश्रम को वापस आ रहे है– मार्ग में वह यह देखते हुए चल रहे हैं कि कहीं छोटे–छोटे तालाबों से शूकरों के झुण्ड निकल रहे है कहीं मोर अपने बसेरों की ओर उड़े जा रहे हैं। कहीं हरिण थककर हरी घासों पर बैठे हुए हैं और सन्ध्या होने के कारण धीरे–धीरे समस्त वनराजि श्यामल होती जा रही है।

"स पल्लवोस्तीर्ण वराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुख वर्हिणानि"। रघु0– 2/16

प्रकृति की विराट्ता की यह झलक भावक को मुग्ध कर देती है। प्रकृति के विराट रूप का व्यङ्ग्यात्मक चित्रण नपे–तुले पदों में करना कालिदास की अपनी विशेषता है। रस् ध्वनि प्रधान यह शैली काव्य को उदात्त बना देती है–

नवम् सर्ग में द्रुतविलम्बित पर आरूढ़ बसन्त वर्णन महाकाव्य के इतिहास में एक अभिनव परिपाटी का श्रीगणेश करता है इन चमत्कृत एवं यमकमण्डित पद्यों ने संस्कृत की परवर्ती महाकाव्य परम्परा की सैकड़ों शताब्दियों को मन्त्रमुग्ध कर रखा था। इस प्रकार की शैली के विधान का सारा श्रेय कालिदास को ही है। इसी प्रकार 16वें सर्ग की जलक्रीड़ा का वर्णन भी अवसरोचित एवं मनोहर है। इन वर्णनों का अपना पूर्ण औचित्य है क्योंकि आगे की वंश परम्परा की कथा का जन्म इन्हीं प्रसंगों के गर्भ में निहित है। रघुवंश के नवम् सर्ग में आखेट में श्रवणकुमार के दुःखद निधन का तथा कुमारसम्भव में वर्णित कामदेव के दहन का वर्णन इत्यादि जीवन में पड़ने वाले भावी प्रभाव की सूचना देते है। इसी प्रकार त्रयोदश सर्ग का त्रिवेणी वर्णन अतुलनीय है। प्रकृति के उपादानों के उपमान असीम शक्तिवाले भगवान शङ्कर बन जाते हैं। एक से एक अनूठी उपमा देने के बाद भी जब कवि अघाता नहीं है तो वह भस्म लपेटे हुए भगवान शङ्कर से संगम की उपमा दे डालता है। 'भस्माङ्गरागातनुरीश्वरस्य"। यह छटा मेघदूत में भी मिलती है। प्रबन्ध में भावों की उदात्तता के चित्राङ्कन में कालिदास को कोई चितेरा छू नहीं सका है।

---

1. संस्कृत को रघुवंश की देन – डा0 शङ्करदत्त ओझा – देखिए – पृ0 127

प्रकृति वर्णन में कालिदास ने सदैव रसगत्, प्रसङ्गगत, एवं पात्रगत औचित्य का पूरा निर्वाह किया है। उनकी कविता प्रकृति में रमती हुई भी मानव के जीवन की जय–पराजय, असफलता–सफलता को ही मुख्य रूप से प्रतिविम्बित करती है।

उनके काव्यों में प्रकृति का यही प्रयोजन है। कालिदास संस्कृत काव्याकाश के अद्वितीय प्रकाण्ड मूर्धन्य पण्डित थे। उन्होंने वैदिक वाङ्मय, षड्दर्शन, पुराण, उपनिषद सभी शास्त्रों का गहन अध्ययन किया था। जिस प्रकार उनकी काव्य प्रतिभा नवनवोन्मेष शालिनी थी। ठीक उसी प्रकार उनका शास्त्रानुशीलन विलक्षण था। उनकी यह स्वभावगत विशेषता है कि अगाध पाण्डित्य होते हुए भी उन्होंने अपने काव्यों में कहीं भी उसका ओछा प्रदर्शन नहीं किया। जबकि उनके उत्तराधिकारी कविगण इस प्रलोभन को छिपाये न रख सके। इन परवर्ती महाकवियों ने जमकर अपना शास्त्रज्ञान काव्यक्षेत्र में उतारा।[1] कालिदास इस प्रवृत्ति के ठीक विपरीत थे। वह वैदुष्य से परिपूर्ण थे। फलों के बोझ से लदे वृक्ष के समान वह नम्र थे। उनके ज्ञान बिन्दु काव्य सागर में मोती की भांति जहाँ तहाँ भले ही झलक उठते हैं किन्तु यह सहज है, कृत्रिम नहीं।

कालिदास भारतीय दर्शन के क्षेत्र में भी निष्णात थे। किन्तु उन्होंने माघ और श्रीहर्ष की तरह अपने काव्य को दर्शन शास्त्र के दुरूह सिद्धान्तों से दीक्षागम्य नहीं होने दिया। दर्शनशास्त्र तथा अन्य शास्त्रों के सिद्धान्त उनके काव्य में प्रसङ्गानुसार सरस शैली में अपने आप अवतीर्ण दिखाई देते है। इन अवसरों पर उपदेशात्मक वैदिक शैली उनकी कविता के सम्पर्क में आकर ललित 'कान्तासम्मित परामर्श' रूप पा जाती है। उनका काव्य अर्थ गाम्भीर्य से परिपूर्ण है उसके बोझ से दबा हुआ नहीं। अपनी प्रतिभा का भरपूर प्रयोग करके भी कालिदास सरस एवं सरल है और उनके काव्य का सहज प्रवाह कहीं रूकने नहीं पाया उनके परवर्ती महाकवियों ने जहाँ–जहाँ उनकी इस शैली का अनुसरण किया, वहाँ वे भी उत्कृष्ट काव्य का सृजन करने में पूर्ण सफल सिद्ध हुए।

---

1. संस्कृत को रघुवंश की देन – डा0 शङ्करदत्त ओझा

निष्कर्षतः रघुवंश और कुमारसम्भव के पर्यवेक्षण से यह भली–भाँति विदित होता है कि– कवि कुलगुरू कालिदास विविध शास्त्रों एवं विद्याओं के प्रकाण्ड पण्डित थे। वे काव्य की इस कसौटी पर खरे उतरते हैं कि उनके काव्यों में मधुरसन्निवेश, प्रसादगुण की स्निग्धता पदों की सरसशय्या, अर्थ का सौष्ठव इत्यादि काव्य के समस्त गुण महाकवि की कविता में अपना भव्य रूप धारण किये हुए हैं। उनके काव्यों का प्रधान गुण वर्ण्यविषय तथा वर्णन शैली का मधुर सामञ्जस्य उपस्थित करना है। इस प्रकार हम कह सकते है कि– कालिदास के या किसी भी कवि के लिए रस, भाव, अलङ्कार, कथानक आदि का समुचित ज्ञान होना आवश्यक है। किन्तु महाकवि कालिदास ने उक्त सभी दृष्टियों से पूर्ववर्ती एवं परवर्ती कवियों के समक्ष काव्य का महनीयतम एवं आदर्श रूप ही उपस्थापित नहीं किया, बल्कि भाषा, भाव शैली के द्वारा सफल काव्य रूपी रचना के लिए पथप्रदर्शन भी किया। अश्वघोष, भारवि, माघ श्रीहर्ष उनके इस काव्य रचना विधान के ऋणी हैं। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि संस्कृत वाङ्मय के विशाल नभमण्डल में यदि कालिदास जैसे देदीप्यमान तारे का उदय न हुआ होता तो वह अज्ञानान्धकार से आवेष्टित तो न होता किन्तु इतना प्रभावशाली भी न होता।

संस्कृत की प्रत्येक विधा की कविता कविकुलगुरू कालिदास से किसी न किसी रूप में प्रभावित मिलती है। रामायण एवं महाभारत के बाद महाकवि कालिदास के महाकाव्यों ने परवर्ती महाकाव्य–सरणि को अनेक रूपों में प्रेरणा प्रदान की है। महाकवि कालिदास ने महाकाव्य के स्वरूप, कथानक, पात्र रस, अलङ्कार, रीति आदि समूची काव्य–शैली पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है। वस्तुतः पश्चाद्वर्ती महाकवियों के वे पथप्रदर्शक बने और उनके महाकाव्य काव्य के मानक सिद्ध हुए। उन्होंने वैदर्भी रीति से मण्डित जिस रसपेशल शैली का मार्ग प्रशस्त किया उसे सभी ने अङ्गीकार किया। जिस महाकवि ने इस शैली को अपनाया, उसका काव्य उसी परिपार्टी में प्रासिद्ध हुआ और जिसने काव्य में मात्र चमत्कार एवं पाण्डित्य प्रदर्शन में ही अपनी प्रतिभा खपा दी उसकी कविता श्रमसाध्य सी ही अधिक प्रतीत[1] हुई। उस काव्य में वह सहज सारस्वत प्रवाह न आ सका जिसे आदिकवि वाल्मीकि और कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने निःश्रत किया था तथा कालिदास ने उसमें गतिशीलता एवं गतिमत्ता का गुण भरा था। वस्तुतः अनालोकित कवि मार्ग को शोधकर प्रसाद गुण मधुरा वैदर्भी का सुगम एवं सीधा मार्ग कालिदास ने ही तैयार किया। उन्होंने महाकाव्य को ऐसा स्पृहणीय कलेवर एवं स्वरूप दिया जिसका अनुकरण एवं अनुशीलन किये बिना कोई महाकवि बन नहीं सका। इसलिए क्षेमेन्द्र ने कवित्व लाभ के लिए कालिदास के काव्यों का अभ्यास बतलाया। आनन्दवर्धन ने कालिदास को आदर्शमानकर तथा उन्हीं के काव्यगत गुणों को देखकर महाकवि की परिभाषा की। उन्होंने काव्यशास्त्र के समस्त प्रतिपाद्य विषयों पर कालिदास को ही अनुकरणीय समझा। अन्य महाकवियों के काव्यों को उदाहरण के रूप में उन्होंने सम्भवतः इसलिए प्रस्तुत किया कि विद्वत्समाज कहीं यह धारणा न बना बैठे कि उनकी समीक्षा एकाङ्गी रही है। अथवा वह संस्कृत महाकवि परम्परा के कालिदासोत्तर महाकवियों की रचनाओं से भली–भाँति परिचित नहीं थे।

पठेत्समस्तान् किल कालिदासकृत प्रबन्धानिति हासदर्शी।
काव्याधिवास प्रथमोद्गमस्य रक्षेत्पुरस्तार्तिक गन्धमुग्रम।।
1. संस्कृत को रघुवंश की देन – डा0 शङ्करदत्त ओझा। – पृ0 23

कालिदास ने आर्ष महाकाव्यों से प्राप्त शैली में अपनी विलक्षण प्रतिभा के सन्निवेश के फलस्वरूप काव्य में चारूता, उदात्तता एवं स्पृहणीयता आदि गुणों का समावेश किया। महाकाव्य की परिपाटी ही नहीं दृश्य श्रव्य काव्यों की प्रत्येक विधा में रस भाव, अलङ्कार, छन्द तथा शैलीगत नानाविध वैशिष्ट्य में स्थिरता लाने का श्रेय कालिदास को ही प्राप्त है। अतः कालिदास अपने उत्तराधिकारियों के लिए मार्गदर्शक भी थे। उनका परवर्ती संस्कृत कवि परिवार आज तक उनकी काव्य साधना का ऋणी है। इसी अर्थ में उनका कविकुलगुरू नाम[1] प्रसिद्व है। कुमारसम्भव एवं रघुवंश उनके सर्वोत्कृष्ट सफल महाकाव्य है जो परवर्ती कवियों के लिए सभी दृष्टियों से उपजीव्य रहे हैं।

कवि सर्वोत्कृष्ट सफल महाकाव्य है। जो परवर्ती कवियों के लिए सभी दृष्टियों से उपजीव्य रहे हैं।

कवि प्रतिबिम्बोपजीवी होता है। पूर्व कृतियों की उपजीविता अनेक प्रकार की होती है। काव्यमीमांसाकार ने इसे 'हरण' की संज्ञा दी है। परवर्ती कवि अपने काव्य में पूर्ववर्ती महाकवि से उसके शब्द एवं अर्थ का जब उपनिवेश करता हैं उसे 'हरण' कहा जाता है यह दो प्रकार का होता है। (1) अगाह्य (2) अनुग्राह्य।

अश्वघोष कालिदस के पश्चवर्ती थे। यहाँ हम इस बिन्दु पर मात्र इतना ही कहना चाहेंगे कि कतिपय मान्य समीक्षकों ने यह दृष्टिकोण अपनाया है। पं0 क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय आदि इस मत के अग्रणी विद्वान है।[2] यह मत सर्वथा ग्राह्य प्रतीत होता है। अतएव उसी मत का अनुसरण करते हुए इस प्रबन्ध में अश्वघोष को कालिदास का परवर्ती माना गया है।

अश्वघोष स्वाभाव से दार्शनिक थे। मोक्षमार्ग का उपदेश उनका लक्ष्य था। काव्य मार्ग के इस लक्ष्य की सिद्धि सरलता पूर्वक हो जायेगी इसी विश्वास से प्रेरित होकर

छायोपजीवी पदकोपजीवी पादोपजीवी सकलोपजीवी।
भवेदथ प्राप्तकवित्वजीवी स्वान्मेषतो वा भुवनोपजीव्यः।। क्षेमेन्द्र कविकण्ठाभरण, द्वितीय पंक्ति।
1. संस्कृत को रघुवंश की देन – डा0 शङ्करदत्त ओझा। पृ0 – 40
2. विशेष अध्ययन के लिये देंखे डॉ0 ओझा का ग्रथ 'संस्कृत को रघुवंश की देन' पृष्ठ –71

उन्होंने काव्य का प्रणयन किया। जीवन के अनेक विध सुखों की प्राप्ति उनका अभीष्ट नहीं था। कालिदास के काव्यों की एकाक्षरी सीमा 'रतये शब्द' (आनन्द के लिए) है। अश्वघोष ने कुमारसम्भव एवं रघुवंश में इस रति का बाहुल्य देखकर ही अपना मन्तव्य स्पष्ट किया कि उन्होंने रति के लिए नहीं अपितु शान्ति के लिए काव्य का प्रणयन किया। अश्वघोष को कालिदास की रति विरोधनी कविता करनी थी इसलिए उन्हें यह स्पष्टीकरण देना पड़ा।

अश्वघोष :-

काव्य मानव हृदय की स्वाभाविक अनुरक्ति की प्रेरणा है। काव्य अपनी सरसता तथा स्निग्धता के कारण विशेषोन्मुख न होकर सामान्योन्मुख होता है, इसलिए यह धर्म, सभ्यता संस्कृति तथा सिद्धान्तों के प्रचार एवं प्रसार के निमित्त वाहन रूप में व्यवहृत होता रहा है।

प्रायः प्रत्येक मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह अल्प परिश्रम से अधिक लाभ की कामना करता है। मनुष्य सदा से ही अपने कार्यों की सिद्धि के लिए सबल साधनों का प्रयोग करता रहा है, और बौद्धों ने भी यही किया है, क्योंकि धर्म एवं संस्कृति का प्रचार ही इन बौद्ध कवियों का लक्ष्य था और उसके लिए इन लोगों ने आश्रयण किया है 'कोमलकान्त पदावली काव्य का'। क्योंकि उनको यह विदित था कि काव्य की शक्ति खड्ग से भी अधिक और तोप से भी अधिक सबल होती है, अतः ऐसे अमोध अस्त्र को छोड़कर उनके लिए धर्म प्रचार का अनुपम साधन और क्या हो सकता था?

समाज के विश्रृंखलित वातावरण में जबकि हिंसा का प्राबल्य तथा धर्म के नाम पर जीवबलि का आधिक्य हो रहा था। जनता का यज्ञादि क्रियाओं एवं वैदिक कर्मकाण्ड से विश्वास उठने लगा, समाज में पाशविक प्रवृत्तियों का बोलबाला हो गया, और लोगों का जीवन कर्त्तव्य से विमुख हो गया उस समय वैमत्य में एकत्व लाने, समाज को एकता के सूत्र में पिरोने तथा वास्तविक कर्त्तव्य को निर्दिष्ट करने के लिए बौद्ध कवि अग्रसर होते है जिनमें अश्वघोष का नाम सर्वविदित है।[1]

---

1. बौद्ध संस्कृत काव्य समीक्षा– रामायण प्रसाद द्विवेदी – पृष्ठ 53

महाकवि कालिदास के अनन्तर महाकाव्यों की विकास परम्परा को आगे बढ़ाने वाले बौद्ध कवि अश्वघोष का नाम आता है। महाकवि अश्वघोष कुषाणवंशी कनिष्क (78 ई0) की राज्यसभा के प्रतिभाशाली रत्न थे। कनिष्क का राज्यारोहण 78 ई0 माना जाता है चतुर्थ और अन्तिम बौद्ध संगीति कुण्डनवन काश्मीर में कनिष्क के प्रयत्न से ही हुई थी। महायान शाखा का उद्भव इसकी सबसे बड़ी देन थी।[1] महायान शाखा ने पालि को त्यागकर संस्कृत भाषा को अपना धार्मिक माध्यम बनाया था। इस क्रान्तकारी परिवर्तन से प्रेरित होकर अश्वघोष ने भी 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरानन्द' इन दो महाकाव्यों की रचना सरल और मधुर संस्कृत भाषा में की।

अश्वघोष एक बहुत बड़े आचार्य, कवि और उपदेशक थे। 'सौन्दरानन्द की पुष्पिका' से उनके जीवन परिचय की एक धुंधली सी झलक हमारे मानस पटल पर आ जाती है।[2]

उनका जन्म साकेत (अयोध्या) में हुआ था, इसलिए उन्हें साकेतक भी कहा जाता था। इनकी माता का नाम सुवर्णाक्षी था। दोनों काव्यों की अपेक्षा बुद्धचरित में काव्यत्व अधिक है, बीच–बीच में बौद्ध सिद्धान्तों एवं गूढ़ दार्शनिक तत्त्वों का काव्यशैली में रोचक निरूपण किया गया है। सौन्दरानन्द 18 सर्गों का महाकाव्य है इसमें बुद्ध के सौतेले भाई नन्द बुद्ध के उपदेश से समस्त सांसारिक भोगविलास एवं अपनी पतिव्रता प्रियतमा सुन्दरी का परित्याग करके प्रव्रज्या करते हैं। इस काव्य में कवि का उद्देश्य कविता के माध्यम से बौद्धधर्म का प्रचार करना है। इस प्रकार अश्वघोष आर्यभदन्त, महाकवि, महावादी, महापण्डित महाराजादि विरूदों से विभूषित थे।

बुद्धचरित– 28 सर्गों में निबद्ध यह महाकाव्य बुद्ध के जीवन, उपदेश तथा सिद्धान्तों के काव्यात्मक वर्णन से परिपूर्ण है। महाकाव्य का प्रारम्भ बुद्ध के जन्म से होता है और पर्यवसान अस्थिविभाजन से उत्पन्न कलह, प्रथम संगीति, तथा अशोकवर्धन के राज्य के उल्लेख के साथ होता है।

---

1. चट्टोपाध्याय :– डेट ऑफ कालिदास – पृष्ठ 82–106 (1926)
2. आर्यसुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्य भदन्ताश्वघोषस्य
   महाकवेर्वादिनः कृतिरियम् – सौन्दरानन्द की पुष्पिका।

'धर्म क्षेत्र' नामक विद्वान द्वारा किये गये इस महाकाव्य के चीनी अनुवाद में 28 सर्ग है इसके अलावा तिब्बती भाषा में भी 28 सर्ग प्राप्त होते हैं, चीनी यात्री इत्सिंग ने भी काव्य को वृहदाकार बताया है परन्तु संस्कृत में प्राप्त बुद्धचरित में मूलतः 14 सर्ग ही हैं। 'महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री' द्वारा प्राप्त ग्रन्थ 14वें सर्ग के मध्य तक रह जाता है। इस प्रकार प्रथम सर्ग से चतुर्दश सर्ग के 31वें श्लोक तक ही बुद्धचरित का अनुशीलन समुचित प्रतीत होता है। इन्हीं सर्गों में क्रमशः बुद्ध के जन्म, संवेग उत्पत्ति, स्त्रीनिवारण, अभिनिष्क्रमण, छन्दक विसर्जन, काम निंदा, अराऽदर्शन बुद्धत्व प्राप्ति का वर्णन है। काल की दृष्टि से बुद्ध चरित में प्रथम पांच सर्ग, अष्टम सर्ग तथा दशम सर्ग अत्यधिक सुन्दर एवं महत्त्वपूर्ण है– बाकी सारा ग्रन्थ धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रन्थ सा हो गया है।

बुद्धचरित महाकाव्य से अश्वघोष की सहृदयता का आकलन किया जा सकता है। प्राकृतिक दृश्यों में उनकी अगाध अनुभूति थी, उनका काव्य चित्रमय उपमानों और कौशलपूर्व शब्द प्रयोग पर आधारित था, अनुप्रास यमक उपमा उनके प्रिय अलङ्कार हैं। कहीं–कहीं उक्तिवैचित्र्य भी दिखाई देता है। मधुर और सुकुमार कल्पनाओं के कारण उनके काव्य में विम्बग्रहण करने की शक्ति रहती है।

बुद्ध के दूसरे महाकाव्य सौन्दरानन्द की बहुत ही कम हस्तलिखित प्रतियां प्राप्त हैं। दोनों ही जीर्णदशा में नेपाल नरेश के पुस्तकालय में सुरक्षित है। 'महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री' ने इन प्रतियों के आधार पर इस काव्य को 1910 में प्रकाशित करवाया था। अन्तिम समय में 'श्री सूर्य नारायण चौधरी' ने हिन्दी अनुवाद सहित इस महाकाव्य का सम्पादन किया है।

बुद्धचरित और सौन्दरानन्द दोनों ही ग्रन्थ अश्वघोष के कीर्तिस्तम्भ है। बुद्धचरित के पञ्चविंशति में बुद्ध का निर्वाण मार्ग की ओर उन्मुखीकरण, षड्विंशतिसर्ग में महापरिनिर्वाण सप्तविंशति सर्ग में निर्वाण की संस्तुति तथा अन्तिम सर्ग अष्टविंशति में धातु विभाजन के साथ बुद्धचरित की समाप्ति हो जाती है। इनके काव्यगुणों को देखकर सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि इनके काव्य गुणों से अधिक मार्गदर्शक एवं जीवनोपयोगी शिक्षा देने वाले है।[1]

अश्वघोष का बुद्धचरित – भूमिका

अश्वघोष के ग्रन्थों का अध्ययन करने से यह विदित होता है कि अश्वघोष की कला न्यूनाधिक कालिदास की कला पर आश्रित थी। अश्वघोष की प्रेरणा के स्त्रोत रहे महाकवि कालिदास जो सभी परवर्ती कवियों के आधार स्तम्भ रहे। इसके अलावा कथा प्रबन्ध कल्पना में तथा उपमान संकलन करने में भी इन्होंने रामायण एवं महाभारत से भी सहायता ली।

अश्वघोष की कविता कलात्मक है, परन्तु अनावश्यक, वैदग्ध्य प्रदर्शन के द्वारा कला का रूप विकृत नहीं किया गया है। इनकी भाषा कृत्रिमता से दूर है, इनकी वाणी में स्निग्धता और पदावलियों में अनोखी मधुरिमा दीख पड़ती है। इस शैली को ही प्रायः 'सुकुमारमार्गी' की संज्ञा दी जाती है। अश्वघोष ने निश्चय ही वाल्मीकि व्यास कालिदास द्वारा प्रथित सरणि का अनुसरण किया है।

अश्वघोष के काव्य में दार्शनिकता और उपदेशात्मकता अधिक है। अश्वघोष की शैली वर्णन प्रधान है। इन्होंने नारी सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना करने के लिए कमल शोभा का आश्रय लिया है, उस काल में बने सांची आदि के स्तूपों में भी कमल के फूल से युक्त लक्ष्मी आदि की मूर्तियां बनाने का प्रचलन था। अतः उनके प्रकृति चित्रण तथा उपमान महाकवि कालिदास की चित्रकला और मूर्तिकला सम्बन्धी सौन्दर्यशास्त्र की मान्यताओं का प्रमाण था

अश्वघोष की भाषा सरल, मधुर एवं प्रसाद गुण सम्पन्न है। शब्दों का चमत्कार पूर्ण प्रयोग उन्हें विशेष प्रिय है। वसन्तऋतु में कमल सरोवरों में खिले हुए है ऐसा प्रतीत होता है कि मानों कमलों की शोभा ही नारी का स्वरूप धारण कर आ गयी हो।[1]

'चतुर्थ सर्ग' में ही बुद्ध के मन को वैराग्य से मोड़कर भोग की ओर आकृष्ट करने के लिए अश्वघोष ने स्त्रियों की काम जन्य चेष्टाओं का वर्णन किया है। अश्वघोष के उपमानों की चित्रमयता यहाँ देखी जा सकती है।[2]

---

1. देखें – बुद्धचरित – 4/36
2. देखें – बुद्धचरित – 4/44

शैली की दृष्टि से भी अश्वघोष की शैली महाकविकालिदास की शैली की तरह सरल व सरस है। 'किमिव हि मधुराणां मण्डनंनाकृतीनाम्' यही कारण है कि अश्वघोष की कला उपदेशवादी होने पर भी कोरा नीतिग्रन्थ नहीं बन जाती, जो दयनीय परिणति अतिउपदेशवादी कवियों में देखी जाती है। इससे यह विदित होता है कि– अश्वघोष कविह्वदय अवश्य थे। अश्वघोष का धार्मिक उत्साह इस भक्ति के ताने बाने में बुनकर इतना भावात्मक हो गयाहै कि उनकी रचना में स्वतः काव्यत्व संक्रान्त हो गया है। अश्वघोष के श्रृङ्गार परकवर्णन रसिक पाठकों के ह्वदय को आप्लावित करते रहते हैं। श्रृङ्गारिक चित्रण रसपेशल एवं प्रभावपूर्ण है।

मुहुर्महुर्मदव्याजस्त्रस्तनीलांशुकापरा।
आलक्ष्यरशना रेजे स्फुरद्विद्युदिव क्षपा।।[1]

"नशे के बहाने बार–बार अपने नील अङ्कुश को गिराती हुई, कोई स्त्री जिसकी करधनी दिखाई देती थी, चमकती बिजली वाली रात के समान सुशोभित हो रही थी।"

पणव युवतिर्भुजांसदेशादवविस्त्रंसित चारूपाशमन्या।
सविलासरतान्ततान्त मूर्वोर्विवेरे कान्तमिवाभिनीय शिश्ये।।[2]

"दूसरी सुन्दरी जिसके गले की सुन्दर डोरी (हार) कन्धे से गिर गई है, सविलास सुरत के अन्त में थके प्रिय के समान पणव (वाद्ययन्त्र विशेष) को दोनों जांघों के बीच में दबाकर सो गयी।

सा तं स्तनोद्वर्तितहारयष्टिरूत्थापयामास निपीऽय दोर्भ्याम्।
कथं कृतोऽसीति जहास चोच्चैर्मुखेन साचीकृतकुण्डलेन।।[3]

श्रृङ्गार के उद्दीपन के लिए नारी सौन्दर्य को अश्वघोष ने महत्त्वपूर्ण अंग माना। विभाव पक्ष में नारी सौन्दर्य का वर्णन अश्वघोष के महाकाव्यों में कई स्थानों पर मिलता है। सौन्दरानन्द के दशम सर्ग में अप्सराओं तथा हिमालय की तलहटी के विचरती किन्नरियों का सौन्दर्य वर्णन सरस है।

---

1. बुद्धचरित – 4/33
2. बुद्धचरित – 5/56
3. सौन्दरानन्द – 4/19

कासाञ्चिदासां वदनानि रेजुर्वनान्तरेभ्यश्चलकुण्डलानि।

व्याविद्धपर्णेभ्य इवाकरेभ्यः पद्मानि कारण्डवघट्टितानि।।[1]

श्रृङ्गार के बाद कोमल रस करूण है जिसका वर्णन अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' में उस समय किया है जिस समय छन्दक सूने घोड़े को लेकर लौटता है तो उस समय नागरिक तथा सिद्धार्थ के माता–पिता तथा यशोधरा का विलाप होता है। अश्वघोष ने इस करूण दशा का चित्रण कर वातावरण को और अधिक मार्मिक बना दिया है।

इमाश्च विक्षिप्त विटङ्कवाहवः प्रसक्तपारावत दीर्घ निस्वनाः।

विनाकृतास्तेन सहावरोध नैर्भृथं रूदत्तीव विमान पड्.क्तयः।।[2]

सिद्धार्थ से वियुक्त अंतःपुर की सुन्दरियों के साथ कपोतपालिका रूपी भुजाओं को फटकारती हुई प्रसक्त पारावतों के क्रन्दन के दीर्घ निःश्वास वाली ये प्रसाद पंक्तियां मानों अत्यधिक विलाप कर रही है।

ठीक यही चित्र सौन्दरानन्द में भी परिलक्षित होता है, जहाँ श्येन के द्वारा घायल बनाये हुए चक्रवाक के कारण दुःखी चक्रवाकी के समान सुन्दरी अत्यधिक विलाप करती है और प्रसाद में स्थित चञ्चल कण्ठ वाले कबूतर मानों उसकी स्पर्धा करते हुए कूजन कर रहे हैं–

सा चक्रवाकीव भ्रंश चुकूज श्येनाग्रपक्षक्षत चक्रवाका।

विस्पर्धमानेव विमानसंस्थैः पारावतैः कूजनलोलकण्ठैः।।[3]

दोनों चित्रणों में इतनी अधिक समानता है कि जिससे सहृदय भावुकों को स्पष्ट हो गया कि अश्वघोष का भी करूण रस अत्यन्त मार्मिक है। भवभूति का करूण जिसकी साहित्य में अत्यधिक प्रसिद्धि है जो कालिदास और अश्वघोष की अपेक्षा भावुक दिखाई देता है परन्तु उसका सबसे बड़ा दोष है कि, उसका करूण रोता चिल्लाता वहुत है, चाहे उससे पत्थर का कठोर हृदय भी पिघल जाय किन्तु वाच्य की अतिशयता से उसका करूण कुछ कुण्ठित हो जाता है जो कालिदास और अश्वघोष की व्यञ्जनात्मक शैली में नहीं दिखाई पड़ता।

---

1. सौन्दरानन्द – 10/38
2. बुद्धचरित – 8/37
3. सौन्दरानन्द षष्ठमसर्ग – 6/30

अश्वघोष के दोनों काव्यों में भावों के अनुसार भाषा में उतार–चढ़ाव आया है। 'भाषा सौष्ठव' के कारण कही–कहीं लयात्मकता भी दृष्टिगोचर होती है। बुद्ध के उपदेश से प्रतिबुद्ध नन्द की अवस्था एक विरक्त भिक्षु की सी प्रतीत होती है।

"न मे प्रियं किंचन नाप्रियं में, न मेऽनुरोधोऽस्ति कुतोविरोधः।
तयोरभावात् सुखितोऽस्मिसद्यो हिमातपाभ्यामिव विप्रमुक्तः।।[1]

भाषा के आरोह अवरोह का सुन्दर दृश्य बुद्धचरित में सर्वत्र परिलक्षित होता है–

तत्याजं शस्त्रं विममर्श शास्त्रं, शमं सिषेवे नियमं विषहै।
वशीव कञ्चिद् विषयं न भेजे पितेव सर्वान् विषयान ददर्श।।"[2]

अश्वघोष ने कहीं–कहीं मार्मिक भावों की अभिव्यक्ति की है उन्होंने शुद्धोद्वन की आत्मशुद्धि का सुन्दर वर्णन किया है कि उसने तीर्थजल से शरीर को और गुणरूपी जल से मन को पवित्र किया है–

संस्नौ शरीरं पवितुं मनश्च, तीर्थाम्बुभिश्चैव गुणाम्बुभिश्च।
वेदोपदिष्टं सममात्मजंच सोमं पपौ शान्ति सुखं च हार्दम्।।[3]

अश्वघोष के बुद्धचरित और सौन्दरानन्द दोनों ही महाकाव्यों का 'मारविजय' वीररस के दृष्टान्त के रूप में लिया जा सकता है जिसमें वीररस का समावेश रूपक मुखेन हुआ है। नन्द एवं सिद्धार्थ ने किस प्रकार से मारसैन्य को पराजित किया है इसकी विवेचना रूपक अलङ्कार के रूप में हुई है–

ततः स वोध्यङ्गशितात्तशस्त्रः सम्यक्प्रधानोत्तम वाहनस्थः ।
मार्गाङ्गमातङ्गवता बलेन शनैः शनै क्लेशचमूं जगाहे।। सौ0 /17/24

बुद्धचरित में वीररस में छकी हुई मार की सेना का कवि ने किस प्रकार से वर्णन कियाहै निम्न दृष्टान्तों से स्पष्ट हो जाएगा–

प्रकीर्णकेशाः शिखिनोऽर्धमुण्डा रक्ताम्बरा व्याकुलवेष्टनाश्च।
प्रहृष्टवक्त्रा भृकुटीमुखाश्च तेजोहराश्चैव मनोहराश्च।। बुद्धचरित 13/24

---

1. सौन्दरानन्द – 17/67
2. बुद्धचरित – 2/52
3. बुद्धचरित – 2/37

उनके केश बिखरे हुए थे, वे शिखाधारी थे अर्धमुण्ड थे रक्त वर्ण के वस्त्र धारण किये थे, उनका शिरोवेष्टन अस्तव्यस्त था उनके प्रहृष्ट मुख से उत्साह टपक रहा था, भृकुटी तनी थी, वे तेज का एवं मन साथ ही मन का अपहरण करने वाले थे।

अश्वघोष का काव्यवैशिष्ट्य बुद्धचरित के अपेक्षा सौन्दरानन्द में अधिक दिखाई पड़ता है, किन्तु बुद्धचरित धार्मिक नीतिवादी प्रवृत्ति से नितान्त अछूता हो ऐसी बात नहीं है। अतएव निश्चय है कि बुद्धचरित भी काव्यकार के कवित्व कौशल का परिचायक अवश्य है। बुद्ध इतिहास प्रसिद्ध उदात्त नायक है उन्हीं की जीवन लीला ही कथावस्तु है यशोधरा एक आदर्श नायिका है तथा अंगी रस शान्त है। प्रणयचित्र इस महाकाव्य का अपेक्षित अंग है। जो कवि के कामशास्त्रीय चित्रों से होता है।

'सौन्दरानन्द महाकाव्य' का विषय है– कामवासना रूपी पङ्क में फंसे हुए नन्द का उद्धार करने के लिए बुद्ध एवं आनन्द आदि उनके शिष्यों को जो प्रयत्न करना पड़ा था उसी का वर्णन इस महाकाव्य का मुख्य विषय है।

प्रथम सर्ग में हिमालय के अंचल में स्थित कपिल गौतम की तपोवन–भूमि का वर्णन हुआ है जिसमें कालिदास के कुमारसम्भव में वर्णित हिमालय वर्णन जैसी परिपूर्णता लक्षित होती है। सौन्दरानन्द में कवि का काव्य कौशल निखर उठा है। इसी ग्रन्थ में अश्वघोष को कोमल भावों एवं सरस प्रवाहपूर्ण विषय के वैशिष्ट्य को विवेचित करने का अवसर मिला है। कोमल काव्य भावना के चित्रण में एवं विषय गाम्भीर्य के विवेचन में बुद्धचरित की अपेक्षा सौन्दरानन्द को अधिक सफल कहा जा सकता है।

अश्वघोष के दोनों महाकाव्यों में शब्दों और विचारों में पूर्ण समता दिखाई पड़ती है। अश्वघोष बौद्ध धर्म के परमपोषक थे। बौद्ध धर्म के प्रचार एवं प्रसार के लिए उनमें महान उत्साह विद्यमान था– जो उनकी कृतियों में प्रत्यक्ष परिलक्षित होता है। भोगासक्तों का मोक्ष मार्ग के प्रति उन्मुखीकरण ही इसका लक्ष्य था।

अश्वघोष के महाकाव्यों के परिशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी बौद्ध धर्म के प्रति अत्यधिक आस्था थी, विश्व कल्याण की लोकोत्तर क्षमता उनमें विद्यमान थी इसलिए इस महाकवि ने बुद्ध के लिए सर्वज्ञ, जगत्पति, स्वयम्भू, आदि परमकारूणिक

विशेषणों को अपनी रचनाओं में प्रयुक्त किया। अश्वघोष ने प्रभु द्वारा किये गये उपकारों की कृतज्ञता का वर्णन निम्न श्लोक में किया है–

यो दृष्टिशल्यो हृदयावगाढः प्रभो भृशं मामतुदत्सुतीक्ष्णः।
त्वद्वाक्यसंदंशमुखेन मे स समुद्धृतः शल्यहृतेव शल्यः।।[1]

हे प्रभो, कुदृष्टि रूपी तीक्ष्ण शल्य जो मेरे अन्तस् में गड़ा हुआ था और जो अत्यन्त पीड़ित कर रहा था, वह आपके वाक्यरूपी संदंश द्वारा बाहर खींच लिया गया जैसे शल्योद्धारक के द्वारा शल्यापनयन किया जाता है।

अश्वघोष ने बुद्धचरित और सौन्दरानन्द में स्थान–स्थान पर पौराणिक आश्रमों एवं वृत्तान्तों का भी उल्लेख किया।

बुद्धचरित में शिव विजय के वृत्तान्त की ओर संकेत करते हुए मार चिंता को इन शब्दों में व्यक्त किया है–

"शैलेन्द्रपुत्री प्रति येन विद्धो देवोऽपि शम्भुश्चलितो वभूव।
न चिन्तयत्येष तमेव वाणं किं स्यादचित्तो न शरः स एषः।।[2]

जिस बाण से विद्ध होकर भगवान शम्भु भी शैलेन्द्र सुता (पार्वती) प्रति चंचल हो उठे उसी बाण की (शाक्यकुमार) यह चिंता तक नहीं कर रहा है। क्या यह चित्त रहित है या यह वाण ही (वह न होकर) कोई अन्य है।

अश्वघोष के बुद्धचरित में कवि का दार्शनिक स्वरूप अत्यन्त ही उन्नत दृष्टिगत होता है–

तथागत द्वारा महामुनि अराड से शान्ति एवं परमार्थ विषयक प्रश्न किये जाने पर अराड ने जो उत्तर दिया। वह सांरगदर्शन से सम्बन्धित ही सिद्धान्त है।

"तत्र तु प्रकृतिं नाम विद्धि प्रकृतिकोविद।
पञ्चभूतान्यहंकारं बुद्धिमव्यक्तमेव च।।" बुद्धचरित

इसी प्रकार कवि ने सौन्दरानन्द में इस जागतिक जंजाल से मुक्त नन्द के प्रति जो पुनः जगत्जञ्जाल में आबद्ध होना चाहता है उसकी दयनीय अवस्था की अभिव्यक्ति निम्न शब्दों में की गयी–

---

1. सौन्दरानन्द 18/7
2. बुद्धचरित 13/16

"कृपणं बत यूथलालसो महतो व्याध भयाद्विनिःसृतः।
प्रविविक्षति वागुरां मृगश्चपलो गीतरवेण वञ्चितः।।" सौन्दरानन्द

"परम खेद की बात है कि महान् व्याध के भय से मुक्त चपल मृग यूथ (में मिलने) की अभिलाषा से युक्त तथा गीत ध्वनि से प्रवञ्चित होकर पुनः पाश में आबद्ध होना चाहता है।" सौन्दरानन्द – 8/15

यद्यपि अश्वघोष ने धर्म एवं दर्शन सम्बन्धी विषय की विवेचना दोंनो ही ग्रन्थों में की है किन्तु सौन्दरानन्द में दार्शनिक सिद्धान्तों की गम्भीरता तथा गूढ़ता को लोक जीवन के सिद्धान्तों द्वारा सहज रीति से अभिव्यक्त किया गया है वहाँ बुद्धचरित में शास्त्रीय प्रमाणों के उपस्थापन द्वारा किया गया है। अश्वघोष के जीवन का लक्ष्य था विषयरत मानव को अपने सदुपदेशों द्वारा सद्मार्ग का पथिक एवं लोक को मंगलमय बनाना।

अश्वघोष की कलात्मक मान्यता से यह स्पष्ट होता है कि इनकी दृष्टि वर्ण्यविषय पर अधिक और वर्णन विधि पर अपेक्षाकृत कम थी। अश्वघोष एक कवि है तथा उनकी कृतियाँ सहृदय साहित्यिक समाज के लिए कलात्मकता की झलक प्रदर्शित करती है। इसलिए अश्वघोष का वर्ण्यविषय कभी भी रसहीन नहीं कहा जा सकता। इनकी अभिव्यञ्जना पद्धति सरस एवं सहज है। अश्वघोष उसी श्रेणी के काव्य है जिसमें कालिदास को परिगणित किया जाता है।

अलङ्कारों में विशेष रूप से इन्हें उपमा, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, रूपक, अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास आदि का प्रयोग अधिक किया। सहज उपमा की सुन्दर अभिव्यक्ति अवलोकनीय है।

"तं गौरंव बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तरस्ततरङ्गेष्विव राजहंसः।।" सौ० 4/42

बुद्ध के प्रति भक्ति और प्रिया के प्रति अनुरक्ति नन्द को व्याकुल किये हुए है वह कोई निर्णय लेने में असमर्थ है, जैसे तंरगों में तैरता हुआ हंस कभी उठता है और कभी नीचे गिरता है।

"श्रुत्वा महर्षेः स गृह प्रवेशं सत्कार हीनं च पुनः प्रयाणम्।
चचाल चिंताभरणाम्बर स्त्रक्कल्पद्रमों धूत इवाविलेन।।" सौ0 4/31

महर्षि बुद्ध ने गृह में प्रवेश किया था किन्तु सत्कार के बिना ही वापस लौट गये यह श्रवण कर विचित्र आभूषण वस्त्र एवं मालादि धारण करने वाला नन्द वायु से प्रकम्पित कल्पतरू के समान प्रकम्पायमान हो उठा।

अश्वघोष की उपमाएं कालिदास की उपमाओं से पूर्णतः साम्य रखती है। उपमाओं का दर्शन करने के पश्चात् वे सचमुच इनकी उपमाएं कालिदास के समकक्ष ही है– जिसको दृष्टान्तो द्वारा प्रस्तुत किया गया है। महाकवि द्वारा प्रयुक्त रूपक के अग्रिम सुन्दर दृष्टान्तों का अवलोकन क़रिये–

"सा हासहंसा द्विरेफा पीनस्तनात्युन्नत पद्मकोशा।
भूयो वभासे स्वकुलोदितेन स्त्रीपद्मिनी नन्ददिवाकरेण।।" सौ0 4/4

नन्द रूपी सूर्य के उदय होते ही सुन्दरी रूपी पद्मिनी (सरोवर) विकसित हो गयी। उस पद्मिनी में हास्य रूपी हंस, नेत्र रूपी भ्रमर और उन्नत उरोजरूपी पद्मकोश थे। नन्द दिवाकर और सुन्दरी पद्मिनी का क्या ही मधुर रूपक बांधा गया है।

इस प्रकार साधर्म्य मूलक अलङ्कारों के अतिरिक्त इनके महाकाव्यों में अनुप्रास तथा यमक सदृश शब्दालङ्कार भरे पड़े है। वैदर्भी एवं प्रसाद गुण समवेत अपनी शैली द्वारा गूणतम बौद्ध सिद्धान्तों को समझाने में पूर्णतः सफल हुआ है।

इनकी कृतियों में छन्द योजना का भी उचित समावेश पाया गया है। इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, वंशस्थ, शिखरणी, शार्दूल विक्रीडित, अनुष्टुप, सुवदना, मालिनी आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। अनुष्टुप छन्द के प्रति महाकवि का विशेष प्रेम रहा है फिर भी संगीत की दृष्टि से प्रहर्षिणी व रूचिरा छन्द अधिक प्रयोग किये है।

"अंतःपरं परममिति व्यवस्थितः परां धृतिं परममुनौ चकार सः।
ततो मुनिः पवन इवाम्बरात्पतनप्रगृह्य तं पुनरगमन्महीतलम्।।" सौ0 10/64

सर्गान्त को प्रभारोत्पादक बनाने में अश्वघोष इसी उक्त छन्द को ही अधिक प्रयोग में लाते थे।

उक्त काव्यगत भावों को देखकर अन्त में हम इतना ही कहेंगे कि अश्वघोष भी दोनों आर्ष महाकाव्यों (रामायण एवं महाभारत) एवं कालिदासीय काव्यमार्ग के समर्थक पथिक रहे हैं।

❐

तृतीय अध्याय

किसी भी साहित्यिक शैली के विकास में उस युग की सामाजिक चेतना का विशेष प्रभाव पड़ता है। काल की साहित्यिक मान्यता, युग का वातावरण उस युग के साहित्य को एक विशिष्ट शैली का आश्रय लेने को बाध्य करती है। विक्रम के सप्तम–अष्टम शतक को साहित्य के इतिहास में परिवर्तन का युग माना जा सकता है। अब तक संस्कृत काव्य का लक्ष्य जनसाधारण का अनुरञ्जन था। कविता का प्रमुख वैशिष्ट्य–वर्ण्य विषय तथा वर्णन प्रकार का सुन्दर सामञ्जस्य था, और इसलिए इस युग के संस्कृतकवि साधारण–जन के हृदय को स्पर्श करने वाली कविता के निर्माण में दक्ष दिखलायी पड़ते थे। कालिदास तथा अश्वघोष के समय तक सुकुमार मार्ग की रचनाएं काव्य रसज्ञों द्वारा समादृत होती थी। इनका काल संस्कृत काव्य के इतिहास में सरलता तथा सरसता से सम्पन्न काव्य की रचना में प्रख्यात माना जाता था। गुप्त युग में भारत का साहित्यिक वातावरण बदल गया। प्राकृत भाषाओं ने संस्कृत के क्षेत्र को सीमित कर दिया। अब साधारण जल का मनोरञ्जन प्राकृत भाषा की रचनाओं से होने लगा। फलतः संस्कृत कवि अब सामान्य जल के लिए नहीं, अपितु पण्डित जन के लिए काव्य रचना करने लगे। सुकुमार मार्ग का स्थान विचित्र मार्ग ने ले लिया और विचित्रमार्ग का आश्रयण कर काव्यरचना करने वाले कवि–गण राजदरबारों में उपस्थित काव्य रसज्ञ पण्डित–समाज को संतुष्ट कर सम्मान के पात्र बनने लगे। इसी युग में बौद्ध न्याय का उदय तथा विकास सम्पन्न होता है जिसके मतों को ध्वस्त करने के लिए ब्राह्मण, नैयायिक अपने युक्ति–कौशल का प्रदर्शन करते हैं। दिङ्नाग, धर्मकीर्ति जैसे बौद्ध पण्डितों तथा वात्स्यायन और उद्योतकर जैसे नैयायिकों के उदय का यही युग है। इन्हीं को लक्ष्य कर संस्कृत का कवि अपने प्रबन्ध काव्यों की रचना करता था। इस युग के साहित्यिक आग्रह तथा पाण्डित्यमय वातावरण संस्कृत कवियों को नई प्रेरणा देने लगे। युग की विशिष्टता और साहित्यिक चेतना के कारण कविजनों के लिए रसमयी पद्धति को छोड़कर एक नवीन शैली का ग्रहण आवश्यक हो गया । जिसमें विषय की अपेक्षा वर्णन प्रसार पर तथा सारल्य के स्थान पर पाण्डित्य पर ही विशेष आग्रह था। इसके अतिरिक्त वाल्मीकि, कालिदास, अश्वघोष आदि की कला में भावपक्ष एवं कलापक्ष का जो समन्वय, महाकाव्य के इतिवृत्त की जो अनवहेलना पाई जाती है,

वह कालिदास के पश्चाद्भावी कवियों में धीरे–धीरे मिटती गयी और कोरा कलापक्ष इतना बढ़ता गया कि महाकाव्य नाममात्र की दृष्टि से महाकाव्य रह गये। मानव जीन का जो विस्तृत सर्वाङ्गीण चित्र महाकाव्य के लिए आवश्यक है वहा यहाँ लुप्त हो गया। महाकाव्य केवल पाण्डित्य तथा कला प्रदर्शन के क्षेत्र रह गये। इस प्रकार उत्तरवर्ती कवियों ने काव्य का उद्देश्य, वाह्यशोभा, अलङ्कार, श्लेषयोजना एवं शब्दविन्यास चातुरी तक ही सीमित कर दिया। अलङ्कार कौशल का प्रदर्शन करना तथा व्याकरण आदि शास्त्रों के नियमों के पालन में अपनी निपुणता सिद्ध करना ही उनका प्रधान लक्ष्य हो गया। काव्य का विषय गौण हो गया तथा भाषा और शैली को अलङ्कृत करने की कला प्रधान हो गयी।

इस अलङ्कृत शैली को अपनाने वाले सर्वप्रथम महाकवि भारवि हैं। भारवि के पश्चात् अनेक कवि इस मार्ग के पथिक बन गये जिनमें भट्टि, माघ, श्री हर्ष, मङ्खक, रत्नाकर आदि प्रमुख हैं। कालिदास के बाद के कवियों में पाण्डित्य प्रदर्शन की भावना विशेष रूप से पायी जाती है। बाद के कवि दर्शन, सङ्गीत शास्त्र, आयुर्वेद, धर्म शास्त्र, कामशास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, आदि विविध विषयों के अपने ज्ञान को जानबूझ कर अपने काव्य में प्रकट करते रहे और इसी में अपना गौरव समझते रहे।

इस प्रकार कालिदास के बाद संस्कृत काव्यों की प्रवृत्ति में एक नया युग आरम्भ हुआ। भारवि इस युग के अग्रणी एवं नयी प्रवृत्ति के प्रतिष्ठापक थे। कालिदास के समय तक काव्य में भावपक्ष (रसध्वनि) प्रधान रहा। भारवि ने इस शैली में परिवर्तन कर काव्य में कलात्मकता का अधिकाधिक सन्निवेश किया। उत्तरोत्तर यह अलङ्कृत शैली पश्चवर्ती महाकाव्यों की एक प्रमुख विशेषता सी बन गयी। परिणाम स्वरूप कलात्मकता एवं चमत्कृति ने काव्य में भाव प्रवहणता को बिल्कुल तिरोहित सा कर दिया। भारवि की काव्य प्रतिभा में कोई सन्देह का स्थान नहीं था। उनकी भाषा परिष्कृत है, साँचे में बिल्कुल ढल कर आती है, उनके काव्य में अलङ्कार कट–छट कर सीधे ढंग से प्रयुक्त हुए हैं। वह अपनी शब्दार्थ रचना के प्रति अत्यन्त सजग रहते है। उनकी काव्य भारती स्फुट अक्षरों वाली प्रसन्नता एवं अर्थ गाम्भीर्य से चुक्त है। यह उन्हीं की मान्यता है।

प्रतिभा के धनी एवं विदगध होते हुए भी भारवि काव्य शैली एवं कल्पना में कालिदास के ऋणी है। भावों की अभिव्यक्ति में यद्यपि उन्होंने भरसक यह प्रयास किया है कि उन पर पड़ा कालिदास का प्रभाव कहीं भी मुखर न होने पाये, किन्तु फिर भी कहीं–कहीं वह कालिदास के भाव लेते पाये जाते हैं। यद्यपि कालिदास और अश्वघोष के बाद कई शताब्दियों तक महाकाव्य–निर्माण स्थगित सा रहा, क्योंकि इस काल का कोई भी काव्य नहीं है। केवल कुछ अभिलेख हस्तगत हुए हैं। जिनमें तत्कालीन काव्य की अलङ्कृत शैली की झलक दृष्टिगत होती है। इसके पश्चात् अकस्मात् भारवि की कृति किरातार्जुनीयम जो प्रौढ़ अलङ्कृत शैली का निदर्शन थी अन्धकार में दीपक की भाँति देदीप्यमान होती है। इसने सहृदय विद्वज्जनों को अपने स्फुट निदर्शन से चमत्कृत कर दिया।[1]

संस्कृत की विकसित महाकाव्य परम्परा का सफल प्रतिनिधित्व हमें कालिदास और अश्वघोष के बाद भारवि की कृति में मिलता है क्योंकि भारवि के निकट के पूर्ववर्ती किसी काव्य रचयिता की कृति की अनुपलब्धि में भारवि को ही चमत्कार युक्त अलङ्कृत शैली का जनक माना गया है। उन्हीं भारवि की कवित्व कीर्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने वाला उनका एक मात्र ग्रन्थ किरातार्जुनीयम है जिसकी गणना संस्कृत की वृहत्त्रयी (किरात, माघ, नैषध) में की गयी है।[2]

कालिदास के परवर्ती प्रमुख महाकाव्यों में आरम्भ किरातार्जुनीयम से ही होता है। उन महाकाव्यों में भारवि का महाकाव्य कुछ अपना अलग ही स्थान रखता है उनके महाग्रन्थ काव्यशास्त्रोक्त नियमों से पूर्णतयापरिपूर्ण है। व्याकरण के नियमों का पूर्ण प्रयोग काव्य में सर्वत्र परिलक्षित होता है। कालिदास और अश्वघोष की अपेक्षा भारवि का व्यक्तित्व दर्शन सर्वथा स्वतंत्र प्रतीत होता है।

---

1. विवक्तवर्णाभारणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम्।
   प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती।। — किरातार्जुनीयम–14/3
2. येनायोजि नवेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
   स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः।। — ऐहोल शिलालेख

भारवि के पहले वाल्मीकि तथा कालिदास ने अपने महाकाव्य का जो विषय चुना था वह अत्यन्त विस्तृत तथा परिमाण में विपुल है। जबकि भारवि, भट्टि, माघ इत्यादि के काव्य वर्णन प्रकार एवं पाण्डित्य के विशेष आग्रह से परिपूर्ण है। यह एक नवीन शैली को लोकप्रिय करने का ढंग था– जिसे आचार्य कुन्तक अलङ्कार बहुला या विचित्र मार्ग की संज्ञा देते है। इस अलङ्कृत शैली की दो प्रमुख विशिष्टताएं थी। (1) विषय सम्बन्धी, (2) भाषा सम्बन्धी। जैसे कि कालिदास ने अपने रघुवंश में केवल 19 सर्गों के भीतर दिलीप से प्रारम्भ कर अग्निवर्ण तक रघुवंश की अनेक पीढ़ियों का वर्णन बड़ी सफलता के साथ किया परन्तु भारवि ने अर्जुन का किरात के पास जाना और उनसे युद्ध कर अस्त्र प्राप्त करने की स्वल्पकथा को 20 सर्गों में कह डाला।[1] इन्होंने अपने काव्य में पर्वत, नदी, सन्ध्या, प्रातः, ऋतु अनेक दृश्यों का वर्णन करने में अनेक सर्ग व्यय कर दिये और इस प्रकार इस छोटे से कथानक को इतना अधिक विस्तार प्रदान किया। कहने का तात्पर्य यह है कि भारवि के पहले काव्य का विषय विस्तृत होता था प्राकृतिक वर्णन कम परन्तु भारवि के बाद काव्य में कथावस्तु अत्यन्त कम होने लगी और प्रकृति प्रर्णन अधिक, यही बात शिशुपाल तथा नैषध में भी परिलक्षित होती है।[2]

दूसरी बात भाषा तथा शैली सम्बन्धी है वाल्मीकि तथा कालिदास ने महाकाव्यों में सीधी सादी चलती और प्रवाहपूर्ण भाषा का प्रयोग किया उनकी कविता प्रसाद गुण से युक्त है। न तो उनमें कही क्लिष्ट कल्पना है न अलङ्कार की बेसुरी झङ्कार इनकी कविता में अलङ्कारों के लाने का बरबस प्रयोग नहीं किया गया है। बल्कि जहाँ भी अलङ्कार आये बहुत ही सहज रूप में प्रयुक्त दिखलाये गये हैं। परन्तु भारवि ने एक ऐसी शैली को जन्म दियाएक ऐसी रीति का काव्य में प्रयोग किया जो अलङ्कार के भार से लदी है श्लेष के प्रयोग से अत्यन्त दुरूह बन गई है। तथा चित्र काव्य से प्रदर्शन करने की बलवती इच्छा से पहेली के समान कठिन हो गयी है– अलङ्कारों की प्रधानता होने के कारण ही इसे 'अलङ्कृत शैली' नाम प्रदान किया गया। इस अलङ्कृत शैली

---

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास – बलदेव उपाध्याय
2. नैषधीयचरित 22/5

का उत्कर्ष माघ के काव्य में देखने को मिलता है। अतः इस शैली की उद्भावना और विकास में भारवि और माघ का नाम संश्लिष्ट रहेगा। अब महाकवियों के सामने दो प्रकार की काव्य शैलियां विद्यमान थी। (1) वाल्मीकि की सहज सारस्वत प्रवाह युक्त रसमयी शैली (2) दूसरी भारवि माघ की अलङ्कृत शैली। अब यह समस्या थी कि किस शैली को अपनाया जाय तो उनमें कुछ श्री हर्ष, पद्मगुप्तपरिमल इत्यादि कवियों ने प्रथम शैली अर्थात् रसमयी शैली का को अपनाया जबकि इनमें इतनी क्षमता यह भी विद्यमान थी कि काव्य को वह सम्यक रूप से अलङ्कृत भी कर सकते थे। अलङ्कृत शैली का भव्य निदर्शन रत्नाकर का 'हरविजय' है। इन सभी परवर्ती युग के कवियों की दृष्टि में नैसर्गिकता के स्थान पर अलङ्कारिकता का विशेष मूल्य है। वाह्य प्रकृति के वर्णन में भी भिन्नता आ गयी है। ये कवि लोग प्रकृति के विलक्षण एवं मार्मिक स्वरूप के विश्लेषण में नितान्त असमर्थ है, क्योंकि इनमें निरीक्षण का वस्तुतः अभाव है। श्री हर्ष जैसे विदग्ध पण्डित की दृष्टि में सांयकाल में पश्चिम दिशा शवरालय में प्रहर के अन्त की सूचना देने वाले मुर्गों की कँलगी के कारण लाल रंग की दिखलायी पड़ती है। कालिदास के यमकमय वर्णन को परवर्ती कवियों ने अपनाया उन्होंने यमक का इतना अधिक वर्णन किया कि उसमें रसवत्ता का नामोनिशान न रह गया केवल वाहवाही के केन्द्र बिन्दु रह गये। कालिदास के यमक की स्वाभाविकता तथा मनोरमता के सामने भारवि तथा माघ का ऋतुवर्णन (छठे सर्ग का) सम्बन्धी कोई भी श्लोक खड़ा नहीं हो सकता। अलङ्कृत शैली का विकट रूप तब प्रगट होता है जब कवि एक ही प्रबन्ध में राम की तथा अर्जुन की कथा सुनाने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। कभी-कभी तो तीन-तीन अर्थ एक ही श्लोक में आदि से लेकर अन्त तक निकलते है। ऐसे द्वयर्थी महाकाव्यों में धनञ्जय का द्विसन्धान, विधामाधव का पार्वतीरुक्मिणीय, हरिदत्त सूरि का राघवनैषधीय, कविराज सूरि का राघव पाण्डवीय मुख्य है। त्रयर्थी काव्यों में राजचूड़ामणि दीक्षित का 'राघवयादवपाण्डवीयम् तथा चिदम्बरसुमति का राघवपाण्डवयादवीय मुख्य है[1] कहना व्यर्थ है कि इन काव्यों में पाण्डित्य का प्रदर्शन ही मुख्य है हृदय को विकसित करने वाली कला की अभिव्यक्ति नितरां न्यून है। इस

---

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास – बलदेव उपाध्याय

प्रकार महाकाव्य के विकास पर दृष्टिपात करने से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि आरम्भिक युग में नैसर्गिकता का ही काव्य में मूल्य था। वही गुण आदर की दृष्टि से देखा जाता था परन्तु आगे चलकर पाण्डित्य का जोर बढ़ा। न्याय तथा वेदान्त के गम्भीर अध्ययन के कारण पाण्डित्य एक नवीन युग ही आ खड़ा हुआ। फलतः कवियों ने अपने काव्यों में अक्षराडम्बर तथा अलङ्कार विन्यास की ओर अपना दृष्टिपात किया उन्हें ही काव्य का जीवन मानने लगे, और इसलिए पिछले युग में सुकुमार मार्ग के स्थान पर विचित्र मार्ग का प्रसार हुआ। कालिदासोत्तर महाकाव्य परम्परा में इस नयी विचित्र मार्गी प्रवृत्ति के आ जाने से एक नया मोड़ आया। इन काव्यों में श्रृङ्गार रस के वर्णन की प्रवृत्ति बढ़ती गयी। भाषा में सरलता सहजता तथा अल्प समासों के स्थान पर क्लिष्ट शब्दों और दीर्घ समासों का प्रचलन बढ़ने लगा। शास्त्रीय तथा व्याकरण सम्मत नियमों का पालन ही कवि नैपुण्य हो गया। वैदग्ध्य प्रदर्शन एवं पाण्डित्य प्रकटीकरण के चक्रव्यूह में फँसकर महाकाव्य रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से अवरकोटिक होते गये। बैदग्ध्य प्रदर्शन की भावना इतनी प्रबल हो गयी थी कि वे किसी वस्तु का सीधा–सादा वर्णन करने में संकोच करते थे। किसी भी वस्तु का वर्णन करते समय उन्हें अपने पाण्डित्य के प्रदर्शन का अच्छा अवसर मिल जाता था और वे इसका पूरा लाभ भी उठाते थे। वे उन वर्णनों में अपने अधीत विषयों तथा विविध शास्त्रों के अपने ज्ञान को प्रदर्शित करने का भरसक प्रयत्न करते थे। कालिदास ने काव्य के कलापक्ष को भी संवारा अवश्य था किन्तु उनका भावपक्ष ही अधिक प्रबल और प्रौढ़ था उनमें जो सारस्वत प्रवाह और गम्भीरता का भाव था वह परवर्ती कवियों में नही रह पाया। उनकी कविता में अखाड़ेबाजी ने विशेष रूप से अपना स्थान ले लिया था। इस प्रकार परवर्ती युग में कलापक्ष को इतना अधिक महत्त्व दिया जाने लगा कि महाकाव्य अलङ्कारों का घटाटोप बन कर रह गया। भावपक्ष प्रायेण उपेक्षित और नगण्य ही रह गया।

इस नवीन प्रवृत्ति का सूत्रापात भारवि के महाकाव्य किरातार्जुनीयम् से हुआ। भारवि ने यद्यपि रसोन्मेष में भी कोई न्यूनता नही आने दी है, तथापि जिस चित्रमार्ग किंवा अलङ्कृत शैली का प्रवर्तन भारवि ने किया था वही शैली परवर्ती कवियों को सर्वाधिक ग्राह्य हुई। महाकवि भारवि ने अपने काव्य का आरम्भ बिल्कुल मौलिक रूप से

किया है। वनेचर आगमन से वह किरातार्जुनीय का आरम्भ करते है, जिस वनेचर को युधिष्ठिर ने दुर्योधन की शासन व्यवस्था जानने के लिए गुप्तचर रूप में भेजा था। यह कवि की नितान्त मौलिक कल्पना है। इस काव्य का मुख्य उद्देश्य अर्जुन को पाशुपतास्त्र की प्राप्ति है जिसके लिए वह कटिबद्ध है। उनके वर्णन क्या अलङ्कार, क्या रीति, क्या गुण, यहाँ तक कि व्याकरण, काव्य, राजनीति, काम आदि से भी अछूते नहीं रहे। जिसके संकेत यथावसर महाकाव्य में उपलब्ध होते हैं।

महाकवि भारवि ने महाभारत के संक्षिप्त से कथाक्रम को महाकाव्य के लक्षणों के अनुरूप ऋतु, पर्वत, सूर्यास्त, रतिक्रीड़ा आदि विभिन्न वर्णनों से मण्डित करके एक महाकाव्य के रूप में प्रस्तुत किया। इन विभिन्न विस्तृत वर्णनों के होते हुए भी कथावस्तु में निरन्तर अविच्छिन्नता बनी रहती है। अपने इन्हीं प्रशस्त गुणों के कारण इस महाकाव्य ने संस्कृत महाकाव्यों की वृहत्त्रयी में प्रमुख स्थान ग्रहण कियाहै। महाकवि भारवि ने अपने काव्य का प्रारम्भ श्री शब्द से किया है– और प्रत्येक सर्गान्त में लक्ष्मी शब्द का प्रयोग किया है– इस प्रकार भारवि ने अपने महाकाव्य की रचना इस ढंग से की है जिससें नियमों का उल्लङ्घन न होने पाये तथा काव्य की रसोद्रेक शक्ति में भी कोई अन्तर न आने पाये।

काव्य के सुकुमार कलेवर में राजनीति एवं कूटनीति का प्रशस्त समावेश भारवि ने ही किया। प्रथम सर्ग से ही कवि की राजनीति प्रवीणता पदे–पदे परिलक्षित होने लगती है। "शठेशाठ्यं समाचरेत्" सिद्धान्त का वर्णन भारवि ने अत्यन्त सुन्दरता से किया– उससे उस समय की राजनीति का स्पष्ट परिचय परिलक्षित होता है–

"व्रजन्ति ते मूढ़धियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि ध्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृतांगान निशिता इवेषवः।।"[1]

युधिष्ठिर को युद्ध के लिए प्रेरित करती हुई द्रौपदी ने राजनीति का सार एक ही श्लोक में कह डाला है– इतना ही नही वह साग्रह कूटनीति का आश्रय लेने को भी कहती है।

---

1. किरातार्जुनीयम् – 1/30

न समयपरिरक्षणं क्षमं ते भूरिधाम्नः निकृतिपरेषु परेषु।
विजयार्थिनः हि क्षितीशाः विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि।।[1]

अर्थात् विजय कामना करने वाले राजा कभी समय व्यर्थ नहीं गंवाते। वे अपनी दुर्बलता के समय की गयी सन्धि को किसी न किसी बहाने से भंग करके अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं।[2] फिर आप युधिष्ठिर ही निरन्तर अपमान करने में तत्पर शत्रुओं के प्रति इस प्रकार अवधि–शर्त का पालन करते रहें, यह उचित नहीं है।[4] इस प्रसंग के माध्यम से द्रौपदी ने युधिष्ठिर को कूटनीति विषयक शिक्षा दी है। और कहा कि गुप्तचर की सूचनाएं भी राजनीति के रहस्य को बताने वाली होती है।

भीम द्रौपदी की बात का समर्थन करता है। युधिष्ठिर को उत्साहित करता हुआ वह स्पष्ट कह देता है कि समृद्धियाँ पराक्रमी मनुष्य का ही आश्रय लेती हैं, अनुत्साही व्यक्ति का नहीं।

"निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः।" किरात– 2/15

भीम के उक्त वक्तव्य में कार्यसिद्धि के पांचो अङ्गों का उल्लेख है। भीम की बातों का जो उत्तर "युधिष्ठिर के मुँह से यह कहा गया कि 'व्यक्ति को काम, क्रोध आदि के वश में होकर अचानक ही कोई कार्य नहीं कर डालना चाहिए"। वह भी कवि के नीति ज्ञान का परिचायक है। क्रोध के आवेश में आकर किये गये कार्य में सफलता प्राप्त नहीं होती। क्रोधी पुरूष अपनी प्रभु मंत्र, और उत्साह इन तीनों शक्तियों से हाँथ धो बैठता है। अहंकारी राजा अपने मित्रों, प्रजा और अन्तरङ्ग मन्त्रियों आदि को भी खो देता है। बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि वह दुर्विनीत शत्रु के अभ्युदय की उपेक्षा कर दे। अभ्युदयशील वह शत्रु अपने दोषों के कारण एक न एक दिन अवश्य नष्ट हो जाएगा, क्योंकि ऐसे दुष्ट व्यक्तियों की सम्पत्ति का अन्त विपत्ति में होता है।

यह नीतिविषयक वचन कवि के विशिष्ट ज्ञान तथा पाण्डित्य के परिचायक हैं। जिसके उचित प्रसङ्ग पर कवि ने अपने राजनीति सम्बन्धी ज्ञान तथा गम्भीर अनुभव का

---

1. किरातार्जुनीयम् – 1/45
2. प्रभवः खलु कोशदण्डयोः कृतपञ्चाङ्गविनिर्णयो नयः।
   स विधेयपदेषु दक्षतां नियतिं लोक इवानुरूध्यते।। किरात – 2/12
3. मतिमान् विनयप्रमायिनः समुपेक्षेत समुन्नतिं द्विषः।
   सुजयः खलु तादृगन्तरे विपदन्ता ह्यविनीतसम्पदः।। किरात – 2/52

कोष खोलकर जनमानस के सामने रख दिया है। इसी प्रकार अमराङ्गनाओं के क्रीड़ा विलास का सजीव तथा सरस चित्रण करके कवि ने अपने कामशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान का प्रदर्शन किया है। कवि ने किरातार्जुनीयम् में विभिन्न नायिका, भेदों, काव्यरूढ़ियों, अलङ्कारों तथा विभिन्न वृत्तों के प्रयोग से उनका 'पिङ्गलशास्त्र' तथा अलङ्कारशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान प्रकट होता है।[1]

द्वितीय सर्ग में युधिष्ठिर भीम के वक्तव्य की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि भीम की वाणी में उसकी बुद्धि उसी प्रकार प्रतिविम्बित हो रही है जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में प्रतिविम्ब स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। यह कथन भारवि की कविता के बौद्धिक पक्ष की ओर संकेत करता है।[2] उनका कहना है कि, काव्य को पढ़कर कवि के बुद्ध वैभव की स्पष्ट प्रतीति होनी चाहिए, किन्तु बौद्धिक चमत्कार के फेर में पड़कर भारवि अपने काव्य के महत्त्वपूर्ण गुणों का परित्याग नहीं करना चाहते। युधिष्ठिर के स्वर में निःसन्देह कवि ही अपनी काव्यशैली के आदर्श का निरूपण कर रहा है। इससे कवि का यही मत प्रतीत होता है कि काव्य की पदयोजना में स्पष्टता हो तथा अर्थगौरव का निर्वाह अवश्य होना चाहिए, अर्थ की पुनरूक्ति भी न हो तथा वाक्यों में अभीप्सित अर्थ प्रकट करने की शक्ति का भी अभाव नहीं होना चाहिए। इसके अलावा काव्य में श्रुति–मधुर शब्दों का इतना सुरूचिपूर्ण प्रयोग होना चाहिए कि वह कोमल कान्त पदावली शत्रुओं के मन को भी प्रसन्न कर दे। ये सभी विशेषताएं भारवि की कविता में ही विद्यमान है। यद्यपि यह सत्य है कि, भारवि काव्य के कलापक्ष पर विशेष ध्यान देते हुए अपने काव्य में अलङ्कारों की सचेष्ट स्थापना करते है शाब्दीक्रीड़ा और चमत्कार प्रदर्शन की ओर उनका ज्यादा झुकाव प्रतीत होता है, किन्तु सिद्धान्त रूप में वे काव्य के भावपक्ष और कलापक्ष दोनों के ही महत्त्व को भलीभाँति समझते हैं। अर्जुन का यह कथन उनके इस विचार को स्पष्टता प्रदान करता है–

स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेयसम्पदं, विशुद्धि मुक्तेरपरे विपश्चितः।
इति स्थितायां प्रति पूरूषंरचौ, सुदर्लभाः सर्वमनोरमागिरः।। किरात–14/5

---

1. किरात – 2/26
2. स्फटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
   रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितंक्वचित्।। किरात– 2/27

उक्त श्लोक में एक ओर शब्दों की अपेक्षा अर्थ पर अधिक बल देने और दूसरी ओर शब्द की विशुद्धि कोही अधिक महत्त्वपूर्ण मानने की दोनों विचारधाराओं को कवि उपयुक्त नहीं समझता है। वह मध्यम मार्ग का समर्थक है वह काव्य में शब्द योजना को ही आवश्यक समझता है। साथ ही अर्थ की स्पष्टता तथा गम्भीरता को भी काव्य के लिए अनिवार्य मानता है। "सर्वमनोरमागिरः" कहने से कवि का यही अभिप्राय है। उक्त श्लोक से यह भी सहज में ही ज्ञात होता है कि कवि जन–प्रियता को श्रेष्ठ काव्य की कसौटी मानता है। भारवि के विचार से उस काव्य को सफल नही माना जा सकता जो केवल एक विशेष प्रकार की अभिरूचि वाले व्यक्ति को ही मनोहर प्रतीत हो। व्यक्तियों की रूचियां तो भिन्न–भिन्न होती हैं, किन्तु सत्कवि को अपनी प्रतिभा के द्वारा ऐसे काव्य की सृष्टि करनी चाहिए जो सभी रूचि के अनुकूल हो। महाकवि भारवि यहाँ पर काव्य के किसी एक पक्ष पर ही अधिक बल देने वाली अतिवादी विचारधारा को उपेक्षणीय घोषित करते हुए प्रतीत होते हैं। उनका कहना कि वाणी मनोगत भावों की अभिव्यक्ति का श्रेष्ठ साधन है।[1] किन्तु उस वाणी के द्वारा गम्भीर अर्थ की अभिव्यक्ति कराने में किसी प्रत्युत्पन्न मति व्यक्ति को ही सफलता मिलती है। यही अर्थगाम्भीर्य भारवि के काव्य का आदर्श है।

भारवि ने अपनी अलङ्कृत काव्यशैली द्वारा अप्रस्तुत विधान को प्रकट करते हुए अलङ्कारों की सुन्दर योजना की है। शाब्दिक चमत्कार और आर्थिक चमत्कार दोनों का समुचित सन्निवेश किया। काव्य को यथासम्भव अलङ्कारों से मण्डित करने में खूब प्रयत्न किया है। जगह–जगह ऋतु, जलक्रीड़ा, चन्द्रोदय का वर्णन बड़ी सुन्दर भाषा में किया है। पञ्चम सर्ग का कवि का यमकमय चित्रण उसकी सर्वप्रियता को प्रदर्शित करता है। उपमा, श्लेष, अर्थान्तरन्यास आदि अलङ्कारों का भी काव्य में उचित सन्निवेश किया। वहाँ पर भी अर्थ गौरव का लक्ष्य उसने नहीं भुलाया है। श्लेष किसी न किसी अर्थालङ्कार का उपकारक बन कर ही प्रयुक्त हुआ है। अपने शुद्ध रूप में नहीं। हाँ उनके चित्रालङ्कार अवश्य खटकने वाली चीज है जिसमें अपनी चातुरी प्रदर्शित करने के

---

1. भारविकृत किरातार्जुनीयम् – डा0 राजेन्द्र मिश्र – भूमिका भाग

लिए एक समग्र सर्ग– पंचदश ही लिख डाला। हृदय में भावों को जाग्रत करके रसनिष्पत्ति की दशा तक पहुंचने में तो ये पद्य सर्वथा असमर्थ रहते ही हैं, इनके अर्थ को समझ लेना भी टेढ़ी खीर है। इनका पाठक बुद्धि की अच्छी करसत करके इस प्रकार के पद्यों के विषय में जो कुछ समझ पाता है वह बौद्धिक उपलब्धि मात्र ही होती है हृदय का उससे कोई सम्बन्ध नहीं होता। इन चित्रालङ्कारों में कवि की पाण्डित्य प्रदर्शन की ही भावना बलवती हो गयी है और पन्द्रहवाँ सर्ग अपनी कारीगरी दिखाने के लिए लिख डाला है। इस सर्ग में सर्वतोभद्र, यमक, विलोम, तथा अन्यान्य चित्रकाव्य की शैली के नमूने पाये जाते हैं। एक श्लोक में गोमूत्रिकाबन्ध का चमत्कार है तो दूसरे में प्रथम पंक्ति को दूसरी पंक्ति में ही ठीक उसी प्रकार दुहराया गयाहै। एक श्लोक के प्रत्येक पाद में एक व्यञ्जना का प्रयोग किया गया है तो दूसरा सम्पूर्ण श्लोक ही एक व्यञ्जना के द्वारा लिख डाला गया।

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानरना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नोनो नानेना नुन्ननुन्ननुत्।। किरात – 15/14

"अरे अनेक प्रकार के मुखवालों/नीच मनुष्य द्वारा विद्ध मनुष्य, मनुष्य नहीं है। नीच मनुष्य को विद्ध करने वाला मनुष्य भी मनुष्य नहीं है। जिसका स्वामी विद्ध नहीं हुआ है तो समझो पुरूष भी अविद्ध है तथा अत्यन्त पीड़ित व्यक्ति को पीड़ा देने वाला मनुष्य निर्दोष नहीं होता है।

एक ही अक्षर का यह श्लोक कितना चमत्कारपूर्ण है। अकेले अक्षर के प्रयोग के द्वारा ही गम्भीर अर्थ की अभिव्यक्ति करा देना भारवि जैसे कलाकार का ही काम था। किन्तु ऐसे स्थलों पर अर्थ की वह अभिव्यक्ति स्वाभाविक तथा सरल ढंग से नहीं हो पाती। चित्रालङ्कारों की इस योजना ने ही 15वें सर्ग को अत्यन्त दुरूह बना दिया है।[1]

यद्यपि सर्वप्रथम चित्रालङ्कारों का प्रयोग भारवि ने किया है जिसने निःसन्देह काव्य को विकृत बना दिया है।

गोमूत्रिकाबन्ध का एक उदाहरण देखिए– इसमें प्रत्येक चरण में विषम वर्णो पर वर्ण परिवर्तन हो सकता है। यथा–

---

1. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास – पृ० 190 – कपिलदेव द्विवेदी

नासुरोऽयं न वा नागोधरसंस्थो न राक्षसः।
ना सुखोऽयं नवाभोगो धरगिस्थो हिराजसः।। किरात – 15/12

'स्कन्द अपनी भागती हुई सेना को समझाते हुए कहते है कि यह मुनिवेष धारी अर्जुन न दैत्य है न नागराज है (गजेन्द्र या सर्पराज) न पर्वताकार राक्षस ही है, अपितु सुखद, महोत्साही, रजोगुण प्रधान एवं भूतलचारी एक मनुष्य है।[1]

चित्रालङ्कार का एक अत्यन्त श्रम साध्य भेद सर्वतोभद्र है इसे सीधा उल्टा ऊपर या नीचे जिस प्रकार भी पढ़ा जाएगा वही पद बनता है।

देवाकानिनि कावादे वाहिकास्वस्वकाहि वा।
काकारेभभरे काका निस्वभव्यव्यमस्वनि।। किरात – 15/25

शिव की भागती हुई सेना के प्रति सेनापति स्कन्द का कथन है कि आप लोग कायरता दिखाकर हमारे गौरव को नष्ट न कीजिए। (काकाः) हे काकतुल्य कापुरूषों? इस युद्ध में जो कि (देवाकानिनि) देवों के लिए उत्साहप्रद है, (कावादे) वाग्युद्ध प्रधान है, (वाहिकास्वस्वकाहि वा) क्रमशः नेतृत्व के समय शत्रुओं पर सम्यकतया प्रहरणशील है, (काकारेभरे) मदस्त्रावी हस्ति समूह से युक्त है और जो (निस्वभव्यव्यभस्वनि) निर्बल तथा सबल दोनों के पराक्रम से सुशोभित है, (अपना पुरूषार्थ न छोड़िये)।

इससे भी क्लिष्ट पदावली में गोमूत्रिकाबन्ध चित्रमयता प्रहेलिकादि का वर्णन 15वें सर्ग में देखने को मिलता है जहाँ प्रत्येक पद में एक ही व्यञ्जन ध्वनि पाई जाती है। यह एकाक्षर पद चित्रकाव्य है–

स सासिः सासुसूः सासो येयायेयाययाययः।
ललौ लीलां ललोऽलोलः शशीशशिशुशीः शशन्।। किरात – 5/5
धनं विदार्यार्जुनबाणपूगं ससारबाणोऽयुगलोचनस्य।
धनं विदार्याऽर्जुनबाणपूगं ससारबाणोऽयुगलोचनस्य।। किरात – 15/50

इस प्रकार उपर्युक्त पद्य सुन्दर होते हुए भी कठिन है। इनके अर्थ निकालने में विद्वानों को भी श्रम करना पड़ता है। यद्यपि रसिकजनों के लिए भारवि के काव्य में वर्णित चित्रबंधों का प्रयोग भले कोई महत्त्व न रखता हो किन्तु काव्यरूढ़ियों का

1. संस्कृत सुकवि समीक्षा – बलदेव उपाध्याय – प्रथम संस्करण।

अध्ययन करने वाले आलोचकों के लिए ये कम महत्त्व नहीं रखते। भारवि की इन कलाबाजियों में उस जादूगरी का आरम्भ पाया जाता है जिसकी शिष्ट परम्परा परवर्ती कवियों तक बढ़ती चली आयी है।[1] राजनीतिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन, सुश्लिष्ट पदविन्यास एवं कवि के पाण्डित्य प्रदर्शन के कारण यह काव्य अधिक कठिन हो गया है। कालिदास जैसी ललित वैदर्भी रीति का यहाँ अभाव है। कालिदास की कविता में तो द्राक्षापाक है, अंगूर मुँह में रखते ही रस का आस्वादन होता है, किन्तु भारवि की कविता में नारिकेल पाक है जिसे तोड़ने के लिए कठोर परिश्रम करना होता है। तब कविता का सार हाँथ में लगता है। जहाँ भारवि ने 21 छन्दों में चित्राङ्कारों का प्रयोग किया वही माघ ने 28 छन्दों में यह चमत्कारप्रियता एक दूसरे से आगे बढ़ जाने की थी।

महाकवि भारवि ने अर्थालङ्कारों का प्रयोग करते हुए चमत्कार प्रदर्शन को अपना लक्ष्य नहीं बनाते। उनके अर्थालङ्कार अप्रस्तुत योजना में सहायक होते है और वर्ण्यविषयक को अत्यन्त रमणीय एवं प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्त करते है।

भारवि कलापक्ष के कवि है।[2] कलापक्ष में उनका ध्यान माघ की तरह शब्द और अर्थ दोनों की गम्भीरता पर नहीं रहता[3] और न नैषध के यशस्वी कलावादी की तरह प्रौढ़ोक्ति की लम्बी उड़ान, पदलालित्य और परिरम्भक्रीड़ा पर ही भारवि का विशेष ध्यान केवल अर्थ गाम्भीर्य पर था। जिस प्रकार महाकवि कालिदास को उपमा अलङ्कार के लिए संस्कृत काव्य जगत में ख्यति है उसी प्रकार महाकवि भारवि अर्थगौरव के लिए प्रसिद्ध है।

'भारवेरर्थगौरवम्' स्वल्पशब्दों में विपुल अर्थ का सन्निवेश करना ही अर्थगौरव है अथवा दूसरे शब्दों में जिसे "गागर में सागर भरना" भी कहा जा सकता है। ऐसी भारवि की मान्यता है। एक अन्य स्थल पर उन्होंने अपना मत अर्थ गौरव, कल्पना और सूक्ष्म विचारों का मनोहर मिलाप, युधिष्ठिर द्वारा भीम के भाषण की प्रशंसा कराते हुए व्यक्त किया गया है।[4]

---

1. भारविकृत किरातार्जुनीयम् – समीर शर्मा पृ0 8
2. किरातार्जुनीयम् – कपिलदेवद्विवेदी – पृ0 27
3. शिशुपालवध – 2/86
4. देखिए – भारविकृत किरात0 के चौदहवें सर्ग का तीसरा श्लोक

सम्पूर्ण किरातार्जुनीयम में भारवि की इन्हीं मान्यताओं के उत्कृष्ट उदाहरण देखे जा सकते है। अपनी इसी अर्थगौरव सम्बन्धी मान्यता को प्रकट करने के लिए भारवि ने अधिकतर अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का सहारा लिया है। उनके सम्पूर्ण काव्य में लगभग 115 श्लोक अर्थान्तरन्यास अलङ्कार से युक्त है। कालिदास के अतिरिक्त अर्थान्तरन्यास के प्रयोग में कोई भी कवि इनकी समता नहीं कर सकता। एक स्थल पर कवि ने ऋतु सौन्दर्य के चित्रण के साथ ही सहृदय मानस के अकथनीय भावों को अर्थान्तरन्यास द्वारा उतारा है। मदमस्त मयूरों के मनोहर कूजन राजहंसों के शब्दों के साथ तथा कुमुदों के वन समूह पुष्पों की वृष्टि के साथ होकर अनुपम सौन्दर्य धारण करने लगे क्योंकि उत्कृष्ट गुणों का संयोग अतुलनीय गुणों का वर्धक होता है।

समदशिरिवरूतानि हंसनादैः कुमुद वनानि कदम्ब पुष्प नृष्टया।

श्रियमतिशयिनी समेत्य जग्मुर्गुणमहतां महते गुणाय योगः।। किरात0—10/15

इसी प्रकार कवि अर्थान्तरन्यासों के माध्यम से राजनीति सम्बन्धी अपनी मान्यताओं का भी स्पष्टीकरण किया है। यथा—ऐश्वर्य की वृद्धि करने वाला महात्माओं के साथ विरोध भी दुष्टों के संसर्ग की अपेक्षा श्रेयस्कर है।

तथापि जिह्मः स भविज्जिगीषया तनोति शुभ्रं गुणसम्पदा यशः।

समुन्नयत्भूतिमनार्यसङ्गमाद्वरं विरोधोऽपि समं महात्ममिः।। किरात 1/8

यद्यपि भारवि—काव्य में कालिदास के समान उपमाओं का आधिक्य नहीं है, फिर भी उपमा के प्रयोग में मौलिकता, सौन्दर्यसरसता, औचित्य और पाण्डित्य का सुन्दर समन्वयन हुआ है। उपमा का एक उदाहरण दृष्टव्य है— प्रस्थान के पश्चात् अर्जुन कृषकों की निवास भूमि पर उसी तरह गया जैसे कोई नायक अपनी प्रेयसी के पास जाता है। शरदभूमि पर कलहंस उसी तरह कूजन कर रहे थे जैसे— नायिका की मेखला झन—झन शब्द कर रही हो। उसके पके धान्य की पाण्डुता नायिका के गौरवर्ण के समान दिखाई दे रही थी। उपमा के अतिरिक्त कवि ने रूपक, उत्प्रेक्षा, यमक, अतिशयोक्ति, निदर्शना, एकावली, समासोक्ति, दृष्टान्त विरोधाभास आदि अलङ्कारों का प्रयोग किया। इसके अतिरिक्त चित्रालङ्कारों का भी प्रयोग भारवि ने किया जिसका वर्णन हम पहले कर चुके है।

भारवि काव्य में प्रकृति वर्णन में अलङ्कार और अप्रस्तुत विधान ही बहुलता से मिलता है। इस तरह के एक अप्रस्तुत विधान के लिए भारवि को विद्वानों ने 'आतपत्र भारवि' की उपाधि दे दी थी।[1] इस ढंग के अप्रस्तुत विधान का प्रयोग भारवि की मौलिक कल्पना है। जो सर्वत्र नहीं दिखाई पड़ते।

भारवि का काव्य भाषा, भाव, अलङ्कार, रस, वर्णन, वैचित्र्य छन्दोयोजना और शास्त्रीय पाण्डित्य का सुन्दर निदर्शन है। भाषा में लालित्य, माधुर्य और पाण्डित्य का सुन्दर निदर्शन है। भारवि की भाषा कोमल भावों को प्रकट करने में जितनी समर्थ है उतनी ही उग्र भावों के प्रकाशन में उनकी उक्तियां स्वाभाविकता, व्यङ्ग्य, और पाण्डित्य से पूर्ण है। युधिष्ठिर और भीम के व्यक्तित्व को कवि ने केवल संवादों के रूप में ही वर्णित किया है। फिर भी भारवि के युधिष्ठर शान्त, न्यायपरायण और अविचलता में इतने अद्वितीय वर्णित किये गये है कि संस्कृत साहित्य में ऐसा वर्णन अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। मानव मनोभावों के विश्लेषण में भारवि की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का परिचय मिलता है। मानव स्वभाव की कितनी सहज स्वाभाविक अभिव्यक्ति इस कथन में है कि कोई विद्वान तो भाव और अर्थगौरव को महत्त्व देते हैं ओर कोई भाषा के परिष्कार। ऐसी स्थित में वास्तविक परेशानी तो यह है कि सबकी मन पंसद बात कैसे कही जाय। उनकी शब्द योजना भावानुकूल है। भावों के अनुसार ही कहीं प्रसाद है कहीं माधुर्य है और कही ओजगुण। तभी तो उनका काव्य सौन्दर्य नारिकेल् फल सम्मित बताया गया है। "भारवेरर्थगौरवम्, प्रकृतिमधुरा भारविगिरः" आदि सूक्तियां भारवि की महत्ता को सूचित करती है।[2]

भारवि कर्तृवाच्य क्रिया पदों के प्रयोग की अपेक्षा कर्मवाच्य या भाववाच्य का अधिक प्रयोग करते हैं जो इनके प्रौढ़ व्याकरण ज्ञान का परिचय दिलाता है। यथा— 'तिरोवभूवे'[3], अभिदधे[4], आनिन्ये आदि। 'दर्शयते' में आत्मनेपद का प्रयोग विचित्र तथा पाण्डित्य—प्रदर्शन मात्र की भावना से किया गया मालूम होता है।

---

1. उत्फुल्लस्थल नलिनीवनादमुष्मादुद्धूतः सरसिजसम्भवः परागः।
   वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्तादाधत्तेकनकमयातपत्रलक्ष्मीम्।। किरात0 – 5/39
2. किरातसैन्यादुरूचापनोदिताः समं समुत्पेतुरुपस्तरहंसः।
   महावनादुन्मनसः खगा इव प्रवृत्तपत्रध्वनयः शिलीमुखाः।। किरात – 14/45
3. इति ब्रुवाणेन महेन्द्रसूनुं महर्षिणा तेन तिरोवभूवे।
   तं राजराजानुचरोऽस्य साक्षात्प्रदेशमादेशमिवाधितष्ठौ।। किरात – 5/33
4. इत्युक्तवानुक्ति विशेषरम्यं मनः समाधाय जयोफ्तौ।
   उदारचेता गिरमृत्युदारां द्वैपायनेनाभिदधे नरेन्द्र।। किरात – 3/10

सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः समानमानान् सुहृदश्चबन्धुभिः।
स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम्।। किरात0 – 1/10

इसी प्रकार "जहातु नैनं कथमर्थसिद्धिः संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः।" कि/3/14 में लोट्लकार का प्रयोग चौका देने वाला है। "द्विषां विघाताय विधातुमिच्छतः" कि0 –1/3 में तुमर्य चतुर्थी और विघाताय में तुमर्थ में घञ् प्रत्यय नवीन प्रयोग मालूम होता है। कारकों के प्रयोग, यथा तृतीया के स्थान पर षष्टी जैसे– 'लभ्याधरित्री तवविक्रमेण" कि0 3/17 का प्रयोग किया। "आजघ्नेविषमविलोचनस्य वक्षः" कि0– 17/63 में हन् धातु का प्रयोग आत्मनेपदी धातु रूप में किया है। 'वृणुते हि विमृश्य' कि0 2/30 में वृणवरणे के स्थान पर वृङ् संभक्तौ धातु का प्रयोग अप्रयुक्त और भ्रम में डालने वाला प्रतीत होता है। इन सब प्रयोगों द्वारा भारवि के व्याकरण सम्बन्धी ज्ञान की अगाधता का परिचय मिलता है। इससे इस नूतन विधा का प्राचीन कालिदासीय–महाकाव्य–विधा से अन्तर भी व्यक्त होता है। जहाँ प्राचीन विधा प्रसाद और सुबोधता पर बल देती थी वहाँ नवीन विधा अपरिचित और विकट रूपों के प्रयोग द्वारा अपने पाण्डित्य तथा कला–नैपुण्य पर अधिक बल देती दिखाई पड़ती है। सुरूचिपूर्ण महाकाव्य के निर्माता के विषय में काव्यशास्त्रीय ज्ञान की चर्चा करना थोड़ा अटपटा भले ही प्रतीत होता है, परन्तु फिर भी इनकी कुछ चाटूक्ति जैसे कि "स्फुटतानपदैरपाकृता' तथा विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः" बरबस अपनी ओर हृदय को आकर्षित कर लेती हैं ऐसी चमत्कारपूर्ण वाणी पुण्यशालियों को ही प्राप्त होती है।

इस प्रकार महाकवि भरवि ने विभिन्न विषयों के वर्णनों के द्वारा महाकाव्य को महिमामण्डित किया। क्योंकि कवि के लिए नायक–नायिकाओं के भावों के घात–प्रतिघात से परिचित होना इनके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में सहायक होता है, विलास लीला इत्यादि ऐसे सरस वर्णनों में ही कवि को ऐसे शास्त्र की अपेक्षा होती है।[1] किरातार्जुनीयम् के सर्ग आठ, नौ एवं दस अप्सराओं के विविध क्रीड़ा कलापों का सुन्दर निदर्शन प्रस्तुत करता है। इसके अलावा इस महाकाव्य का कथानक भी पौराणिक है, जो पुराण पर आधृत किरातवेषधारी शिव और अर्जुन के संघर्ष का वर्णन करता है। अन्यत्र तो शिव के अर्धनारीश्वर होने का वर्णन है।

---

1. किरात – 7/3

इसी प्रकार शिव–गौरी के पाणिग्रहण की चर्चा है जो कि पाठक को विस्मयीभूत करता है।

"अस्मिन्न गृह्यत पिनाकभृता सलीलमाबद्ध वेपयुरधीर विलोचनायाः।
विन्यस्तमङ्गलमहौषधिरीश्वरायाः स्रस्तोरगप्रतिसरेणकरेण पाणिः।। कि0–5/33

पाँचवे ही सर्ग में उमा की तपस्या का उल्लेख कवि की पौराणिक अभिरूचि का सङ्केत दिलाता है –

ईशार्थमम्भसि चिराय तपश्चरन्त्याः यादो विलङ्घनविलोल विलोचनीयाः।
आलम्बताग्रकरमत्र भवो भवान्याः श्च्योतन्निदाघसलिलाङ्गुलिनाकरेण।। कि0–5/29

इस (हिमालय) पर शिव के लिए बहुत समय तक जल में भवानी ने तपस्साधन किया था। उस समय जब कभी जलजन्तु परिस्फुरण करते थे तो उनके नेत्र सचकित हो जाते थे। (आशुतोष) शंकर ने भी अपने हाथ से इनके हाँथ का अग्रभाग ग्रहण किया था। भगवान शंकर के हाँथ की अङ्गुलियों से ग्रीष्म काल के स्वेद बिन्दु टपक रहे थे।

वैदिक ज्ञान द्वारा प्रतिपादित यज्ञीय परम्परा का सन्निवेश मुख्यतः 'मन्त्रैरिव संहिताहुतिः' किरात0 4/32 से प्राप्त होता है। मंत्रों द्वारा विधिवत दी गयी आहुति को जगत्प्रसूतिर्जगदेकपालिनीं कहा गया है। इन सुरूचिपूर्ण तथ्यों से कवि की वैदिक परम्परा में आस्था का सङ्केत भी द्योतित होता है। यहाँ तक कि कवि का न्यायशास्त्रीय ज्ञान युधिष्ठिर की इस उक्ति में परिलक्षित होता है–

उपपत्तिरूदाहृता बलादनुमानेन न चागम क्षतः।
इदमीदृगनीदृगाशयः प्रसभं वक्तुमुपक्रमेत कः।। किरात0– 2/25

इन विषयों के अतिरिक्त भारवि ने योगशास्त्र जैसे विषयों को अपने से अछूता नहीं रखा। उनका कहना है कि तप के लिए काम, क्रोध, लोभ और मोह की प्रवृत्तियों पर संयम रखने का योगशास्त्र का सिद्धान्त उसे मान्य है। तपस्या में रत अर्जुन के आचरण में शास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिविम्ब दृष्टिगत होता है। इन्द्र का अर्जुन से कहना है कि –

त्वया साधु समारम्भि नवे वयसि यत्तपः।
ह्रियते विषयैः प्रायो वर्षीयानपि मादृशः।। किरात0 – 11/10

तुमने युवावस्था में ही जो तप करना आरम्भ किया। वह बहुत अच्छा किया, क्योंकि मेरे जैसा वृद्ध व्यक्ति भी विषयों से प्रायः हर लिया जाता है।

इसके अतिरिक्त महाकवि भारवि ने अट्ठारहवें सर्ग में शैवदर्शन का विशद वर्णन कर शिव की सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता तथा सर्वज्ञता का भक्त की दृष्टि से हृदयस्पर्शी वर्णन किया है जो कि कितना चमत्कारी है–

न रागि चेतः परमा विलासिता, वधूः शरीरेऽस्ति न चास्ति मन्मथः।
नमस्क्रिया चोषसि धातुरित्यहो निसर्गदुर्वोधमिदं तवेहितम्।। कि0– 18/31

लेकिन माघ ने इन्हीं की प्रतिस्पर्धा में विष्णु का हृदय स्पर्शी वर्णन किया है। यह चमत्कार प्रियता की होड़ थी।

महाकवि भारवि शब्दों की कृत्रिमता पर बिल्कुल नही उलझते। इनकी शाब्दीक्रीड़ा का विन्यास पाँचवे और पन्द्रहवें सर्ग में ही मिलेगी।[1] भारवि श्लेष अलङ्कार के प्रेमी हैं, पर माघ या श्रीहर्ष जितने नहीं। उनके कलापक्षीय दृष्टान्तों से यह विदित हो जाता है। काव्य के पद–प्रयोग में अस्पृष्टता न हो तथा अर्थगाम्भीर्य पर विशेष ध्यान दिया जाय। इस कसौटी को लेकर भारवि के सोने की परख करेंगे तो भारवि इस पर खरे सिद्ध होते हैं। किरातार्जुनीयम् की इतिवृत्तात्मकता का अध्ययन करते समय कालिदास की भावप्रधान इतिवृत्त निर्वाहकता से तुलना करने पर मालूम होता है कि कालिदास जैसा कथाप्रवाह भारवि के काव्य में नहीं है। क्योंकि कालिदास वस्तुतः सहज प्रतिभा के सुकुमार मार्ग के कवि हैं। भारवि उनकी छाया नहीं छू सकते। वे आहार्य प्रतिभा के कवि है। महान् रचनाकार बाणभट्ट ने कालिदास की ही प्रशस्ति गायी है, भारवि की नहीं।

हम मानते है कि महाकाव्य की कथावर्णन शैली मन्थर गति से चलती है पर इसका यह अर्थ नही कि वह कई स्थानों पर इतने लम्बे–लम्बे अवरोध लगाती चले कि सहृदय पाठक में नीरसता महसूस होने लगे।

---

1. कवि और काव्यकार – डा0 सुरेश चन्द्र पाण्डेय

कालिदास की कथावस्तु क्या कुमारसम्भव, क्या रघुवंश दोनों में ही यद्यपि बहुत बार प्रश्रय लेती है लेकिन मध्य में एक से एक रमणीय दृश्य परिलक्षित होते हैं। परन्तु कालिदास का पाठक अपने कवि की स्थिति से भलीभॉति परिचित होता है और इसके पहले कि पाठक एक ही वर्णन के पिष्टपेषण को पढ़–पढ़कर ऊबे वह कथाप्रवाह को पकड़कर आगे बढ़ जाता है। सम्भवतः यह सफलता उसे अपने महाकाव्य में मिली है। लेकिन भारवि, माघ, श्रीहर्ष में ये बातें नहीं है। वे जहाँ रमते है वहीं सारा दिमाग का गुबार (वर्णनवैचित्र्य में) निकाल लेते है और जब एक ही वर्ण्य–विषय से सम्बद्ध शब्दवैचित्र्य, अलङ्कारवैचित्र्य और कल्पना की उड़ान का खजाना खाली हो जाता है तब वह किसी विषय का पुनः आगे वर्णन करने में समर्थ होते हैं। माघ तथा श्रीहर्ष इस कला के पूरे उस्ताद है और उनसे भी बढ़कर माघ के एक चेले रत्नाकर जिनके 50 सर्ग में 50 स्थल ही ऐसे है जहाँ कथा ही नही सहृदय पाठक के मस्तिष्क को भी ब्रेक लगाना पड़ता है, क्योंकि प्रबन्धकाव्य में बार–बार कथा का प्रवाह रोकना उसकी प्रभावोत्पादकता में विघ्न डालता है। इसकी जानकारी तो स्वयं सभी कवियों को है। फिर भारवि में कई स्थल प्रभावोत्पादकता से समवेत् है। सम्पूर्ण काव्य चाहे रघुवंश महाकाव्य के समान स्थिर प्रभाव न डाले ये स्थल सहृदय पाठक के दिल और दिमाग दोनों पर प्रभाव डालने में पूर्णतः समर्थ है।

भारवि ने मुख्य रूप से वीर तथा श्रृङ्गार रसों का प्रयोग किया। दूसरे सर्ग की भीम की उदात्त उक्तियाँ रसोचित वीर के दर्प से भरी पड़ी है। भीम यह कभी नहीं चाहते कि उन्हें दुर्योधन की कृपा से राज्य प्राप्ति हो। उनका कहना है कि अपने तेज से सारे संसार को तुच्छ बनाने वाला महान् व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की सहायता से (कृपा से) ऐश्वर्य प्राप्त नहीं करना चाहता। सिंह अपने ही हाँथों से मारे हुए दान–जल से सिक्त हाथियों को अपनी ही जीविका बनाता है।[1] इसके अलावा पाण्डवों की वीरता का भी वर्णन जगह–जगह देखिए। इस तरह के पद्य भारवि में एक और गुण की ओर सङ्केत करता है। भारवि के पद्यों में नादानुकृति बहुत कम पायी जाती है।[2]

---

1. मदसिक्त मुखैर्मृगाधिपः करिभिर्वर्तयते स्वयं हतैः।
   लधयन्खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः।। किरात0– 2/18
2. अथविहितविधेयैराशु मुक्ता वितानैरसित नगानितम्बश्यामभासां धनानाम्।
   विकसदमलधाम्नां प्राप नीलोत्पलानां श्रियमधिकविशुद्धां वह्निदाहादिव द्यौः।। कि0 – 16/62

किरातार्जुनीयम् के आठवें, नौवे, दसवें, सर्ग भारवि के प्रणय–कला विशारदत्व को प्रतिस्थापित करते हैं। अप्सराओं का पुष्पावचय, जलक्रीड़ा, रतिक्रीड़ा आदि वर्णन दिल को भले ही कम जचे किन्तु नर्मसाचिव्य करने में पूर्णरूपेण पटु है। भारवि, माघ श्रीहर्ष के श्रृङ्गार वर्णन वासना और विलास की वृत्ति को जितने उभारते हैं उतने कालिदास तथा अश्वघोष के वर्णन नहीं। कालिदासोत्तर सभी कवियों के श्रृङ्गारिक वर्णनों में वासना युक्त एवं ऐन्द्रियता की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है।

विहस्य पाणौ विधृते धृताम्भसि प्रियेणवध्वा मदनार्द्रचेतसः।
सखीव काञ्ची पयसा धनीकृता वभार वीतोच्चयवन्धमंशुकम्।। कि0 – 7/51

जलक्रीड़ा के वर्णन में देखिए – कैसा श्रृङ्गारिक चित्रण है –

कि पति ने पत्नी का हाथ पकड़ा और प्रेम विभोर पत्नी के वस्त्र शिथिल हो गये औरआर्द्रमेखला ने उन्हें रोक कर लज्जा संवरण किया। उक्त सभी वर्णनों में मुक्तक श्रृङ्गार वर्णनों का आकार दिखाई देता है। अलग–अलग नायिका की अवस्था का चित्रण इस बात को द्योतित करता है।

"न किञ्चिदूचे चरणेन केवलं लिलेख वाष्पाकुललोचनाभुवम्।" कि0 – 8/14

महाकवि भारवि ने अपने प्राकृतिक वर्णनों का चाकचिक्य भी शब्दों द्वारा व्यक्त किया। महान् कवि ने उद्दीपन तथा आलम्बन दोनों रूपों में प्रकृतिचित्रण किया। प्रकृति तथा युवतियों की सहज सुन्दरता के सूक्ष्म निरीक्षण की छवि को प्रस्तुत करने की प्रतिभा भारवि में ही थी।[1] अप्सरा विहार के समय सूर्यास्त वर्णन, प्रभात वर्णन रात्रिवर्णन इत्यादि कहीं–कहीं इतने विस्तृत रूप में वर्णित किये गये है, जिनसे काव्य में क्लिष्टता का भाव उत्पन्न हो गया है। किरातार्जुनीयम् में प्रकृति–चित्रण की प्रचुरता का कारण यह है कि इसकी सम्पूर्ण कथा प्रकृति की ही रम्य क्रोड में जन्म लेती है, विकास को प्राप्त होती है तथा समाप्त हो जाती है। अकेले भारवि ही नहीं, बल्कि संस्कृत के सभी परवर्ती कवियों को प्रकृति से प्रति अनुराग की यह भावना भारत की प्राचीन वनप्रधान संस्कृति से ही प्राप्त हुई। यह विशेषतः उल्लेखनीय है कि वनप्रधान

---

1. संस्कृत के महाकवि और काव्य – रामजी उपाध्याय – पृ0 64

संस्कृति से जैसे हम नगर प्रधान संस्कृति की ओर बढ़ते आये है, वैसे–वैसे हमारा प्रकृति के प्रति स्वाभाविक प्रेम समाप्त होता गया है। इसी का परिणाम यह है कि वाल्मीकि और कालिदास के हृदय में जो प्रकृति के प्रति सहज आकर्षण था वह परवर्ती संस्कृत कवियों में हमें नहीं दिखाई देता। दुरूह कल्पनाओं और कृत्रिम अलङ्कारों के दुर्वह बोझ से लदे हुए उनके प्रकृति–चित्रण अपने स्वाभाविक सौन्दर्य को खो बैठते हैं।

भारवि को प्रकृति चित्रण की दृष्टि से हम सन्धिकाल का कवि कह सकते हैं, जिसके वर्णनों में कहीं तो वाल्मीकि और कालिदास जैसा प्रकृति का स्वाभाविक एवं संश्लिष्ट रूप में देखने को मिल जाता है, तथा अप्रस्तुत विधान वाला रूप प्राप्त होता है।[1]

आलम्बन दृष्टिकोण से किया गया प्रकृति चित्रण तृतीय, चतुर्थ तथा पञ्चम सर्ग में मिलता है।[2]

हिमालय वर्णन का एक सुन्दर दृश्य देखिये–

रूचिपल्लवपुष्पलतागृहैः लसज्जलजैर्जलराशिभिः।
नयति संततमुत्सुकतामयं धृतिमतीरूपकान्तमपि स्त्रियः।। किरात0–5/19

मनोहर पत्र पुष्प से लदे लतागृहों से, शोभासम्पन्न कमलों से भरे सरोवरों से युक्त हिमालय संयोग से तृप्त कामिनियों को पति के समीप होने पर भी उत्सुक बनाता है।

इन सब प्रयोगों को देखकर यह भली भॉति मालूम होता है कि यद्यपि भारवि का चतुर्थ सर्ग कलापक्षीय दृष्टिकोण से बहुत ही अलङ्कृत एवं रमणीय है पर दो चार ही ऐसे स्थल आते हैं जो अनलङ्कृत तो हैं, परन्तु स्वाभाविकता की मार्मिक कामना से युक्त है।

---

1. 'संस्कृत काव्यकार' हरिदत्त शास्त्री पृ0 – 174
2. उदारताः पश्चिमरात्रि गोचराद पारयन्तः पतितुं जवेन गाम्।
   तमुत्सुकाश्चक्रुरवेक्षणोत्शुकं गवां गणाः प्रस्तुतपीवरौधसः।। किरात0 – 4/10

इसके अलावा सप्तम से दशम सर्ग तक जितने पद्यों में प्रकृति चित्रण हुआ है वह प्रायः उद्दीपन रूप में ही है। चन्द्रोदय इत्यादि का वर्णन भी वातावरण की मादकता में वृद्धि करने में ही सहायक होता है। शीघ्र ही उदित हुआ चन्द्रमा रात्रिजन्य अन्धकार को पूर्णतः दूर नहीं कर पाया है तो जन्ता को वह प्रकाश से युक्त रात्रि एक नवपरिणीता वधू के समान प्रतीत होती है जिसके मुँह पर से घूंघट हट जाने के कारण मुख तो स्पष्ट दिखाई दे रहा हो किन्तु फिर भी जो लज्जा से नत हो रही हो—

उद्गतेन्दुमविभिन्नतमिस्त्रां पश्यतिस्म रजनीभवितृप्तः।

व्यंशुकस्फुटमुखीमतिजिह्मां व्रीडया नववधूमिव लोकः।। किरात0— 9/24

महाकवि भारवि के इस वर्णन का तो कहना ही क्या था? यह उनकी पैनी दृष्टि का साक्षात् प्रमाण था। आन्तरिक भावों की व्यञ्जना कराने का अधिक अवसर कवि को प्राप्त नहीं हुआ। इसका एक—मात्र कारण यही है कि उनके महाकाव्य की कथावस्तु अर्जुन की पाशुपतास्त्र प्राप्ति से ही सम्बन्ध रखती है, उनके समग्र जीवन से नहीं।

जहाँ कालिदास की पार्वती अपने विवाह की बात सुनकर लीला कमल के पत्तों को गिनने लगती है[1] तो भारवि की नायिका ईर्ष्या जन्य मान के कारण नायक से कुछ नहीं कहती बस केवल पैर से धरती को कुरेदने लगती है।[2]

इस प्रकार भारवि के काव्य में किये गये विभिन्न वर्णनों पर यदि हम समग्र रूप से दृष्टि डालें तो कवि की दुर्बलता हमें स्पष्ट रूप से परिलक्षित होगी। किरातार्जुनीयम् की संक्षिप्त सी कथा में इतने विस्तृत वर्णन उचित प्रतीत नहीं होते।

इस प्रकार भारवि की काव्यशैली के सम्बन्ध में विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इनका भाषा और शैली सम्बन्धी दृष्टिकोण परिमार्जित एवं क्लिष्टता की भरमार से परिपूर्ण तो था लेकिन सर्वत्र हर स्थल में स्वाभाविकता का पुट भी नहीं रह पाया। पञ्चम सर्ग में यमकमय कोमलकान्तपदावली का प्रयोग करने वाले कवि को युद्ध—वर्णन के प्रसङ्ग में हम ऐसे शब्दों की योजना करते हुए पाते हैं, जिनकी कठोर ध्वनि युद्ध के उपयुक्त वातावरण उत्पन्न करने में अत्यन्त सहयोग देती है।

---

1. "एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
   लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती।। कालिदासकृत कुमारसम्भव — 6/84
2. किरात0 — 8/14

जिह्वाशतान्युल्लसयन्त्यजस्त्रं लसत्तडिल्लोलविषानलानि।
त्रासान्निरस्तां भुजगेन्द्रसेना नभश्चरैस्तत्पदवीं विवव्रे।। किरात0–16/37

महाकवि भारवि छन्द योजना में भी अपने पूर्ववर्ती कवि कालिदास से आगे हैं। भारवि का प्रिय छन्द वंशस्थ है– किरातार्जुनीयम् में वंशस्थ छन्दों की उत्कृष्टता को देखकर क्षेमेन्द्र ने अपने सुवृत्ततिलक में यहाँ तक कह डाला–

वृत्तछत्रस्य सा काऽपि वंशस्थस्य विचित्रता।
प्रतिभाभारवेर्येन सच्छायेनाधिकीकृता।। क्षेमेन्द्र कृत सृवृत्ततिलक

इतना ही नही किरातार्जुनीयम् के चार सर्गो यथा प्रथम, चतुर्थ, अष्टम् व चतुर्दश सर्ग में भी इस छन्द का प्रयोग हुआ है। इसके अलावा अनुष्टुप, उपजाति प्रमिताक्षरा आदि छन्दों का भी प्रयोग किया है। द्वितीय सर्ग में अनुष्टुप छन्द का बड़ा ही चमत्कारी रूप प्रस्तुत किया। भारवि ने अपनी प्रतिभा का प्रयोग छन्दो की रचना में भी किया जहाँ भारवि ने 13 छन्दों का यक्षावसर प्रयोग किया वहीं माघ ने तो 16 छन्दों के काव्य निबद्ध किया था। भारवि के छन्द विधान को देखकर प्रतीत होता है कि इनको 8 वर्ण से लेकर 13 वर्ण तक के छन्दों में पूर्णता ज्यादा प्राप्त थी इसीलिए सर्गान्त में केवल मालिनी एवं वसंततिलका का सम्यक् प्रयोग कर अपनी अलङ्कृत शैली की चमत्कारिता को प्रदर्शित किया।[1]

कालिदास एवं भारवि की काव्यशैली का संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन :–

वस्तुविन्यास की दृष्टि से यदि हम भारवि और कालिदास के काव्यों की तुलना करते है तो दोनों का अन्तर तो स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है। महाकवि भारवि में कालिदास जैसी वह मनोवैज्ञानिक सूझ–बूझ नहीं है, जिनकी सहायता से वह अपने पाठकों की रूचि, अरूचि को पहचान कर विस्तृत एवं दीर्घ वर्णनों से अवरूद्ध होने वाले अपने कथाप्रवाह को स्वाभाविक रूप से बहने दे। एक दृष्टि से भारवि के काव्य का कथा प्रवाह अश्वघोष के काव्यों से कुछ समानता रखता है। महाकवि अश्वघोष के ग्रन्थों की कथा अनेक स्थलों पर विस्तृत दार्शनिक विवेचन के सेतु से रूद्ध होकर

---

1. भारविकाव्य में अर्थान्तरन्यास – पृ0 7 से उद्धृत

अपनी स्वाभाविक गतिशीलता तथा सरसता को गँवा बैठी है। महाकवि भारवि भी कहीं तो विस्तृत उक्तियों की योजना करके अपने राजनैतिक पाण्डित्य की दुहाई देने लगते है।, तो कहीं युद्ध के दृश्यों का विस्तारपूर्वक चित्रण करने में इतने अधिक तन्मय हो जाते हैं कि आगे कि घटनाओं का भी उन्हें ध्यान नहीं रहता और कथा उनके वर्णन समाप्त होने की राह देखती हुई खड़ी रहती है। वस्तु विन्यास के प्रति यह प्रवृत्ति भारवि में अपने बीज रूप में है। जो माघ, श्रीहर्ष आदि विचित्रतावादी परवर्ती कवियों में अत्यन्त विकृत रूप को प्राप्त हो गयी और इसलिए उनके काव्यों को वस्तुयोजना की दृष्टि से कदापि सफल नहीं बताया जाता।

भारवि क़ी काव्यकला का अध्ययन करने से यह तो पूर्ण रूपेण ज्ञात होता है कि इनमें कालिदास और अश्वघोष जैसी प्रसादता, सारस्वत प्रवाह, ललित सन्निवेश नहीं दृष्टिगत होता– यद्यपि भारवि की शैली माघ की भांति विकट समासान्त पदावली का आश्रय नहीं लेती तथापि कालिदास जैसी ललित वैदर्भी भी नहीं है।

भारवि की रीति गौड़ी[2] तो नहीं कही जा सकती पर वह वैदर्भी रीति भी नहीं है, जो कालिदास में पाई जाती है। भारवि कालिदास की तुलना में पाण्डित्य के क्रीड़ाक्षेत्र में ज्यादा रमते नजर आते है। वे अपने गुह्यक्लिष्ट व्याकरण का पद–पद पर सन्निवेश करना चाहते है। भारवि की यही प्रवृत्ति आगे भट्टि माघ तथा श्रीहर्ष में अत्याधिक हो चली, क्योंकि भट्टि ने अपना रावणवध काव्य व्याकरण ज्ञान प्रदर्शन के लिए ही लिखा था।

भारवि ने तन् धातु के अत्यधिक प्रयोग कर्तृवाच्य एवं कर्मवाच्य के बेहद प्रयोग से किरातार्जुनीयम् महाकाव्य की प्रभुता को बेहद बढ़ा दिया। उनके लिट्लकार तथा काकुवक्रोन्ति के प्रयोग उसकी स्वाभाविकता का अपहरण कर लेते है।

यहाँ तक कि कालिदास और अश्वघोष की सरस सूक्तियों की भाँति गम्भीर अनुभव को व्यक्त करने वाली अनेक सूक्तियों को भारवि ने भी प्रदर्शित किया। महाकवि भारवि की सूक्तियां अश्वघोष के सुभाषितों की भाँति नीरस नहीं है।[2] वे कालिदास की

---

1. गौड़ीरीति का लक्षण – ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः।
समासबहुला गौड़ी।। विश्वनाथकृत सा0द0
2. किरात0 – 1/4

सूक्तियों की भाँति हमारे संस्कारों में समा जाने तथा हमारी भावनाओं के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने की क्षमता रखती हैं।[1] हमारा जीवन क्षेत्र विस्तीर्ण है।[2] विभिन्न विषयों के मीठे–कडुवे अनुभव हमें प्रतीत होते रहते हैं।[3] "हितं मनोहारी च दुर्लभं वचः" हितकारी और साथ ही मनोहर वचन दुर्लभ है। "वरंविरोधोऽपि समं महात्मभिः" सज्जनों के साथ विरोध रखना भी अच्छा है। अहो दुरन्ता बलवद्‌विरोधिता, बलवान् के साथ विरोध करने का फल बुरा होता है। 'विपदन्ता ह्यविनीत सम्पदः' अविनीत व्यक्तियों की सम्पत्तियों का अवसान विपत्ति में होता है। इत्यादि।

, भारवि को उनके काव्य में पाई जाने वाली आलङ्कारिक चमत्कार की प्रवृत्ति, शब्दक्रीड़ाओं तथा विस्तृत वर्णनों के प्रति अभिरूचि रखने के लिए हम अधिक दोषी नहीं ठहरा सकते। अपने काव्य कौशल के बल पर उन्होंने इस शैली को प्रौढ़ता प्रदान की। साथ ही वे कविता के भावपक्ष को भी सर्वथा न भुला सके। माघ और श्रीहर्ष आदि परवर्ती कवियों ने भी उनकी शैली को अपनाया, किन्तु वे कवि काव्य के शिल्प विधान में ही उलझे रहे, भाव पक्ष की ओर उनका विशेष ध्यान नहीं दिया गया। भारवि की काव्यशैली का अनुकरण करने पर भी उन कवियों के काव्यों में भारवि जैसा अर्थ गौरव नहीं है, हाँ भारवि से बढ़कर चमत्कार प्रदर्शन तथा पाण्डित्य प्रदर्शन करने की प्रवृत्ति उनमें अवश्य विद्यमान है।

भारवि की उक्त शैली को देखकर यह प्रतीत होता है कि महाकवि भारवि ने महाभारत के इस छोटे से कथानक को आवश्यकतानुसार उलटफेर करके उसे सरस बना दिया है।

महाभारत के अतिरिक्त महाकवि भारवि अपने महाकाव्य किरातार्जुनीय में अपने पूर्ववर्ती कवियों कालिदास, अश्वघोष तथा विशाखदत्त से प्रभावित दृष्टिगोचर होते है। कालिदास के महाकाव्य रघुवंश के भावों की समानता किरातार्जुनीय के कुछ स्थलों पर देखी जा सकती है। यथा– कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य में दिलीपसिंहसंवाद के प्रसङ्ग में दिलीप के मुख से कहलवाया है कि 'क्षत्र' शब्द 'क्षत' से रक्षा करने के अर्थ में विश्वविख्यात है।[1] भारवि काव्य में "जो सज्जनों की रक्षा करने में समर्थ है, वही क्षत्रिय

---

1. क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषुरूढः। रघु0 2/53

है।"[1] इसके अतिरिक्त अश्वघोष के बुद्धचरित में बुद्ध का 'काम से युद्ध'[2] तथा काम का अप्सराओं की सेना के साथ अर्जुन पर आक्रमण[3] इन दोनों कथनों में कितना साम्यभासित होता है। अश्वघोष के अतिरिक्त भारवि पर विशाखदत्त के भी विचारों का प्रभाव दिखाई पड़ता है, जैसे– महापुरूषों के स्वभाव के वर्णन के प्रसङ्ग में मुद्राराक्षस के दूसरे अङ्क का 18वां श्लोक और किरातार्जुनीय के चौदहवें सर्ग के चौदहवें श्लोक में अर्जुन का कथन।[4]

महाकवि भारवि नीति के तो पण्डित थे ही, पर विशेषतः राजनीति के प्रकाण्ड ज्ञाता थे। अपने राजनीति विषयक ज्ञान[5] में भारवि कौटिल्य के अर्थशास्त्र और विष्णुशर्मा के पंचतंत्र से पूर्णतः प्रभावित प्रतीत होते हैं।[6] उनका राजनीति सम्बन्धी ज्ञान किरातार्जुनीयम् के प्रथम श्लोक से ही दिखाई देने लगता है।

"श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम्
स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ युधिष्ठर द्वैतवने वनेचरः।। किरात0 – 1/1

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दूत को कापटिक कहा गया है।[7] राजनीति के तत्त्वदर्शी मनीषी होने के कारण भारवि का लक्ष्य राजीनति के विचार ही है।[8] राजनीति के क्षेत्र में सफलता का मूलमंत्र है– "प्रबलसत्ता के साथ विरोध को बचाना अन्यथा अपनी ही हानि है"। भारवि ने इस सत्य को अपने काव्य में आरम्भ से ही प्रकट किया है। "बलवान् के साथ विरोध का परिणाम बुरा होता है।"[9] भारवि के इस कथन का समर्थन अनेक राजनीतिज्ञों ने किया है तथा इस कथन में भी भारवि विष्णुशर्मा के पंचतंत्र से प्रभावित होते है।

---

1. स क्षत्रियस्त्राण सहः सतां यस्तत्कार्मुकं कर्मसु यस्यशक्तिः। किरात0– 3/48
2. बुद्धचरित सर्ग 13
3. किरातार्जुनीय, सर्ग 7, 8, 9 एवं 10
4. किं राषस्य भरव्यथा न वपुषि (मुद्राराक्षस 2/18)
5. किरात – 2/28
6. कौटिल्य अर्थशास्त्र, पृ0 27
7. परमर्मज्ञः प्रगल्भः छात्रः कापटिकः" कौटिल्य अर्थशास्त्र, पृष्ठ 27,
8. स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपं हितान्न यः संश्रृणुते स किं प्रभुः।
   सदाऽनुकूलेषु, हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः।। किरात0 – 1/5
9. प्रलीनभूपाल मपि स्थिरायति प्रशासदावारिधि मण्डलं भुवः।
   स चिन्तयत्येव भियस्त्वदेष्यतीरहो दरन्ता बलवद्विरोधिता।। किरात0 – 1/23

क्योंकि कालिदासोत्तर काल में भी संस्कृत महाकाव्यों की भांति संस्कृत नाटकों में भी भारवि जैसी शैली के दर्शन होने लगे थे। नाटकों में नाटकीयता के तत्त्व कम हो गये। केवल शास्त्रोक्त नाटकीय लक्षणों का निर्वाह करना मात्र ही नाटककारों का कर्तव्य हो गया। शूद्रक रचित नाटक अवश्य इसका अपवाद कहा जा सकता है। जिसमें कवित्व प्रदर्शन तथा चमत्कारिता की अपेक्षा नाटकीय योजना पर नाटककार का विशेष ध्यान रहा। वस्तुतः यदि साहित्य जीवन की व्याख्या है तो उसमें भी जीवन के बहुविध कार्यकलापों का चित्रण होना ही चाहिए। कहा ही गया है– कि साहित्य समाज का दर्पण होता है– क्योंकि साहित्य का सृष्टा सामाजिक प्राणी होता है– अतः उसका भी जीवन समाज के सांस्कृतिक, आर्थिक, एवं राजनैतिक उत्थान पतन और घात–प्रतिघातों से सदैव प्रभावित होता रहता है– फलस्वरूप उसकी कृतियों में सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों के मूल्यांकन की झलक सहज में ही उजागर हो उठती है। श्रेष्ठ कवि या साहित्यकार अपनी मर्मस्पर्शिनी साहित्य सुधा से मानवीय गुणों को अमर बनाया करते हैं। वे मानव के मौलिक मनोभावों–रति, उत्साह, ह्रास, करूणा के देशकालोचित्त चित्रण द्वारा समाज को सिक्षा देते हैं कि इन मनोभावों की कौन सी अवस्था कब स्पृहणीय होती है और कब गर्हणीय पर ऐसा करने में वे तभी समर्थ होते हैं जब उनकी चित्संवेदना अतीव तीव्र उर्वर एवं मुखर होती है। क्योंकि इसी के द्वारा वे जनजीवन में गहराई तक प्रवेश करते हैं वहाँ की वस्तुस्थिति पर सहज सहानुभूतिपूर्वक चिन्तन मनन करते हैं तथा इसी की मुखर से संप्रेरणा से वे जनजीवन की किसी रसीली किवां दर्दीली समस्या की अभिव्यक्ति में अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा लगाते हैं। यही कारण है – कि उनके काव्यों में जन जीवन झलक उठता है लोपोन्मुख मानवीय गुण प्रतिष्ठोन्मुख हो उठते हैं, सिसकता हुआ सदाचार मुस्करा उठता है तथा नदी की उच्छृङ्खल संगम धारा में डूबती–उतरती सहानुभूति को एक सहारा मिलने लगता है – शक्ति में संवेदना, बुद्धि में सर्जना का भाव जागृत होने लगता है और इस प्रकार जर्जर होती हुई मानवता में पुनः यौवन का मादक बसन्त महक उठता है। जिसके सौरभ से समस्त जीवन आप्यायित एवं आह्लादित हो उठता है। इस प्रकार हम देखते है कि– साहित्य जन जीवन का परिष्कार करता है, मानवता का विकास करता है बुद्धि और वाणी का संगम कराता है, किन्तु इस प्रकार के साहित्य की सर्जना की

आशा सभी साहित्यकारों से नहीं की जा सकती है। स्पष्ट है कि ऐसा साहित्य साहित्यकार के पाण्डित्य तथा बुद्धि–विलास का तो परिचायक होगा पर जनजीवन से दूर और दूरतर होता जाएगा। लेकिन साहित्यकारों का जो दूसरा वर्ग है जो "कला जीवन के लिए" के सिद्धान्त की हिमायती है संवेदनशील है, सहृदय है भावुक है और जिसकी साहित्य सम्पदा में कलापक्ष की गौणता और भावपक्ष की प्रधानता रहती है। उसका साहित्य निःसन्देह जनजीवन का स्पर्श करता है और वह समाज की एक स्वस्थ एवं प्रशस्त विरासत भी बन जाता है।[1]

संस्कृत साहित्य जगत् में वाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास, विशाखदत्त, भट्टि भवभूति, मुरारी, श्रीहर्ष आदि अनेक भावपक्षवादी साहित्यकारों के साहित्य कोषागार में राष्ट्रीय भावना के देदीप्यमान हीरे पड़े है तथा जिनमें जनजीवन को शाश्वत आलोक प्रदान करने का आनन्द एवं अजर्य्य प्रकाश पुञ्ज परिव्याप्त है। इसी तथ्य को कालिदास के परवर्ती कवियों एवं नाटककारों ने समझा और अपने पूर्ववर्ती नाटककार कालिदास तथा मृच्छकटिककार से अपना भिन्न नाटकीय आदर्श स्थापित करते हुए जीवन के कठोर संघर्षों को अपनी कल्पना का आधार बनाया।

पं0 बलदेव उपाध्याय ने कहा है– "भाषा तथा भाव, शैली तथा कृतित्व वस्तु तथा पात्रचित्रण के समीक्षण के आधारपर हम यह कह सकते हैं कि विशाखदत्त का यह नाटक वास्तव में एक महान् कृति है– जिसमें कालिदास के भावों के समान भावों में कोमलता नहीं है– और न भवभूति के समान हृदय को रूला देने वाली करूणा का प्रसार है, न भट्टनारायण के समान योद्धाओं को समर भूमि में प्राण देने को बाध्य करने की नगाड़ों की गड़गड़ाहट ही है– परन्तु जिसमें दो विशाल राजनीतिज्ञों के बुद्धिवैभव के नानाखेलों का विपुल आभार है और मानवता की भव्य मूर्ति को उपस्थित करने वाली नाट्यकला का सुन्दर ओजस्वी रूप है–"[2]

---

1. 'संस्कृत साहित्य में राष्ट्रीय भावना' – पृष्ठ – 43
2. पण्डित बलदेव उपाध्याय – संस्कृत साहित्य का इतिहास ।

इस प्रकार यह विदित होता है— महाकवि भारवि अपने पूर्ववर्ती कालिदास, अश्वघोष, विशाखदत्त इत्यादि कवियों से पूर्णतया प्रभावित रहे और उन्हीं की काव्यशैलियों का यथावत् अनुकरण कर किरातार्जुनीय जैसे महाकाव्य को लिपिबद्ध किया। निष्कर्ष यही निकलता है कि महाकवि भारवि की प्रमुखता वर्णनात्मक तथा तार्किक प्रसङ्गो में विशेष है— लयसमन्वित गीतिकाव्योचित माधुर्य का उनमें अभाव है— वे हिमालय के वर्णन में तथा राजनीतिक समस्याओं के तार्किक समाधान में जितने समर्थ है— उतने किसी कोमल भावों की अभिव्यञ्जना में नहीं। अलङ्कृत पदावली का विन्यास भारवि का निजी क्षेत्र है— अशंसय तथा चाकचिक्य जिसका कि भारवि के परवर्ती कवियों ने अनुसरण किया।

महाकवि भट्टि —

कालिदासोत्तर काल में काव्य के भावपक्ष की उपेक्षा करके कलापक्ष के प्रति विशेष आग्रह प्रदर्शित करने वाले प्रसिद्ध कवियों की जो श्रृङ्खला दिखाई देती है उसमें काल क्रम से भारवि के बाद दूसरा नाम 'भट्टि' का आता है।

महाकवि भट्टि ने अपने युग की मान्यताओं के अनुरूप काव्य की रचना की। उनके पहले से ही प्राकृत साहित्य पर्याप्त रूपेण समृद्ध हो चुका था। 'प्रवरसेन' कृत 'सेतुवंध' नामक प्राकृत महाकाव्य की रचना निश्चित रूप से भट्टि के पूर्व हो चुकी थी। लोकमानस के अत्यधिक निकट होने के कारण प्राकृत—साहित्य उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता जा रहा था। इसके अलावा प्राकृत—साहित्य की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही थी। शौरसेनी, मागधी इत्यादि प्राकृत भाषाओं के व्याकरणों तथा व्यवहार में सरलीकरण की प्रवृत्ति अपनाई गई थी। भाषा का यह नैसर्गिक विकास था जो जटिलता से क्रमशः सरलता की ओर उन्मुख हो रहा था। ऐसी स्थिति में संस्कृत जिज्ञासुओं के समक्ष संस्कृत व्याकरण के सूत्रों, वृत्तियों को स्मरण करने की जटिल समस्या रहीं होगी। इसलिए अपेक्षाकृत प्राकृत व्याकरण के समान संस्कृत व्याकरण को भी सरल बनाने की आवश्यकता थी। इस कार्य में महाकवि भट्टि ने अपना पूरा योगदान किया, और अपने

महाकाव्य 'रावणवध' (भट्टि काव्य) के द्वारा इस दिशा में विशेष प्रयत्न करके लोकमानस को प्रभावित किया।

महाकवि भट्टि की कीर्ति का आधार एकमात्र उनका 'भट्टिकाव्य' ही है। इस महाकाव्य में रामायण की सुपरिचित प्राचीन कथा को उपनिबद्ध किया गया है। साथ में व्याकरण के नीवन प्रयोगों के द्वारा सम्यक् बोधन की परिपाटी अपनाई गयी हैं। इस ग्रन्थ में शास्त्र और काव्य दोनों का समन्वय मिल जाता है। भट्टि ने स्वयं लिखा है–

"दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम्।
हस्ताऽमर्ष इवाऽन्धानां भवेद्व्याकरणादृते।।" भट्टि काव्य – 22/33

अर्थात व्याकरण का ज्ञान रखने वाले पाठकों के लिए यह काव्य दीपक की भाँति है लेकिन व्याकरण ज्ञान से शून्य लोगों के लिए यह उसी प्रकार उपयोगी नहीं है जैसे अंधे के हाथ में दर्पण।

यद्यपि भट्टिकाव्य के पूर्व रामचरित सम्बन्धी कई महाकाव्यों नाटकों का प्रणयन हो चुका था जिनमें महाकवि कालिदासकृत 'रघुवंश' महाकाव्य 'प्रवरसेनकृत सेतुबंध' तथा भासकृत प्रतिमानाटक तथा अभिषेक नाटक[1] काफी प्रसिद्धि पा चुके थे। प्रवरसेनकृत सेतुवंध (छठीं शता0) 15 आश्वासों में बद्ध महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा गया महाकाव्य है। इस महाकाव्य में प्रवरसेन ने नयी–नयी मौलिक उद्भावनाओं में बाल्मीकि कृत युद्धकाण्ड का जो वर्णन अलङ्कृत शैली में किया है, उसकी सुधीजन तारीफ करते नहीं थकते।

कालिदासोत्तर काव्य की पाण्डित्य प्रवृत्ति एवं कलात्मक सौष्ठव का एक पक्ष जहाँ भारवि में प्रतिविम्बित होता था, वहीं दूसरा पक्ष वैयाकरण भट्टि में परिलक्षित होता है। भारवि मूलतः कवि हैं, जो अपनी कविता कामिनी को विद्वज्जनों की अभिरूचि के अनुरूप सजाकर लाते हैं। भट्टि मूलतः वैयाकरण तथा अलङ्कारशास्त्री हैं, जो व्याकरण और अलङ्कारशास्त्र के सिद्धान्तों को व्युत्पित्सु सुकुमारमति राजाओं तथा भावी काव्यमार्ग

---

1. भासकृत – स्वप्नवासवदत्ता –गणेश दत्त शर्मा पृष्ठ – 2

के पथिकों के लिए काव्य के बहाने निबद्ध करते हैं। भारवि तथा भट्टि दोनों के काव्यों का लक्ष्य भिन्न–भिन्न है। इनके लक्ष्य में ठीक वही अन्तर है जो कालिदास तथा अश्वघोष के काव्यों में है। एक ओर जहाँ कालिदास रसवादी कवि हैं, तो भारवि कलावादी कवि, अश्वघोष दार्शनिक उपदेशवादी कवि है, तो भट्टि व्याकरण शास्त्रोपदेशी कवि। उक्त दृष्टिकोण को लेकर यदि हम भट्टि की प्रशंसा कर सकेंगे तो "भट्टि के काव्य का एक मात्र लक्ष्य व्याकरिणक शुद्ध प्रयोगों का सङ्केत"।[1]

भट्टि ने काव्य के द्वारा व्याकरण सम्मत प्रयोगों और अलङ्कारों को सिखाने का ढंग अपनाया है। यही नही भट्टि ने दामोदर से उलटा ढङ्ग भी अपनाया है। जहां दामोदर कोसली के द्वारा संस्कृत की शिक्षा देते हैं, वहां भट्टि संस्कृत के द्वारा प्राकृत (महाराष्ट्रीप्राकृत) सिखाने का ढंग भी अपनाते है व्याकरण को जीवन का लक्ष्य बनाकर चलने वाले अन्य काव्य भी पाये जाते है जिनमें भट्टभौम का 'रावणार्जुनीय' तथा वासुदेव का 'वासुदेवचरित' प्रसिद्ध है। कविवर वासुदेव ने भगवान् श्री कृष्ण की कथा को लेकर संस्कृत व्याकरण के धातुपाठ के अनुसार सभी धातुओं का तत्तत् लकारगत प्रयोग बताने के लिए इस अन्तिम काव्य की रचना की थी।

महान् कविवर भट्टि को कौन नहीं जानता? जिन्होंने अपने अद्‌भुत कार्य कलापों से संस्कृत भाषा को महिमा मण्डित कर उसे लोकप्रिय बनाया। महान कवि एवं नाटककार राजशेखर ने तो कवियों के तीन भेद (शास्त्रकवि, उभयकवि, काव्यकवि) बताते हुए उन्हें 'उभय कवि' के विरूद से सुशोभित किया। संस्कृत वाङ्मय के दूसरे कवियों एवं भट्टि में प्रमुख अन्तर यही है कि अन्य कवि या तो काव्य कवि है और या केवल पण्डित। उनके काव्यों में या तो केवल रस की सम्यक् अभिव्यञ्जना ही हो सकी है, या पुनः शास्त्रीय नियमों का शुष्क प्रतिपादन है। काव्य शक्ति के दिव्य आलोक में शास्त्रीय पथप्रदर्शन असम्भाव्य नहीं, तो एक दुरुह विषय अवश्य है। कवित्व तथा शास्त्रीयता के मणिकाञ्चन संयोग ने महाकवि भट्टि को संस्कृत के इतर कवियों की तुलना में चरमपद प्रदान किया।[2]

---

1. संस्कृत कविदर्शन – पृष्ठ – 115 – भोलाशंकर व्यास
2. राजशेखर कृत – काव्यमीमांसा पांचवा अध्याय

कविवर भट्टि ने शास्त्रीय प्रतिपादन की अपनी अनुपम छटा बिखेर कर एक अप्रतिम लावण्य का ताना–बाना उपस्थित कर दिया है। कुछ सहृदय विचारक काव्य में उपदेश तत्त्व या शास्त्रपक्ष के निराकरण में आस्था रखते हैं। तथा केवल रसाभिव्यक्ति को काव्य का मौलिक प्रतिपाद्य विषय मानते है किन्तु उनका यह विचार काव्य के सिद्धान्तों के प्रतिकूल होने के कारण कोई महत्त्व नहीं रखता, केवल रसाभिव्यक्ति को काव्य का प्रतिपाद्य विषय मान लेने पर राजशेखर कृत पूर्वोक्त कवि विषयक वर्गीकरण से विरोध हो जाता है। तब तो शास्त्रकवि और काव्यकवि की सत्ता ही समोन्मूलित हो जाएगी। प्रत्युत राजशेखर ने उभय कवि को उक्त वर्गीकरण में उत्तम स्थान प्रदान किया है। महाकवि भट्टि के कागजगत् में पदार्पण करते समय संस्कृत–साहित्य में प्राकृत भाषाओं का बोलबाला था। प्राकृत भाषाओं के विस्तार के कारण संकृतसाहित्य और व्याकरण दोनों को ठेस पहुँच रही थी। पाणिनि के सूत्रों को रट–रटकर पदों की रूपसिद्धि पर ध्यान देना पाणिनि के नियमों के अपवाद रूप या पूरक रूप वार्तिको तथा उनके पल्लवन पातञ्जलि महाभाष्य की कारिकाओं को याद कर उन पर शास्त्रार्थ करना हर एक के बस का काम नहीं था, पर संस्कृत साहित्य के महासागर में प्रविष्टार्थ व्याकरण–ज्ञान के बिना काम नहीं चल सकता था। भट्टि ने इस बात को खूब पहचाना था, ब्राह्मण होने के नाते भट्टि को संस्कृत व्याकरण एवं साहित्य की चिन्ता थी।[1]

भट्टिकाव्य में एक ओर भट्टिकवि की प्रतिभा का शत्–शत् भंगिमाओं में नूतन विलास है, दूसरी ओर उनके आलोक–सामान्य वैदुष्य भी।2

साहित्य काव्य का एक अङ्ग है। साहित्य में ही किसी भी देश की रीतियों, अवस्थाओं, तथा प्रसिद्ध प्रणालियों का चित्रण होता है। साहित्य समाज का दर्पण है। यह कथन यथार्थ रूप से सत्य है, क्योंकि साहित्य में समाज के रूप का अङ्कन होता है। सामाजिक रूढ़ियों का प्रतिपालन होता है। मानवीय भावनाओं एवं विशिष्ट सिद्धान्तों का समावेश होता है। समय के चक्रानुसार जैसे ही परिस्थितियाँ मोड़ लेती है, रूढ़ियाँ

---

1. संस्कृत कवि दर्शन – डा0 भोलाशंकर व्यास पृ0 – 36
2. शोधग्रन्थ – भट्टिकाव्य एक साहित्यिक अनुशीलन पृ0 – 137

करवट लेती हैं। रीति रिवाजों का परिवर्तन होता है। मानवीय मनोभावों में परिवर्तन होता है, उसी प्रकार साहित्य भी युगान्तर पाकर परिवर्तित होता है तथा उसकी रूढ़ियों एवं स्थितियों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो जाते हैं जिससे उसके स्वरूप का विकास होता है।

प्रायः यह देखा जाता है कि कोई भी महापुरूष कवि या विद्वान् जिन संस्कारों में प्रादुर्भूत होता है, जिस सांस्कृतिक परिवेश में पलता है, जिस सभ्यता में पोषित होता है, उस सम्प्रदाय, संस्कृति तथा परम्परा के प्रति वह अपनी कृतज्ञता स्वीकार करके भविष्य में यथाशक्ति उसका पोषण करता है, तथा उसकी विभूतियों में अपने मौलिक योगदान को समुज्जवलता प्रदान कर अपनी कृत्यकृत्यता की चरमकोटि पर देखने में कुछ उठा नहीं रखता।

वैयाकरण पाणिनि के पूर्व संस्कृत भाषा का पूर्ण विकास हो चुका था। प्राकृत भाषाओं के परिप्रेक्ष्य में आकर संस्कृत भाषा विकृत की दशा में मोड़ ले रही थी, किन्तु पाणिनि के लिए यह बात आवश्यक थी कि उन्होंने अष्टाध्यायी जैसे व्याकरण ग्रन्थ का प्रणयन कर डाला और संस्कृत भाषा को विकृति की ओर उन्मुख होने से रोका। वही अष्टाध्यायी बाद में संस्कृत भाषा की नियामक बनी, जिसकी परम्परा आज भी चलती आ रही है।

भट्टिकाव्य (रावणवध) उपर्युक्त गुणों से युक्त एक अलौकिक कृति है। डा० भोलाशंकर व्यास, एवं पं० बलदेव उपाध्याय इत्यादि विद्वान् भट्टिकाव्य के प्रणेता इन्हीं भट्टि को ही स्वीकार करते है। सरलता से व्याकरण सिखाने के लिए निर्मित भट्टिकाव्य के लेखक महाकवि भट्टि के पूरे जीवन का चरित बताना नितान्त दुष्कर कार्य है। इस प्रकार पूर्वोक्त विवरण के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भट्टिकाव्य के कर्त्ता भट्टि ही हैं। डा० वरदाचार्य ने भी इसी मत को स्वीकार किया है–[1]

'साहित्य समाज का दर्पण है' इस कथन की सर्वमान्य मौलिकता में मानव विज्ञान का शालीनतम संदेश निहित है। कवि या रचनाकार क्रान्तदर्शिता के मञ्जुल

---

1. 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' – डा० वरदाचार्य

विरूद् से विभूषित होकर वर्तमान के मस्तिष्क, अतीत एवं यथासाध्य अनागत का ललित समन्वय लेकर अपने शब्द रूपी प्रतिमानों को आगे बढ़ाता है। कविवर भट्टि भी इस सिद्धान्त की पूर्ण स्वीकृति लेकर उतरे। जब भट्टि ने काव्यजगत् में पदार्पण किया तो उनके सामने संस्कृत काव्य के तीन रूप प्रस्तुत थे– (1) कालिदास का रसमय काव्य (2) उपदेश प्रधान काव्य (3) अलङ्कृत काव्य।

भट्टि ने संस्कृत के अतीत का सूक्ष्म निरीक्षण किया, और काव्य रूप के उक्त त्रैविध्य में समन्वय की स्वीकृति लेकर मध्यम मार्ग को प्रशस्त करना समीचीन समझा। भट्टि के लिये यह करना उचित भी था।[1] यदि कविता कामिनी बौद्ध उपदेशों का हृदयावर्जक बना सकती थी तो उसकी कमनीयता व्याकरणोपदेश को प्रश्रय प्रदान करने में अपनी हास्यास्पद हार कैसे स्वीकार कर लेती। कहते हैं कि विश्वास ही फल का दाता है।[2] भट्टि की कविता–कामिनी की सहृदयता का पूर्ण परिचय प्राप्त हो चुका था। भूत ही भविष्य का पथ–निर्देश करता है। अतीत के गम्भीर एवं पौनः–पुण्य चिंतन ने भट्टि को प्रस्तुत विषय में पूर्ण विश्वस्त कर दिया था। प्रकृत रचना में, जैसा कि भट्टि ने स्वयं निर्देश किया है उनका मूल उद्देश्य व्याकरण के शुद्ध प्रयोगों का प्रदर्शन ही है। किन्तु उसका यह तात्पर्य नहीं कि भट्टि में कवित्त या दूसरे शब्दों में हृदयपक्ष की कमी है। देखिए –

प्रभातवाताहतिकम्पिताकृतिः कुमुद्वतीरेणुपिशङ्गविग्रहम्।
निरास भृङ्गं कुपितेव पद्मिनी, न मानिनी संसहतेऽन्यसङ्गम्।।[3]

"प्रातःकालीन पवन से कम्पायमान शरीर वाली कमलिनी मानिनी नायिका की तरह मानों क्रोधित होकर कुमदिनी के पराग से पीले शरीर वाले भौंरे को हटाती है, क्योंकि स्वाभिमानिनी नायिका (स्त्री) दूसरी स्त्री के साथ अपने पति का संसर्ग सहन नहीं करती है।"

कविवर भट्टि ने कतिपय मौलिक सत्यों का प्रतिपादन किया है जो पाठक के हृदय एवं मस्तिष्क पर अपना अमिट प्रभाव डालते है तथा जिनके द्वारा कवि के व्यक्तित्व की दिव्य झांकी मिलती है।

---

1. अभिनव साहित्य चिन्तन – डा0 भगीरथ दीक्षित – पृ0 सं0 इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन
2. अश्वघोष कृत सौन्दरानन्द – भूमिका भाग।
3. भट्टिकाव्य 2/6

भट्टि की शैली :-

संस्कृत–साहित्य की मध्ययुगीन कृति होने के कारण प्रकृत प्रबन्ध में अलङ्कृत महाकाव्यों की परम्परा का निर्वाह हुआ। परिणामतः इस महाकाव्य में चित्रात्मक शैली का व्यापक प्रयोग आदर्शगत होता है। अलङ्कृत महाकाव्यों में सौन्दर्य की आदर्श उद्भावना होने के कारण यथार्थ चित्रण वास्तविक मूल्यांकन नहीं कर पाता। संस्कृत की कवि परम्परा सौन्दर्य का अतिशय उदात्त एवं चामत्कारिक रूप कल्पना की महिमामण्डित आदर्श उद्भावना में स्वीकार करती है। भट्टिकाव्य में वस्तुओं के वस्तुगत चित्रण के साथ उनमें आदर्शीकृत चित्रात्मकता का अभिनव योगदान प्रदर्शित किया गया है। कतिपय वर्णनात्मक स्थलों के सन्दर्भ में महाकवि भट्टि कुछ तटस्थ से दिखाई देते है। इसके दो प्रमुख कारण हैं – (1) व्याकरण विषयक सूत्रों को क्रमबद्ध उदाहरण प्रस्तुत करने का अप्रतिहत प्रयास (2) ऐतिहासिक कथानक को संक्षिप्त करने की तत्परता; किन्तु अधिकतर प्रसङ्गों में जहाँ महाकवि भट्टि की लेखनी कथाप्रवाह से विराम लेकर अन्य स्थलों या दिशाओं में प्रवृत्त होती है, वहाँ कवि की भव्य वर्णनाशक्ति एवं प्रकृष्ट काल्पनिक साहित्य का परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

ग्रन्थ में कविवर भट्टि ने कथानक के संक्षिप्तीकरण के प्रयास में नगरवर्णन के प्रति अपनी उदासीन बुद्धि का परिचय दिया है। उन्होंने केवल तीन नगरों अयोध्या, जनकपुरी, तथा लङ्का का वर्णन किया है। प्रारम्भिक सर्ग के अयोध्या वर्णन में कवि ने आदर्श चित्रात्मक शैली का अनुसरण किया है। देखिए –

> निर्माणदक्षस्य समीहितेषु सीमेव पद्माऽऽसनकौशलस्य।
> ऊर्ध्वस्फुरद्रत्नगभस्तिभिर्या स्थिताऽवहस्येव पुरं मघोनः।।[1]

प्रस्तुत प्रबन्ध में कविवर भट्टि ने जगह–जगह समुद्र के विविध रूपों का चित्रण किया है। सीतान्वेषण के समय हनुमान् इत्यादि वानरगण समुद्रतट पर उपस्थित होकर मणियों तथा रत्नों के आधारभूत समुद्र का अवलोकन करते हैं। यहाँ समुद्र के रमणीय रूप का चित्रण कवि की मौलिक उद्भावना को व्यक्त करने में सहायक हुआ है,[2]

---

1. भट्टिकाव्य – 1 / 6
2. निकुञ्जे तस्य वर्तित्वा रम्ये प्रक्ष्वेदिताः परम्।
   मणिरत्नाऽधिशयितं प्रत्युदैक्षन्त तोयधिम्।। भट्टिकाव्य 7 / 103

भट्टि ने सागर वर्णन के चित्रण में अधिकतर अप्रस्तुत विधान का ही आश्रय लिया है तथा समुद्र की स्वाभाविक प्रकृति के अङ्कन में मौलिक उत्प्रेक्षाएं प्रस्तुत की हैं। निम्नश्लोकों को देखकर यह विदित होता है कि कवि ने प्रकृति के विभिन्न कार्यकलापों में मानवीकरण प्रक्रिया का आरोप व्यञ्जित किया है— दशम सर्ग के समुद्र वर्णन में सागर की मणिभयता व्यञ्जित है।

पृथुगुरूमणिशुक्तिगर्भभासा, ग्लपित रसातल संभृताऽन्धकारम्।
उपहत रविरश्मिवृत्ति मुच्चैः, प्रलघुपरिप्लवमानवज्रजालैः।। भट्टि — 10/53

"राम और लक्ष्मण के साथ वानरों की सेना बड़ी और अपरिच्छेद्य मोतियों से युक्त सीपियों के गर्भ की कान्ति से पाताल में बढ़े हुए अन्धकार को नष्ट करने वाले और ऊपर छोटे—छोटे तैरने वाले हीरों के समूह से सूर्य किरण को ताड़ित करने वाले समुद्र को महेन्द्र पर्वत के कुञ्ज से (अर्थात् उसे छोड़कर) चली गयी।"

इसके अलावा भट्टिकाव्य में पर्वतों का वर्णन भी कई स्थलों पर हुआ है यद्यपि यह उल्लेखनीय है कि सन्दर्भों में कवि रूढ़िवादी परम्परा का अन्धा—आराधक बनकर सर्वत्र अन्धाधुंध वर्णनात्मक चातुर्य ही प्रदर्शित नहीं करने लगता।[1] वह प्रधान इतिवृत्त के औचित्य के सम्बन्ध में भी पूर्णतया सावधान है। मलयपर्वत के विषय में मानों आकाश का परिमाण करने के लिए उन्नत हुआ सा मात्र कहकर कवि आगे बढ़ जाता है।[2] इसी प्रकार दो—तीन श्लोकों में कवि ऋष्यमूक का रोमांचकारी वर्णन करके कवि की लेखनी प्रधान इतिवृत्त के सन्दर्भ में प्रवृत्त हो जाती है, किन्तु अवसर—प्राप्त महेन्द्र तथा सुबेल आदि चित्रण में कवि की लेखनी विराम लेना आवश्यक समझती है—

स्थितमिव परिरक्षितुं समन्तादुदधिजलौध परिप्लवाद् धरित्रीम्।
गगनतलवसुन्धराऽन्तराले, जलनिधिवेगसहं प्रसार्य देहम्।। भट्टि0 10/45

कवि का प्रकृति के साथ जितना सामरस्य होता है, इतना किसी और श्रेणी के मानव का नहीं होता।[3]

---

1. अमर्षितमिव घ्नन्तं तटाऽद्रीन सलिलोर्मिमिः।
   श्रिया समग्रं द्युतितं मदेनेव प्रलोठितम्।। भट्टिकाव्य— 7/104
2. पूतं शीतैर्नभस्वद्भिर्ग्रन्थित्वेव स्थितं रूचः।
   गुम्फित्वेव निरस्यन्तं तरङ्गान् सर्वतो मुहुः।। भट्टिकाव्य— 7/105
3. स शत्रुलावौ मन्वानो राघवौ मलयं गिरिम्।
   जगाम सपरीवारो व्योममायमिवोत्थितम्।। भट्टि — 6/88

प्रकृति के साथ कवि का यह सामरस्य प्रकृति के विभिन्न रूपों की मार्मिक अभिव्यक्तियों में सहज ही प्रतिविम्बित होता रहता है। ऐसा ही चित्रण भट्टि की कविताओं में परिलक्षित होता है। द्वितीय सर्ग की सौन्दर्यमयी प्रकृति षष्ठ सर्ग में विरही राम के लिए पीड़ा हो जाती दिखाई गयी है। इस प्रकार कवि ने प्रकृति के प्रिय एवं अप्रिय दोनों पक्षों के प्रति रूचि प्रदर्शित की है।

"परिभावीणि तराणां पश्य मन्थीनि चेतसाम्।
उद्भासीनि जलेजानि दुन्वन्त्यदयिंतं जनम्।।" भट्टिकाव्य – 6/75

"राम लक्ष्मण से कह रहे है कि हे लक्ष्मण! ताराओं को तिरस्कृत करने वाले, वियोगियों के चित्त को मन्थन करने वाले तथा विकसित हुए कमल, प्रियाविरहित व्यक्ति को पीड़ित करते हैं।

कविवर भट्टि का कहना है कि प्रकृति मानव की सहचरी होती है। उसका मानव के साथ सहानुभूति का तादात्म्य रहता है। हतोत्साहित मानव में आशा का सञ्चार करती है। महेन्द्र ने अपनी कतिपय विशेषताओं में सीता की कान्ति का प्रतिफलन प्रस्तुत करके राम को भविष्यम्भावी प्रियमिलन का सङ्केत प्रस्तुत किया ऐसे आदर्श चित्रण के अवसर पर अपनी भावमयी भावनात्मक उड़ान में कवि पाठक को प्रस्तुत विषय से अपह्रत कर कल्पना के साम्राज्य में पहुँचा देता है। जिससे पाठक पुनः प्रस्तुत की ओर लौटना ही नहीं चाहता। एक समासोक्ति की महनीयता देखें–

"महेन्द्र पर्वत कामार्त की तरह रत्नमेखला रूप गृहों से युक्त विस्तीर्ण उत्कृष्ट शोभा से सम्पन्न तथा जिसमें वस्त्र सदृश मेघ हट गये हैं, ऐसे आकाश के रमणीय नितम्ब प्रदेश को अपने हस्तरूप शिष्यों द्वारा स्पर्श सा कर रहा था। रमणीयता की इस विराट् उद्भावना में प्राकृतिक क्रियाकलापों में मानवीय अनुभावों का आरोप व्यञ्जित है।

इन सभी वर्णनों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उक्तचित्रण अलङ्कृत महाकाव्यों की सामान्य विशेषता है जिनका यथावसर सन्निवेश किया गया है। भट्टिकाव्य का द्वितीय सर्ग 'शरद्ऋतु' के वर्णन से प्रारम्भ होता है। शरद्काल का यह मनोहर वर्णन महाकाव्य की घटनाओं की पृष्ठभूमि का कार्य करता है। शरद्ऋतु एवं गोप–गोपिकाओं के सुन्दर वर्णन के साथ ही दुष्टराक्षसों का वध इत्यादि प्रसङ्ग आगे

आने वाली घटनाओं के लिए मङ्गलमय मार्ग प्रशस्त करते हैं। महाकवि भट्टि जैसा कि इनके बारें में पहले ही कहा जा चुका है कि आदर्श कल्पनाओं के कवि हैं। अतएव उक्त प्रसङ्ग में भी वे विशेषतः आदर्श के ही सन्दर्भ रहे हैं। अयोध्यापुरी से निकलकर राम रमणीय शरद्ऋतु का दर्शन करते हैं–

तरङ्गसङ्गाच्चपलैः पलाशैर्ज्वालाश्रियं साऽतिशयां दधन्ति।
सधूमदीप्ताऽग्निरूचीनि रेजुस्ताम्रोतापलान्याकुलषट्पदानि।।[1]

"पानी की तरङ्गों के लगने (के कारण) चंचल पत्तों से अत्यधिक प्रज्जवलित अग्नि की ज्वालाओं की समानता को धारण करने वाले एवं घूमते हुए भ्रमरों से युक्त होने के कारण धूमयुक्त जलती हुई अग्नि की तरह कान्ति वाले (लगते हुए) रक्तकमल सुशोभित हुए"।

महाकवि भट्टि ने प्रकृति के जड़ रूप का ही चित्रण नहीं किया, बल्कि वे उसमें चेतन रूप की कल्पना कर उसको सजीव रूप में लाकर उसका वर्णन करते हैं।

"विरही राम को गुञ्जन करते हुए भ्रमर गायकों के समान प्रतीत होते हैं और हिलती हुई शाखाओं वाले वृक्ष नर्तकों की तरह। यही नहीं, राम पशु–पक्षियों के शावकों से सीता का पता भी पूछते हुए दिखाये गये हैं।"[2]

कवि भट्टि के प्रकृति चित्रणों से उनकी सूक्ष्मपर्यवेक्षण शक्ति और उर्वर कल्पनाओं का पता चलता है।[3] द्वितीय तथा एकादश सर्ग का प्रकृति चित्रण हृदय को लुभाने वाला है। साथ ही इस वर्णन से कवि की कमनीय कल्पना का चरमोत्कर्ष देखने को मिलता है।

महाकवि भट्टि के महाकाव्य में अप्रस्तुतविधान के नियोजन में अलङ्कारों का अप्रतिम योगदान रहा। भट्टि ने पृथक् रूप में भी बहुप्रयुक्त शब्दालङ्कारों और अर्थालङ्कारों

---

1. भट्टिकाव्य – 2/2
2. वाताऽऽहतिचलच्छाखा नर्तका इव शाखिनः।
   दुःसहा हा! परिक्षिप्ताः क्वणद्भिरलिगाथकैः।। भट्टि – 6/85
3. स्वपोषमपुषद्युष्मान्या, पक्षिमृगशावकाः।
   अद्युतच्चेन्दुना सार्धं तां प्रब्रूत गतायतः।। भट्टि – 6/26

के भेदोपभेदों के उदाहरण प्रस्तुत किये। दशम सर्ग का यमकमय वर्णन आलङ्कारिक दृष्टि से जितना महत्त्व रखता है, कवित्व की दृष्टि से उतना नहीं। आयासपूर्वक अलङ्कारों की योजना करके कवि ने इन वर्णनों में कृत्रिमता का समावेश कर दिया है। कुछ वर्णनों में स्वाभाविकता का भी पुट विद्यमान है।.

महाकवि भट्टि ने अपने इस ग्रन्थ का निर्माण कर उस महाकाव्य परम्परा का शुभारम्भ कर दिया जिसमें काव्यों द्वारा रामायण के कठिन नियमों का प्रदर्शन करना ही कवियों का लक्ष्य रहा है। अधिकांशतः अलङ्कार ग्रन्थों में दृष्टान्त रूप में प्रयुक्त एकावली अलङ्कार का प्रसिद्ध उदाहरण भी द्वितीय सर्ग का एक श्लोक है।

न तज्जलं यन्न सुचारूपङ्कजं न पङ्कजं तत् यदलीनषट्पदम्।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्नजहार यन्मनः।। भट्टि0–2/19

"शरत्काल में ऐसा कोई जल नहीं था, जहाँ सुन्दर कमल न सुशोभित हो रहे हों, ऐसा कोई कमल नहीं था, जिसमें भौंरे न छिपे हुए हो, ऐसा कोई भौंरा न था, जो मधुर गुञ्जन नहीं कर रहा था, और ऐसी कोई गुञ्जन भी न थी, जो मन नहीं हरती थी"। ऐसा ही एक उदाहरण निश्चयान्त सन्देह का देखिए –

गिरेर्नितम्बे मरूता विभिनं तोयाऽवशेषेण हिमाभमभ्रम्।
सरिन्मुखाऽम्युच्चयमादधानं शैलाऽधिपस्याऽनुचकार लयगीतः।। भट्टि0–2/8

'पर्वत के मध्यभाग में हवा के कारण विभिन्न रूप में वह जाने से जो जल थोड़ा रह गयाहै वह बर्फ की तरह सफेद और नदीप्रवाह को बढ़ाने वाला बादल हिमालय की बराबरी का अनुकरण किया।

इसके अतिरिक्त भट्टि के काव्य में सुन्दर उत्प्रेक्षाओं का भी अभाव नहीं है। कवि अपनी नवीन कल्पना के द्वारा सुन्दर–सुन्दर उत्प्रेक्षाओं में जान डाल देता है– ऐसा ही एक उदाहरण देखिए–

दुरूत्तरे पङ्क इवान्धकारे भग्नं जगत् सन्ततरश्मिरज्जुः।
प्रनष्टमूर्तिप्रविभागमुद्यन् प्रतयुज्जहारेव ततो विवस्वान्।। भट्टि0–11/20

इस प्रकार प्रकृति चित्रण के साथ–साथ भट्टि ने वस्तुओं के आदर्श एवं यथार्थ रूपों को भी उपस्थित किया है। यथार्थ के रूपाङ्कन में भी कवि की स्वाभावोक्ति उत्तम

कोटि की बन पड़ी है। सांतवे सर्ग का शरदवर्णन यथार्थ एवं स्वाभाविक रूप से बन पड़ा है।

अथोपशरदेऽपश्यत् क्रौञ्चानां चेष्टनैः कुलैः।
उत्कण्ठावर्धनैः शुभ्रं रवणैरम्वरं ततम्।। भट्टिकाव्य–7/14

वर्षा के बाद राम शरदऋतु के समीप, चेष्टाशील, उत्कण्ठावर्धक शब्दायमान क्रौञ्च पक्षियों के समूहों से व्याप्त स्वच्छ आकाश को देखा।

कविवर भट्टि के काव्यों में यत्र–तत्र उक्तिवैचित्र्य भी देखने को मिलता है। वैसे भी भट्टि बकृत्वकला में बहुत निपुण थे।[1]

रामोऽपि दाराऽऽहरणेन तप्तो, वयं हतैर्बन्धुभिरात्मतुल्यैः।
तप्तस्य तप्तेन यथा यसो नः सन्धि परेणास्तु, विमुञ्च सीताम्।।[2]

"राम अपनी प्रिया का अपहरण हो जाने के कारण तप्त है। राक्षस लोग भी हनुमान द्वारा मारे गये। अक्षकुमार आदि अपने बान्धवों के शोक से तप्त हैं। फिर सन्तप्त राम के साथ सन्तप्त रावण की सन्धि क्यों न हो जाये? तपे हुए होने पर तो जड़ लोहे के टुकडे भी आपस में जुड़ जाते हैं, फिर चेतन मानव ह्रदयों की तो बात ही क्या? कवि का यह उक्तिवैचित्र्य पाठक एवं लोकमानस के मस्तिष्क को सीधा प्रभावित करता है। महाकविवर भट्टि ने दशम सर्ग में जो यमक के 20 प्रभेद उपभेद बताये उसका तो शास्त्रीय दृष्टि से वेहद महत्त्व है। निम्नलिखित पद्य में भट्टि ने सर्वयमक का चामत्कारिक वर्णन कितने अलौकिक ढंग से किया है–

"बभौ मरूत्वान् विकृतः समुद्रो, बभौ मरूत्वान् विकृतः समुद्रः।
बभौ मरूत्वान् विकृतः समुद्रो, बभौ मरूत्वान् विकृतः समुद्रः।"[3]

इस प्रकार के वैचित्र्य प्रधान अलङ्कारों के सम्बन्ध में डा० कीथ ने कहा है – कि "अलङ्कारों को उदाहृत करने का कार्य कवि की इस रचना में आनन्द का आस्वाद लेने वाले टीकाकारों के अतिरिक्त सबके लिए आयासप्रद है।"[4]

---

1. भट्टिकाव्य – 10/69
2. भट्टिकाव्य – 12/40
3. भट्टिकाव्य – 10/19
4. डा० कीथ – संस्कृत साहित्य का इतिहास' हिन्दी संस्करण पृ० – 145

त्रयोदश सर्ग का एक ऐसा उदाहरण भट्टि ने सङ्केत रूप में दिया है जिसको संस्कृत और प्राकृत में समान रूप से पढ़ा जा सकता है–

चञ्चलतरूहरिणगणं बहुकुसमाबन्धबद्धरामावासम्।
हरिपल्लवतरूजालं तुगेंरूसमिद्धतरूवरहिमच्छायम्।। भट्टिकाव्य–13/6

"समुद्र चञ्चल वानरों से युक्त अनेक पुष्पों के एक दूसरे से गुथ जाने के कारण निर्मित रामचन्द्र जी के निवास स्थान से अन्वित्, पिग्लवर्ण किसलय वाले वृक्ष समूह से सम्बद्ध उन्नत वृक्षों से शीतल छाया वाले जल तीर को प्राप्त हुआ।"

वैयाकरण होते हुए भी भट्टि व्याकरण आदि शास्त्रों से सम्बन्धित उपमाएं अधिक नहीं देते। क्योंकि भट्टि भाषा के आचार्य है, तथा व्याकरण के महान् पण्डित हैं। यद्यपि उन्होंने अपने प्रबन्ध के सभी सर्गों में यथा प्रथम, द्वितीय, दशम, एकादश, द्वादश तथा त्रयोदश सर्ग में प्रसङ्गानुकूल शब्दावली का प्रयोग किया। साथ ही स्वाभाविक पुट देकर विविध अलङ्कारों का भी प्रयोग किया। लेकिन दशम सर्ग के वर्णन को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होंने अलङ्कार निरूपण की दृष्टि से इस सर्ग का प्रणयन किया है, जैसा कि मल्लिनाथ ने स्वयं कहा है–[1]

कविवर भट्टि ने शब्दालङ्कारों में अनुप्रास, यमक तथा भाषासम को स्वीकार किया है। शब्द श्लेष को प्रस्तुत प्रबन्ध में अवसर नहीं मिला है। यह अलग बात है कि इसके उदाहरण स्वाभाविक रूप से कहीं उपलब्ध हो जाय, किन्तु कवि को यह अभीष्ट नहीं है। दशम सर्ग का प्रथम श्लोक वृत्यानुप्रास का उदाहरण है,[2] द्वितीय श्लोक युक्पादयमक अलङ्कार का उदाहरण है एवं तृतीय श्लोक पादान्त यमक का उदाहरण है–

"रणपण्डितोऽग्रयविवुधाऽरिपुरे,
कलहं स राममहितः कृतवान्।
ज्वलदग्नि रावणगृहं च बलात्
कलहंसराममहितः कृतवान्।।"[3]

---

1. "शब्दलक्षण प्रधानेऽप्यस्मिन् काव्ये।
2. अथ स वल्कदुकूलकुथाऽऽदिभिः, परिगतो ज्वलदुद्धनबालधिः।
उदपतद् दिवमाकुललोचनैर्नृरिपुभिः सभयैरभिवीक्षितः।। भट्टि– 10/1
3. भट्टिकाव्य – 10/2

"युद्धकुशल, रामचन्द्र जी से सत्कृत रावण के शत्रु और विशिष्ट कार्य की अपेक्षा करने वाले हनुमान जी ने रावण की नगरी लंका में बलपूर्वक संग्राम किया तथा कदम्ब हंसों की क्रीड़ा के साधन रावण के भवन में अग्नि लगा दी।"

हम यह कह सकते है कि भट्टि की शैली में प्रवाह का अभाव है। अधिकतर स्थलों में काव्योचित सरस शैली के दर्शन नहीं होते। कविवर भट्टि को लम्बे–लम्बे समस्त पदों का प्रयोग करने का मोह नहीं है। अनुष्टुप जैसे छोटे छन्द का बहुलता से प्रयोग होने के कारण भट्टि की काव्य शैली सरल और सुबोध तो हो गयी है, लेकिन ऐसे स्थलों पर न तो काव्य के भावपक्ष को हम विकसित रूप में पाते हैं, और न अभिव्यक्त पक्ष को। भट्टि के काव्य में उनकी शैली की जो नवीनता तथा सरसता दृष्टिगोचर होती है वह उनकी काव्य प्रतिभा की ओर सङ्केत करती है। उसमें जो नीरसता तथा प्रवाहावरोधकता दृष्टिगोचर होती है उसमें हम निःसंकोच कवि के उपयोगितावादी दृष्टिकोण को ही एकमात्र कारण मान सकते हैं।[1]

यद्यपि कविवर का लक्ष्य व्याकरण शिक्षण है और उन्होंने उसकी क्रमिक शिक्षा अपने महाकाव्य (रावणवध में) यथा स्थिति सन्निविष्ट भी किया है, उनमें हृदयपक्ष की न्यूनता नहीं है। भट्टि में ही वह समर्थ विद्यमान था जिसने व्याकरण जैसे विषय को स्वीकार करते हुए एक प्रबन्ध काव्य की रचना कर डाला और व्याकरण के नवीन प्रयोगों के द्वारा सम्यक् बोधन की परिपाटी अपनाई गयी।[2] यद्यपि आलोचकों ने उस पर कृत्रिमता, आडम्बर, जटिलता और नीरसता के अनेक आरोप लगाये हैं, परन्तु ये आरोप वस्तुस्थिति से दूर है। भट्टिकाव्य के अध्ययन से यह विदित होता है कि भट्टिकाव्य कहीं व्याकरण के दुरूह प्रयोंगो से शुष्क हो गया है तो दूसरे स्थान पर वह अत्यन्त सरसता से भी परिपूर्ण कर दिया गया है। यदि कहीं लङ् और लिट् के प्रयोग भाषा में नीरसता लाते हुए देखे जाते है तो भाषा–सम के प्रयोग सरस कविता का रसास्वाद कराते हैं। यदि कहीं व्याकरण की जटिलता से मन ऊबता है तो अन्यत्र अलङ्कारों की सुन्दर झङ्कार से पाठक आह्लादित हो उठता हैं। वे नरसिंहवतार के तुल्य खर और कोमल दोनों है।

---

1. संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास – राधावल्लभ त्रिपाठी
2. संस्कृत साहित्य का इतिहास – कपिलदेव द्विवेदी

भट्टिकाव्य व्याकरण शास्त्र–काव्य है–

संस्कृत के कतिपय मूर्धन्य आचार्यों ने 'भट्टिकाव्य' अथवा 'रावणवध' को 'शास्त्रकाव्य' की संज्ञा से विभूषित कियाहै। 'व्यङ्ग्यकार क्षेमेन्द्र' ने अपने सुवृत्ततिलक ग्रन्थ में साफ–साफ शब्दों में भट्टिकाव्य को 'शास्त्रकाव्य' की संज्ञा दी है।[1] प्रसिद्ध टीकाकर मल्लिनाथ ने तो इसे 'उदाहरणकाव्य' की संज्ञा प्रदान की है। सामान्यतः ऐसा प्रतीत होता है कि भट्टि का सम्मान व्याकरण के तत्त्वज्ञ के रूप में भी किया जाता है। कविवर भट्टि के व्याकरणात्मक प्रयोगों में जहाँ पर प्रकटतः पाणिनीय नियमों का उल्लङ्घन होता है वहाँ भट्टोजिदीक्षित 'कथं तर्हिभट्टि' कहकर उनका प्रतिपादन किया है।

"सोऽध्यैष्ट वेदांस्त्रिदशानयष्ट, पितृनपारी त्सममंस्त बन्धून्।
व्यजेष्ट षड्वर्गमरंस्त नीतौ, समूलघातं न्यवधीदरींश्च।।" भट्टिकाव्य 1/2

"वे दशरथ वेदों का पाठ, देवताओं का यजन, पितरों का तर्पण तथा बान्धवों का आदर करते थे। उन्होंने काम क्रोधादि षड्रिपुओं को जीत लिया था, वे नीति में दिलचस्पी लेते थे और उन्होंने शत्रुओं को जड़ से हटा दिया था। (मार डाला था)"

इस पद्य में भट्टि ने अध्यैष्ट, अयष्ट, अताप्र्सीत्, सममंस्त, व्यजेष्ट, अरंस्त, न्यवधीत् सभी क्रिया रूपों में सामान्य भूते लुङ्ग का प्रयोग किया है। साथ ही पहली तथा सातवीं क्रिया के अतिरिक्त बाकी पाँच प्रयोग आत्मनेपद के हैं। सभी प्रयोग प्रथम पुरूष एकवचन के हैं। यही नहीं √तृप् धातु के लुङ्ग रूप में सिच् के कारण अताप्र्सीत् रूप बनता है। इसी तरह √मन् तथा √रम् धातु के लुङ्ग में धातु तथा तिङ् प्रत्यय के बीच में 'इ' का प्रयोग न होने से 'व्' तथा 'म्' दोनो ध्वनियाँ अनुस्वार बन जाती हैं।

सिद्धान्त–कौमुदी तथा मनोरमा में भट्टिकाव्य के अनेक अंश इस प्रकार उद्धृत किये गये हैं। इस ढंग के संदर्भो में कुछ निम्नांकित हैं–

क= 'तृप प्रीणने–प्रीणनं तृप्तिस्तर्पणा च'।
नाग्नि स्तृप्यति काष्ठानाम् पितृनताप्सीदिति
भट्टिः। इत्युमयत्र दर्शनात्।

सिद्धान्तकौमुदी – पृ0 236

---

1. सुवृत्ततिलक – 3/4

उक्त स्थल के अतिरिक्त भट्टिकाव्य के और भी अनेक अंश सिद्धान्त कौमुदी तथा मनोरमा में विद्यमान हैं जिनका भट्टि ने यथावसर समाधान प्रस्तुत किया है। टीकाकारों की भट्टिकाव्य के प्रयोगों के प्रति इस प्रकार की प्रतिष्ठा भट्टि के महान् सम्मान की परिचायका है। शास्त्रीय दृष्टि से भट्टिकाव्य को चार भागों में बांटा गया है।

(1) प्रकीर्णकाण्ड (2) अधिकारकाण्ड

(3) प्रसन्नकाण्ड, (4) तिङ्न्तकाण्ड

1. प्रकीर्णकाण्ड :– इस काण्ड का विस्तार प्रथम सर्ग से लेकर पञ्चम सर्ग तक है।[1] इसमें पाणिनीय सूत्रों के उदाहरण प्रकीर्ण रूप में उद्धृत है तथा इस प्रक्रिया में पाणिनि–विहित तथा स्वकृत किसी भी प्रकार की योजना का निर्वाह नहीं किया गया है। भट्टि के प्रयत्न का स्वरूप तथा उनकी योजना का उपक्रम भट्टिकाव्य से प्रस्तुत कतिपय उदाहरणों द्वारा अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। प्रकीर्ण काण्ड में उन्होंने विविध सर्ग के प्रयोगों को अनियमित ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।[2]

प्रथम सर्ग के 22वें श्लोक तक कृत् तथा तद्धित प्रत्ययान्त शब्दों के साथ–साथ लुङ्लकार की विविध क्रियाओं के प्रयोग प्रदर्शित किये गये हैं।[3] प्रकीर्णकाण्ड के पद्यों में भट्टि की कविता निश्चित व्याकरण–नियम योजना लेकर नहीं आती, किन्तु वहाँ भी भट्टि में कई ऐसे प्रयोग देखे जा सकते हैं, जो किन्हीं कठिन रूपों का प्रकृति–प्रत्यय का सङ्केत करते है।

"प्रयास्यतः पुण्यवनाय जिष्णो रामस्य रोचिष्णुमुखस्य धृष्णुः।" भट्टि० – 1/25

इस पद्यार्थ में 'जिष्णोः' (जिष्णु का षष्ठी एक वचन) रोचिष्णु, धृष्णुः रूप क्रमशः √जि, √रूच्, √धृष् धातुओं के स्नु, इष्णुच् तथा क्नु प्रत्यय से बने है। इन तीनों का प्रयोग प्रायः ताच्छील्य–अर्थ में होता है।

---

1. भट्टिकाव्य – 5/32 पर मल्लिनाथ की टीका
2. भट्टिकाव्य – 16/5 पर मल्लिनाथ की टीका
3. अभून्नृपो विबुधसखः परंतपः, श्रुतान्वितो दशरथदूत्युदाहृतः।
   गणैर्वरं भुवनहितच्छलेन यं सनातनः पितरमुपागमत् स्वयम्:।। भट्टिकाव्य 1/1

भट्टि ने द्वितीय सर्ग में भी ऐसे कई उदाहरण प्रस्तुत किये जो व्याकरण की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं।

"लताऽनुपातं कुसुमान्यगृह्णात् स नद्यवस्कन्दमुपास्पृशच्च।
कुतूहलाच्चारुशिलोपवेशं काकुत्स्थ ईषत्स्मयमान आस्त।।"[1]

इस पद्य के लतानुपातं, नद्यवस्कन्दं, तथा शिलोपवेशं के प्रयोग भट्टि ने खासतौर पर किये हैं। ये प्रयोग भी व्याकरण के नियमों के प्रदर्शन की प्रवृत्ति के परिचायक हैं। इनके द्वारा भट्टि इस बात का सङ्केत करना चाहते है कि विश्, पद् (पत्), स्कन्द् आदि धातुओं के वीप्सार्थ में णमुल् प्रत्यय होता है।

इतना ही नहीं भट्टि ने चतुर्थ सर्ग के श्लोक उन्नीस,[2] बीस, इक्कीस[3], तेइस में खच् और खश् प्रत्यय के योग प्रदर्शित किये गये हैं। पंचम सर्ग के प्रथम श्लोकों में इष्णच प्रत्यय के पॉच प्रयोग एक साथ रखे गये हैं– ट, और आम् प्रत्ययों के प्रयोग भी इसी सर्ग में मिलते है।

निराकरिष्णू वर्तिष्णू वर्धिष्णू परितो रणम्।
उत्पतिष्णू सहिष्णू च चरेतुः खरदूषणौ।। भट्टिकाव्य 5/1

2. अधिकारकाण्ड :– अधिकारकाण्ड, पञ्चमसर्ग के 104 श्लोक से आरम्भ होता है, तथा इसका विस्तार ग्रन्थ के नवम सर्ग तक प्रपञ्चित है। व्याकरण के नियमों का अधिक स्पष्टता के साथ प्रतिपादन होने के कारण यह काण्ड अधिकार काण्ड के नाम से अभिहित किया गया है। यद्यपि आधार रूप से पाणिनि–विहित एक श्रेणी का आश्रय लिया गया है, फिर भी बीच–बीच में प्रकीर्णक उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये हैं। पांचवे सर्ग के 104 श्लोक से छठे सर्ग के चतुर्थ श्लोक तक आमधिकार का विस्तार है। इस सन्दर्भ में अष्टाध्यायी के क्रम से आमधिकार के सूत्रों के निदर्शन प्रस्तुत है। उदाहरणार्थ, पंचमसर्ग के 104, 105 श्लोकों में 'कास्प्रत्ययादाममन्त्रेलिटि' 3/1/35 सूत्र

---

1. भट्टिकाव्य – 2/11
2. प्राव्य चञ्चूर्यमाणाऽरसौ पतीयन्ती रघूत्तमम्।
   अनुका प्रार्थयाञ्चक्रे प्रियाकर्तुं प्रियंवदा।। भट्टि0 4/19
3. तामुवाच स गौष्ठीने वने स्त्रीपुंसभीषणे।
   ससूर्यम्पश्यरूपा त्वं किमभीरुररार्यसे।। भट्टि0 /21

के उदाहरण उपस्थित किये गये हैं। श्लोक संख्या 106 में 'इजादेशश्च गुरूमतोऽनृच्छः', 3/1/26 तथा दयायासश्च, 3/1/37 सूत्रों के निदर्शन प्रस्तुत हैं। छठे सर्ग के प्रथम श्लोक में 'उपविदजागृम्योऽन्यतरस्याम्' 3/1/38 सूत्र का विलास है तो द्वितीय श्लोक में 'उषविद——' के साथ–साथ 'भीह्री भृहुवांश्लुवच्च' 3/1/39 सूत्र का विभव प्रदर्शित किया गया है। 'कुंचानुप्रयुज्यते लिटि', 3/1/40 सूत्र के तो अनेक उदाहरण इस प्रसङ्ग में उपलब्ध होते हैं। छठे सर्ग के चतुर्थ श्लोक में विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम् 3/1/41 का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। उसके अनन्तर छठे सर्ग के 5 से 7 श्लोक तक प्रकीर्णक उदाहरण प्रस्तुत है। 137 से 146 तक अनुपपदाधिकार है। सप्तम सर्ग में 1 से 27 श्लोक तक ताच्छीलिकादि प्रत्ययाऽधिकार। अष्टम् सर्ग में 1 से 69 श्लोक तक आत्मनेपद प्रक्रिया को सविस्तर प्रस्तुत किया गया है। 70 से 84 तक कारकाधिकार के अन्तर्गत अपादान, सम्प्रदान, कर्म, करण, अधिकरण, कारक तथा षष्ठी के प्रयोगों का प्रकाशन हुआ है। नवम् सर्ग में 1 से 7 श्लोक तक फुटकल प्रयोग हैं। और इसी प्रकार सर्ग के अन्त तक प्रकीर्णक के प्रयोग है।

3. प्रसन्नकाण्ड :— भट्टिकाव्य का दशम सर्ग से लेकर त्रयोदश सर्ग तक का अंश प्रसन्नकाण्ड कहलाता है। यह काण्ड व्याकारण की दृष्टि से नहीं लिखा गया है। प्रस्तुत इस अंश में साहित्यशास्त्र के कतिपय प्रमुख अङ्गों का विलास प्रस्तुत किया गया है। इसमें दशम सर्ग में अलङ्कार, एकादश में माधुर्यगुण, द्वादश में भाविक, तथा त्रयोदश में 'भाषासम' के प्रयोग प्रदर्शित किये गये है।

4. तिङन्तकाण्ड :— इस काण्ड का विस्तार चतुर्दश सर्ग से 22वें सर्ग तक है। इस काण्ड में वेद में प्रयुक्त लेट्लकार को छोड़कर शेष 9 लकारों के प्रयोग प्रस्तुत किये गये हैं। चौदहवें सर्ग में लिट् विलास है। पञ्चदश में लुङ्, सप्तदश में लङ्, अष्टादश में लट्, उन्नीसवें में लिङ्, तथा 22वें सर्ग के 24वें श्लोक तक लृट् लकार के प्रयोग प्रकाशित किये गये हैं और इसके अनन्तर प्रकीर्णक उदाहरण प्रस्तुत हैं।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि व्याकरण विषयक–प्रयोगों को उपस्थित करने में उनका उद्देश्य पाणिनि के व्याकरण–सम्मत प्रयोग प्रस्तुत करना ही था, किन्तु भट्टिकाव्य में कुछ ऐसे भी प्रयोग उपलब्ध होते हैं, जिनकी व्युत्पत्ति पाणिनीय व्याकरण

से नहीं सम्पन्न की जा सकती। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे प्रयोग हैं, जिन्हें अधिकांश लोग तो प्रमाद मान लेते हैं, तथा कुछ अन्य विद्वान इतस्ततः खींच तान कर उन्हें पाणिनीय बनाने का प्रयास करते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भट्टिकाव्य में कविवर भट्टि ने वर्तमान ऐसे प्रयोगों को भी प्रस्तुत किया है, जो पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से संगत न होते हुए भी उनकी समसामयिक भाषा में प्रयोगक्षम थे।

पाणिनि के व्याकरण–सम्मत प्रयोागें को प्रस्तुत करने का लक्ष्य सामने रखकर भी भट्टि का यह लक्ष्य कदापि नहीं था कि अष्टाध्यायी के क्रम को स्वीकार करके सिलसिलेवार प्रत्येक नियम का निदर्शन उपस्थित किया जाय। सम्भवतः महाकाव्य की कथावस्तु की मर्यादा को ध्यान में रखते हुए भट्टि ने प्रकीर्ण काण्ड में स्वतंत्रता पूर्वक सुविधानुसार विविध प्रयोगों को प्रस्तुत किया।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कविवर भट्टिकाव्य की उस परम्परा के अनुयायी हैं जिसमें कवित्व और पाण्डित्य सामानान्तर रूप से चलते हैं। भट्टि की बहुज्ञता का परिचय उनके ग्रन्थ के अध्ययनोपरान्त ही विदित हो जाता है। कवित्व और पाण्डित्य का विलक्षण समन्वय उनके काव्य में चार चाँद लगा देता है। भट्टि ने स्वंय कहा है–

> व्याख्या–गम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामलम्।
> हतादुर्मेधसश्चाऽस्मिन् विद्वत्प्रियतया मया।।[1]

अर्थात् मेरी यह रचना व्याकरण के ज्ञान से ही पाठकों के लिए नहीं है। बल्कि मेरा यह काव्य मेधावी विद्वान् के मनोविनोद के लिए तथा सुबोध छात्रों को प्रायोगिक पद्धति से व्याकरण के दुरूह नियमों से अवगत कराने के लिए रचा गया है।

भट्टि वस्तुतः एक पण्डित हैं। सम्पूर्ण काव्य पर उनका पाण्डित्य छाया हुआ है। यद्यपि कवि भट्टि, कालिदास की भांति रसवादी नहीं हैं, न ही अश्वघोष की तरह दार्शनिक अथवा धर्मोपदेशक। वे पूर्णतया व्याकरण दुरूह काव्य की कसोटी पर खरे

---

1. भट्टिकाव्य – 22/34

उतरने वाले कोई मर्मज्ञ विद्वान हैं। वस्तुतः भट्टि के सम्मुख व्याकरण के एक जैसे रूपों की योजना करने का लक्ष्य न होता तो उनकी भाषा अधिक काव्यात्मक होती। साथ ही साथ शब्द विन्यास में भी अधिक प्रौढ़ता आ सकती थी।

'भट्टि' की कविता पर समालोचकों ने आडम्बर तथा कृत्रिमता का दोषारोपण किया है, क्योंकि उन्होंने एक साथ अपने काव्य में व्याकरण के नियमों तथा काव्य की नूतन मौलिकताओं का समावेश किया। किन्तु आलोचकों का यह कहना कि भट्टिकाव्य में काव्यगत गुणों का सर्वथा अभाव है, उचित नहीं प्रतीत होता, उनके वस्तु वर्णन में व्यञ्जना के प्रभाव वाली छटा, संवादों की रोचकता, और प्राकृतिक दृश्यों का मनोरम चित्रण उनकी काव्यात्मकता का मूल्यांकन करने के लिए यथेष्ट रूप से इस काव्य में सन्निविष्ट है। ऐसे ही दृश्यों से संवलित द्वादश सर्ग में विभीषण अपने नीतिपूर्ण वचनों से युक्त रावण को शिक्षा देता है तथा सीता को लौटा देने के लिए रावण से निवेदन करता है, किन्तु रावण उसके प्रस्ताव को ठुकरा देता है।

रामोऽपि दाराहरणेन तप्तो, वयं हतैर्बन्धुभिरात्मतुल्यैः।
तप्तस्य तप्तेन यथायसो नः, संधिः परेणास्तु विमुञ्जसीताम्।। भट्टि0–12/40

इस प्रकार विभीषण का उक्त उपदेश आज के समय् अर्थात् (वर्तमान में) विश्व राजनीति से कितना मेल खाता है।

ऐसे काव्योचित भाव भट्टिकाव्य में विद्यमान होते हुए भी यह कहना कहाँ तक सम्भव है? कि भट्टि में हृदय पक्ष ही नहीं है। उनके काव्य में प्रबन्धात्मक प्रौढ़ता की अवश्य कमी है, किन्तु उनकी प्रसाद गुणोपेत भाषा उनके उत्कृष्ट कवि कर्म की पहचान है।

तात्पर्य यह है कि कहीं–कहीं जो कृत्रिमता और आडम्बर दीख पड़ता है, उसका कारण विषय की गम्भीरता ही है।

इतना ही नहीं त्रयोदेश सर्ग का एक ऐसा उदाहरण देखिए जो संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में समान है–

चल–किसलय–सविलासं चारूमही–कमल–रेणु–पिञ्जर–वसुधम्।
सुकुसुम–केसर–बाणं लवङ्ग–तरू–तरूण–वल्लरी–वर–हासम्।। भट्टि0 13/39

"चञ्चल पल्लवों से विलास वाले, सुन्दर स्थल कमलों के परागों से पीली पृथ्वी से युक्त, फूलों से संयुक्त, केसर और झिण्टी वृक्षों से सम्पन्न लवङ्ग वृक्ष के नवीन मञ्जरी रूप उत्तम हास्य से युक्त सुवेल पर्वत पर रामचन्द्रजी की सेना चढ़ गयी।" कवि ने दशमसर्ग में यमक के बीस रूपों का प्रयोग कर अपनी अलङ्कार निपुणता का परिचय दिया है— युग्पाद, पादान्त, पादादि, पदमध्य, चक्रवाल, समुद्ग, काञ्ची, यमकावली, अयुक्तपाद, पादाद्यन्त, मिथुन, वृन्त, पुष्प, आदिमध्य, द्विपथ, मध्यान्त, गर्भ, सर्वयमक, महायमक, आद्यन्त यमक। एक पद्य का चमत्कार देखिए—

न गजा नगजा दयिता, दयिता विगत विगतं ललितं ललितम्। (यमकावली)
प्रमदा प्रमदाऽऽमहता महता मरणं मरणं समयात् समयात्।। भट्टि० 10/9

"पर्वत में उत्पन्न अभीष्ट हाथी रक्षित नहीं हुए। पक्षियों की गति नष्ट हो गयी। प्रमदा रोग से या पालापन से पीड़ित के समान हर्ष से रहित हो गयी एवम् समय के कारण शूरों का बिना युद्ध का मरण उपस्थित हो गया।

दशमसर्ग का यमकमय वर्णन इतना शास्त्रीय है कि वहाँ काव्यत्व लुप्त हो गया है। अर्थालङ्कारों में परिगणित रूपक के पांच रूपों परम्परित, कमलक, खण्ड, अर्द्ध तथा ललाम रूपक का प्रयोग कवि ने किया है—

अक्षारिषुः शराम्भांसि तस्मिन् रक्षः पयोधराः।
न चाऽकृवालीन्न चाव्राजीत् त्रासं कपि महीधरः।। भट्टि० – 9/8

उक्त श्लोक में रावण पर मेघों का बाण पर जलों का तथा वानर पर पर्वत का आरोप होने से रूपक अलङ्कार हैं।

इसी प्रकार उपमा अलङ्कार के प्रचलित सामान्य रूपों के अतिरिक्त अप्रचलित रूपों सहोपमा, तद्वितोपमा, समोपमा इत्यादि का कवि ने काव्य में प्रयोग किया है—

"अवसन्नरूचिं वनाऽऽगतं तमनाऽऽमृष्टरंजोविधूसरम्।
समपश्यदपेत मैथिलीं दधतं गौरवमात्रमात्मवत्।। भट्टि०— 10/34

इस प्रकार दशम सर्ग में सौन्दर्य अलङ्कार की प्रवृत्ति का पालन परिपूर्ण रूप से किया गया है।

महाकवि भट्टि का शब्द ज्ञान प्रशंसनीय है। अवसरानुकूल शब्द प्रयोग में वे दक्ष है। अयोध्याधिपति दशरथ के कार्य व गुण के अनुरूप कहीं उन्हें 'नृप' कहीं क्षितीन्द्र, कहीं राजा सम्बोधित किया गया है। इसी प्रकार भट्टि ने नायक राम के लिए वीरता हेतु 'रघुव्याघ्र', 'रघुसिंह', कुलेचित आचरण हेतु 'राघव' काकुत्स्थ आदि विशेषणों का अवसरोचित प्रयोग किया है। वीररस प्रधान भट्टिकाव्य में ओजगुण का प्रसङ्ग स्वाभाविक रूप से होना अनिवार्य है। इसके स्थल द्वादश तथा त्रयोदश सर्ग में प्रतिविम्बित होते हैं। लङ्कायुद्ध के प्रसङ्ग में अशोक वाटिका भङ्ग के समय में प्रायः 'ओज गुण' के ही दर्शन होते है।

त्वयाऽद्य. लङ्काऽभिभवेऽतिहर्षाद् दुष्टोऽतिमात्र विवृतोऽन्त रात्मा।

धिक् त्वां मृषा ते मपि दुःस्थवुद्धिर्वदन्निदं तस्य ददौ स पार्थिम्।।भट्टि0–12/80

लेकिन भट्टिकाव्य प्रसादगुण गुम्फितकाव्य है। यही कारण है कि भट्टि ने इस शैली को अपनाकर व्याकरणशास्त्र की शिक्षा देने में पर्याप्त ख्याति अर्जित की है। रामजन्म, सीता–परिणय, रामप्रवास; विभीषण शरणागति नामक सर्गों में प्रसाद गुण की ही प्रधानता है।

महाकवि भट्टि ने प्रायः वैदर्भीरीत का ही आश्रय ग्रहण किया है। इसके अतिरिक्त गौड़ी, पाञ्चाली, लाटी का भी प्रयोग किया है। भट्टिकाव्य के द्वितीय सर्ग का शरद्वर्णन वाला प्रसङ्ग 'न तज्जलं' पूर्णतया वैदर्भी–रीति से ओत–प्रोत है। यहाँ सर्वत्र वैदर्भी का ही विलास ध्वनित होता है। समासबहुला गौड़ी रीति का स्थल भट्टिकाव्य में महर्षि विश्वामित्र के आश्रमवर्णन, दशमसर्ग तथा त्रयोदश सर्ग में दृष्टिगत होता है– यथा–

घोरजलदन्तिसंकुलभट्टमहापङ्ककाहलजलावासम्।

आरीणं लवणजलं समिद्धफलवाणविद्धघोरफणिवरम्।। भट्टिकाव्य– 13/4

"राम के आग्नेयबाण छोड़ने पर भयंकर जलहस्तियों से व्याप्त सूखे महापङ्क में विह्वल मत्स्य आदि जलजन्तुओं से युक्त प्रदीप्त फल (अग्रभाग) वाले बाणों से ताडित और भयंकर श्रेष्ठ सर्गों से युक्त समुद्र का जल सूख गया।

इसी प्रकार भट्टि ने शरद्वर्णन की शोभा के वर्णन के समय पाञ्चाली रीति के भी कुछ स्थल प्रदर्शित किये। नवम सर्ग में तो पूरी तरह कवि ने रावण के क्रोधावेशी चित्रण में इसी शैली का प्रयोग किया।

"वनानि तोयानि च नेत्रकल्पैः पुष्पैः सरोजैश्च निलीनभृङ्गैः।
परस्परां विस्मयवन्ति लक्ष्मीमालोकयाञ्चक्रुरिवादरेण।।"

"भट्टि ने 'नवम तथा द्वादश' सर्ग में लाटी रीति का भी प्रयोग किया। 'विश्वनाथ' के शब्दों में 'लाटी रीति' ऐसी रीति है जो वैदर्भी और पाञ्चाली रीतियों विशिष्टताओं से मण्डित होती है।"[2] अतः कविवर भट्टि ने चारों रीतियों का सम्यक् प्रयोग कर अपनी पैनी प्रतिभा का परिचय दिया।

इस क्षेत्र में कालिदास से लेकर भट्टि तक की प्रमुख प्रवृत्तियों का परिचय 'डा० भोलाशंकर व्यास' के शब्दों में इस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं– "कालिदास रसवादी कवि है तो भारवि कलावादी कवि, अश्वघोष दार्शनिक उपदेशवादी कवि है तो भट्टि व्याकरणशास्त्रोपदेशी कवि। उनका यह व्याकरण निष्ठ अन्तर ही उनके कविहृदय को स्वतन्त्र गति से आगे नहीं बढ़ने देता है। यही कारण है कि उनकी शैली में सहज प्रवाह का अभाव है।[3]

इस प्रकार इस ग्रन्थ के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकाव्य का रसास्वादन वही कर सकता है जो वैयाकरण भी हो और आलङ्कारिक भी। इस प्रकार भट्टि के सङ्केत से ही स्पष्ट है कि उसकी रचना का मुख्य उद्देश्य व्याकरण के नियमों की जानकारी देना है। व्याकरण के नियम उनकी भाषा में एक विशेष रूप में निबद्ध किये गये हैं। भट्टि ने पाणिनीय सूत्रों के उस क्रम को छोड़ दियाहै। जो वैदिक सन्धि के विषय में निर्देश करते है। भट्टिकाव्य में कई स्थानों पर दीर्घ समासों का प्रयोग किया गया है। पर सर्वत्र ऐसा नहीं है। तेरहवें सर्ग में तो प्रायः सभी श्लोकों की दोनों पंक्तियों में विभक्तियों का लोप करके एक–एक शब्द बना दिया गया है। इसमें अधिकतर बहुव्रीह समास का प्रयोग किया गया है– यथा–

लंकालय तुमुलारव सुभरग भीरो रूकुंजकन्दर विवरम्।
वीणारवरस संगमसुरगण संकुल महातमाच्छायम्।। भट्टिकाव्य–13/32

उर्पयुक्त सभी तथ्यों पर ध्यान देने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि– भट्टि का भट्टिकाव्य काव्यशास्त्रों की अपेक्षा व्याकरण प्रेमियों के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है। यदि कहा जाय कि काव्य की सुकोमल प्रकृत को व्याकरण के निर्मम हाँथो से इस काव्य में ऐसा मसल दिया गया है कि वह महाकाव्य की जगह व्याकरण ग्रन्थ ही बन गया है, अनुचित न होगा।[1]

डा० भोलाशंकर व्यास ने तो कहा है कि– " भट्टि के हृदय की रसिकता को पाण्डित्यपूर्ण व्यक्तित्त्व ने कुचल दिया है। भावपक्ष की दुर्बलता का मूलकारण कवि का व्याकरणपरक अध्ययन है।"

कविवर भट्टि पर अपने पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। संस्कृत काव्यकारों के लिए यह अनुकरण जरूरी भी था। कविवर भट्टि पर अपने पूर्ववर्ती महाकवि कालिदास, प्रवरसेन, अश्वघोष, भारवि इत्यादि कवियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। यह चमत्कार प्रियता केवल एक दूसरे से बढ़ जाने की थी। कविवर भट्टि की शैली कालिदास के लघुत्रयी में परिगणित कुमारसम्भव महाकाव्य से प्रभावित दिखलाई पड़ती है। कुमारसम्भव महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में अत्यन्त क्रूर एवं नृशंस तारकासुर के कार्यो का वर्णन है। भट्टिकाव्य में चित्रित रावण से साम्य रखती हुई प्रतीत होती है।

इसके अलावा रघुवंश की भी चमत्कार प्रियता का प्रभाव भट्टिकाव्य में पूर्णतया परिलक्षित होता है– भावसाम्य तथा उक्तिसाम्य का अद्भुत सामञ्जस्य भट्टिकाव्य में विद्यमान है– राजा दिलीप की प्रशंसा में कालिदास की भणिति है– कि निश्चय ही सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने दिलीप को महाभूतों की कारण सामग्री से निर्मित किया था तथापि उनके समस्त गुण परार्थ अर्थात् परोपकार के लिए है।

"तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना।
तथा हि सर्वे तस्यासन्परार्थैकफला गुणाः।।" रघु० – 1/29

ठीक ऐसा ही दृष्टान्त भट्टिकाव्य में चन्द्रोदय के वर्णन के प्रसङ्ग में भी अभिव्यक्त हुआ है– कि सभी महान प्राणी परोपकार के लिए ही होते है।

"भवति महान हि परार्थ एव सर्वः।" भट्टिकाव्य – 10/67

'मालविकाग्निमित्रम्' नाटक में भी नर्मसचिव विदूषक के प्रति विपिशापति अग्निमित्र की उक्ति है कि – सर्वसमर्थ होते हुए भी सविघ्न कार्य का सम्पादन कोई प्रभुत्व सम्पन्न व्यक्ति ही कर सकता है नेत्र सम्पन्न व्यक्ति भी अंधकार में स्थित वस्तु को दीपक की सहायता से बिना नहीं देख सकता है– विशेष अध्ययन हेतु देंखे – माल0 – 1/9

भट्टिकाव्य के अन्त में ग्रन्थकार ने प्रबन्ध की प्रशक्ति के सन्दर्भ में कुछ घुमाफिराकर लगभग इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया है–

"दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं" भट्टिकाव्य – 22/33

भट्टि पर भारवि की अलङ्कृत एवं पाण्डित्य पूर्ण शैली की पर्याप्त छाप पड़ी। भारवि का पाण्डित्य उनके कवित्व के साथ सन्निविष्ट है और वे कलावादी कवि हैं। जबकि भट्टि का पाण्डित्य उनके काव्य का उद्देश्य बनकर सामने आया है। जहाँ भारवि अलङ्कृत काव्यशैली के रचयिता है वहीं भट्टि काव्य के माध्यम से जिज्ञासुओं को व्याकरण ज्ञान कराने के इच्छुक वैयाकरण है। कहीं–कहीं दोनों कवियों में जो साम्यभाव परिलक्षित होता है– उसका वर्णन देते है– किरात के द्वितीय सर्ग में उपस्थित राजनीतिक वाद–विवाद पूर्ण रूप से भट्टिकाव्य के द्वादश सर्ग में स्थित विभीषण और माल्यवान के बीच हुए राजनैतिक संवादों से पूर्णतया मेल खाता हुआ प्रतीत होता है।

"विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः।
नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः।।" भारवि0 – 2/14
"शस्त्रम् तरूर्वीधरमम्बुपानं वृत्तिः फलैर्नो गजवाजिनार्यः।
राष्ट्रं न पश्चान्न जनोऽभिरक्ष्यः किं दुःस्थमाचक्ष्व भवेत् परेषाम्।।" भट्टि0–12/53

उक्त दृष्टान्तों को देखकर यह विदित होता है कि कविवर भट्टि पर जहाँ अपने पूर्ववर्ती कालिदास, भारवि की चमत्कारप्रियता का प्रभाव था वहीं भट्टिकाव्य ने परवर्ती काव्य माघकाव्य को भी प्रभावित किया। इतना ही नहीं वर्ण्यविषय, भाव तथा शैली में भी महाकवि माघ भट्टि से प्रभावित रहे। एक का आधार बाल्मीकि रामायण है तो दूसरा महाभारत जैसे उपाख्यान ग्रन्थ पर अवलम्बित है। एक में नृशंस दैत्यरावण का वध प्रदर्शित है तो दूसरे में महान् आततायी शिशुपाल का हनन वर्णित है–

यद्यपि उक्त दृष्टान्तों में विशेष कोटि का साम्य परिलक्षित नहीं होता, किन्तु दोनों प्रबन्ध काव्यों की वर्णनशैली की प्रकृति लगभग एक सी है।

उक्त दृष्टान्तों के अतिरिक्त भट्टिकाव्य तथा माघकाव्य में राम–रावण तथा कृष्ण शिशुपालवध की रणात्मक प्रवृत्तियों में समानता परिलक्षित होती है। इस प्रकार भट्टिकाव्य का माघ काव्य में जो अनुकरण परिलक्षित होता है उसको देखकर हम यह विश्वास पूर्वक कह सकते हैं कि– शिशुपालवध महाकाव्य को पुनर्जीवन देने में भट्टि की मौलिक प्रतिभा काही परिणाम है।[1]

प्रस्तुत प्रबन्ध की सृष्टि करके उन्होंने काव्य तथा शब्दशास्त्र दोनों का भलीभांति सम्यक निर्वाह किया जिसके लिए संस्कृत काव्य साहित्य सर्वदा उनका ऋणी रहेगा। शिशुपालवध जैसी भावपूर्ण सूक्ति "सदाभिमानैकधनाहिमानिनः" का अनुसरण भट्टिकृत "भवति महान हिपरार्थ एव सर्वः" इत्यादि सूक्ति के जैसा भाव दृष्टिगत होता है।

संस्कृत साहित्याकाश में महाकवि कुलगुरू कालिदास के बाद संस्कृत कविता का एक नवीन युग शुरू हुआ। जिसकी सरणि में आने वाले कवियों ने तरह–तरह की भावजन्य स्पृह शैली द्वारा अपने युग में परिवर्तन का दौर स्थापित किया। जिसके द्वारा इस विशाल संस्कृत साहित्य ने सहस्त्रों वर्षो तक लम्बी प्रतिष्ठा प्राप्त की। अनेक साम्राज्यों, राज्यों और सामंतो की छत्रछाया में उसने अपने वैभव के सुनहले दिन को बिताया। सम्भवतः किसी भी भाषा को इतनी लम्बी अवधि तक इतने विशाल भूखण्ड पर इतने सुन्दर दिन देखने को नहीं मिले हैं। प्रकृति की सहचरी हमारी देश की धरती ने सहस्त्रों वर्षो तक अपनी सम्पदाओं समृद्धियों सुविधाओं तथा प्रेरणाओं से इसका सम्वर्द्धन किया है– देश का ऐसा कोई अञ्चल नहीं बचा जहाँ इसने अपने वैभव–विलास की वैजयन्ती न बजायी हो। विदेशी विधर्मियों तक को इसकी शरण लेनी पड़ी है। ऐसी सर्वसाधारण सम्पन्न सहस्त्रों वर्षो की सुख समृद्धियों में पली एक उन्नत राष्ट्र की विजयिनी भाषा में केवल आठ दस उच्चकोटि के काव्यों की गणना आश्चर्य

---

1. 'भट्टिकाव्य एक साहित्यिक अनुशीलन'– शोध प्रबन्ध

की बात नहीं है। विपरीत परिस्थितियों और विपत्तियों के जिस क्रूर झंझावत से होकर संस्कृत साहित्य को गुजरना पड़ रहा है उसकी भी समानता कोई दूसरी भाषा नहीं कर सकती है। इस प्रकार भट्टि के पूर्व तक जिन महाकाव्यों की चर्चा की गयी, वे संस्कृत साहित्य के अनुपम रत्न है। सहस्त्रों वर्षों की लम्बी अवधि में उन ग्रन्थों की समानता करने की क्षमता किसी अन्य रचना में नहीं हुई। समय और विपत्तियों के थपेड़े में भी वे हिमवान् की भांति अविचल रहे। विरोधियों के विध्वंसक प्रभावों का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

समय चक्र की दिशा बदली और लोगों ने जनमानस के मस्तिष्क को दोलायमान करके रख दिया। एक दूसरे के प्रति प्रतिस्पर्धा का दौर शुरू हुआ जिससे अपने को कविगणों ने अन्य से आगे बढ़ जाने की अपेक्षा की। कुलगुरू कालिदास के बाद संस्कृतनिष्ठ काव्य का कलेवर ही नहीं, बल्कि उसकी अन्तःप्रकृति में भी मूलभूत परिवर्तन आया। यह परिवर्तन समय के दौर के साथ होना स्वाभाविक था। क्योंकि वह यथेष्ठ परिवर्तन जो आगे आने वाली पीढ़ियों को चमत्कृतिजन्य काव्य सौष्ठव से अवगत कराता, उसकी स्थापना का श्रेय अलङ्कृत शैली के जनक भारवि को मिला।[1] महाकवि भारवि ने अपनी अनुपम, श्रुतिमधुर रस प्रवर्तित लेखनी से उस नवप्रवर्तित युग का शुभारम्भ किया जिसकी उस युग के लोगों ने मांग की। यह नवीनता थी काव्य भाव को अपने करकमलों से सजाकर पण्डित जनों को आह्लादित करने की। इस युग में कालिदास की सारगर्भित सारस्वत प्रवाह जन्य ललित एवं प्रसन्न शब्दावली का पूर्णतया परित्याग कर चमत्कार जन्य वैदुष्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति ने अपना स्थान ले लिया। इन लोगों ने वाणभट्ट के समास भूयस्त्व एवं अलङ्कार बाहुल्य से ओत प्रोत शैली को अपनाने का साधन बनाया।

संस्कृत महाकाव्यों की इस रचना में यह परिवर्तन विचित्र शैली के आचार्य एवं जन्मदाता महाकवि भारवि से प्रारम्भ होकर दिनोदिन अक्षुण्ण रूप में से स्पन्दित होता रहा।

---

1. कुमारदास कृत जानकीहरण – अनु – ब्रजमोहन व्यास

माघ, भट्टि, भारवि, भवभूति हर्ष इत्यादि उल्लेखनीय कवियों की रचना पद्धति की एकात्मकता, आलङ्कारिक चमत्कार सृष्टि, पाण्डित्य दर्शन और वर्ण्यविषयों की विविधता अनेक रूपों में देखी जा सकती है। स्वयं कविवर कुमारदास भी इसी युग के युगदृष्टा एवं प्रतिनिधि कवि थे।

कविवर कुमारदास विचित्रशैली के जन्मदाता महाकवि भारवि और प्रकाण्ड मूर्धन्य विद्वान माघ के अन्तरालवर्ती युग के, सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। कालिदासीय वैदर्भी के प्रशंसक होने पर भी कुमारदास ने युगप्रकृति को सिर झुकाकर बड़े नम्र ढंग से स्वीकार किया और ऐसे सुष्ठपरिमार्जित काव्य का निर्माण किया जिसमें कवि के अनुराग को दोनों प्रवृत्तियों के जागरूक होने पर भी विचित्र मार्ग ने उन्हें अपना परम आराधक भक्त बनाया।[1]

'कविवर कुमारदास' ने रघुवंश को आदर्श मान कर ही अपने काव्य 'जानकीहरण' का प्रणयन किया, परन्तु ज्यों–ज्यों वे आगे बढ़ते गये आदर्श से दूर हटते चले गये। कविवर राजशेखर ने कहा भी है –

"जानकीहरणंकर्तुं रघुवंशे स्थिते सति।
कविः कुमारदासश्च रावणस्य यदि क्षमौ।।[1]

भावुक जनों के हृदय को रघुवंश के प्रतिस्पर्धी 'जानकीहरण' की रसचर्वणा के लिए लालायित कर रखा है। कुमारदास के विषय में कथित उक्त पद्य का भावार्थ है कि– रघुवंश (रामचन्द्र) के रहते यदि किसी की क्षमता जानकी को हरण करने की थी, तो रावण की ही। इसी प्रकार कालिदास के रघुवंश (काव्य) के रहते किसी को जानकीहरण रचने का यदि सामर्थ्य था तो कवि कुमारदास को।[2]

उक्त प्रशस्ति ध्वनि से कविवर कुमारदास को लंका के अधिपति रावण का स्वदेशी बतला रही है। उत्तरभारतीय जानकी को तथा तद्विषयक काव्य को लंकापति रावण ने तथा लंकावासी कुमारदास न हठात् अपहरण किया था।

---

1. 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' – आचार्य बलदेव का उपाध्याय
2. काव्यमीमांसा – चतुर्थ अध्याय

इस प्रकार कुमारदास का जानकीहरण 20 सर्गों में निबद्ध एक सुरूचिपूर्ण काव्य है। ऐसी जनश्रुति है।

एक ओर आदिकवि बाल्मीकि की कविदृष्टि और अद्‌भुत विस्मयकारी सर्जनात्मक प्रतिभा थीं, जिसने सम्पूर्ण युग का अवतार अपनी कृति में ही कर दिया था। दूसरी ओर कवि शिरोमणि कविता कामिनी के जनक कुलगुरू कालिदास की कलामयीदृष्टि थी जिसने स्वयं कविता को उदात्तता की रस मयी भावना से विलसित कर दिया, और अपने को चमत्कृत कवियों की श्रेणी में परिगणित कराया। इस सम्पूर्ण काव्य प्रतिभा के भार को सम्भालते हुए तथा अपने विशिष्ट स्वतंत्र उन्मुख व्यक्तित्त्व की सृष्टि कर पाना हर के लिए कठिन ही था, लेकिन आगे आने वाले कवियोंने अपने उत्साह को जाग्रत कर इनकी काव्यप्रतिभा को अपनाने में एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करने लगे। कविवर कुमारदास ने भी स्वयं इसी स्वरूप को प्राप्त किया।[1]

'जानकीहरण' की कविता निःसन्देह रघुवंश की अपेक्षा प्रयत्न सृष्ट और कृत्रिम है। किन्तु किरातार्जुनीय के समान ही अलङ्कारिता तथा पाण्डित्य भार के प्रति साग्रह होकर भी बहुशः नवीन सरस और आकर्षक है। फिर भी कुमारदास में ऐसे–स्थल पद–पद पर स्थित है, जहाँ कवि की मौलिक प्रतिभा है। साथ ही इसमें सहृदय के हृदयावर्जन की अद्‌भुत क्षमता भी है।

महाकवि भारवि के काव्यपक्षीय दृष्टिकोणों का सहज एवं स्वाभाविक रूप से अनुकरण करते हुए कुमारदास ने नगर, नायक, नायिका, उद्यानक्रीड़ा, जलक्रीड़ा, रतोत्सव, सूर्योदय, सूर्यास्त, चन्द्रोदय, ऋतुवर्णन, पर्वतवर्णन, दूतसंप्रेषण, सचिव मन्त्रणा, युद्ध आदि का परम्परानिष्ठ चमत्कृत वर्णन किया, कि्न्तु वे हमेशा इस बात से सावधान रहे कि उनके वर्ण्यविषय से सम्बन्धित प्रसङ्ग अनुचित रूप से लम्बे न हो जाय नहीं तो पाठक नीरसता का अनुभव करने लगेगा और वर्ण्यविषयों से सम्बद्ध प्रसङ्ग जो कि मधुर है उनको भी नीरसता से ग्रसित समझकर परित्याग कर देगा। इस अंश में कविवर

---

1. कालिदास की समीक्षा परम्परा – राधा वल्लभ त्रिपाठी – प्र0सं0 –

कुमारदास कालिदास का अनुकरण अधिक करते है, क्योंकि कालिदास ने वर्णन प्रपञ्च के लोभ में कथा के सूत्र को भी कभी विच्छिन्न नहीं होने दिया। उन्होंने वर्णनीय विषय का सूची सरीखा विवरण कभी नहीं प्रस्तुत किया, अपितु उनकी सन्तुलित काव्यदृष्टि ने कथा और वर्णन चरित्रांकन और कलात्मक परिष्कार के सुकुमार सन्तुलन को सर्वथा बनाये रखा। कुमारदास ने सर्वत्र यह बात ध्यान में रखी है कि वर्णन की विवरणात्मकता और अनेपक्षित विस्तार काव्य के कथावस्तु को ही न तोड़ दे।[1]

उनका व्यक्तित्व कथा के उपस्थापन एवं शब्द संहति के प्रयोग में उतना ही उभरा जितना वर्णनों में प्रयुक्त नवीन कल्पनाओं में, जबकि उत्तरवर्ती संस्कृत कवियों ने जीवन के अङ्कन, जीवनदर्शन के संप्रेषण और क़लात्मक सन्तुलन के प्रति अपने को अत्यन्त सावधान नहीं रखा। उदाहरणार्थ– व्यास और बाल्मीकि ने जिस व्यापक पृष्ठभूमि में और जैसी अकृत्रिम भङ्गिमा से अपनी रचनाओं में जीवन की सृष्टि कर दी, और एक नई जीवन दृष्टि भी प्रदान की संस्कृत के उत्तकालीन महाकवि से वैसी आस्था नहीं की जा सकती, किन्तु उत्तरकालीन कवियों ने वर्णनविधि में कुछ न कुछ नवीन कल्पना जोड़ने की सतत् चेष्टा की है। इस दृष्टि से कुमारदास के काव्य में निःसन्देह ऐसे वर्णन स्थल है जो उनके स्वतंत्र व्यक्तित्त्व को प्रस्तुत करते हैं। वर्णनों में उन्हें कदाचित् सर्वाधिक सफलता प्रकृति वर्णन में मिली। संस्कृत के कवियों ने अपने को अपने चारों ओर के प्राकृतिक परिवेश से गहराई से जोड़े रखा। इसलिए उसके लिए प्रकृति जड़ दृश्यावली मात्र नहीं है। वह तो सर्वथा चेतन और उसकी भावनाओं की सहभोक्ती एवं सहानुभवित्री है। इसका सुन्दरतम् उदाहरण जानकीहरण के षोडश सर्ग में चन्द्रोदय का वर्णन है–

"अरूणकरदृढावकृष्टरश्मि प्रशमितकन्धरभुग्नचारूघोणाः।
दिवसकरहया गिरीन्द्रभित्तेर्जघनपतद्रथनेमयो वतेरूः।। जानकी0– 16/2

"अरूण ने (अस्ताचल की ढलान पर) बड़ी दृढ़ता से रास खींची, इससे सूर्य के रथ के घोड़ों के कन्धे झुक गये और सुन्दर नथुने तिरछे हो गये, रथनेमि उनकी जाँघो से सट गयी। इस तरह वे अस्ताचल से उतर गये।"

वर्णन की चित्रात्मकता नवीन उत्प्रेक्षाओं और समासोक्तियों में अत्यन्त प्रभावशाली रूप में व्यह्वत हुई है। अनूठी कल्पानाओं ने प्रकृति के उपादानों में मानवीय कार्य व्यापारों के मार्मिक दर्शन कराये हैं।

"द्रुतमपसरतैति भानुरस्तं सरसिरूहेषु दलीगलाः पतन्ति।

भ्रमरकुलमिति ब्रुवन्निवालिः क्वणितकलं विचचार दीर्घिकायाम्।। जानकी0 16/6

कविवर कुमारदास को ऐसी ही सफलता ऋतुओं के वर्णन में भी मिली है। शरद् इत्यादि ऋतुओं के कवि ने अनोखे चित्र खींचे है। एकादश सर्ग का वर्षावर्णन उनके ऋतुवर्णनों का सुन्दर प्रतिनिधि है।

"भुवनतापनधर्म्मजयोतसवः समुदितः परिनृत्यत बर्हिर्णः।

इति जघान यथा समयस्तडित्कनकदण्डरातैर्धन दुन्दिभम्।। जानकी0–11/43

"आह्लाद से नाचते हुए मयूरो ने अवसर आने पर बादल रूपी नगाड़े को, बिजली रूपी सैकड़ों सोने के डंडों से पीटा। जैसे संसार में ग्रीष्म ऋतु की तपन पर विजय पाने का उत्सव मनाया जा रहा हो"।

इस प्रकार कोमल चतुरचितेरे सुकुमार भावों के प्रसङ्ग में, शब्दावली के वाक्य विन्यास में तथा ह्वदयगत भावों को समुच्छलित कर कुतूहल पैदा करने वाली कल्पना के निर्माण में वे कुमारदास आरम्भिक सर्गों में ज्यादा संलग्न दीखते हैं परन्तु युद्ध के चित्रण में अन्तिम सर्गों में चित्रबन्ध का नैसर्गिक दृश्य दिखाई पड़ता है। जो विदग्ध एवं कवि पण्डित चतुर–चितेरे लोगों के ह्वदय से हटकर प्रकाण्ड पण्डितों के मानस पटल को आप्यायित करती है। कविवर कुमारदास ने महाकवि भारवि के चित्रबन्ध का सम्यक् अनुकरण कर अपनी काव्य शैली का रूप प्रकट किया। एकाक्षर, द्वयक्षर, विलोम, सर्वतोभद्र, मुरजबन्ध, गोमूत्रिकाबन्ध इत्यादि नाना प्रकार के यमकों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन करके काव्य शैली को प्रंशनीय बनाया। साथ ही इस अलङ्कार के प्रति अपनी रूचि भी प्रदर्शित की। लेकिन उनका सर्वप्रिय अलङ्कार अनुप्रास है जिस पर एकछत्र उनका राज्य है।

शब्दालङ्कार में परिगणित अनुप्रास का साङ्गोपाङ्ग विवेचन कविवर कालिदास के अनुकरण पर ही किया। रघुवंश में सर्वत्र प्रायः सभी सर्गों में अनुप्रास का चमत्कारिक प्रयोग किया है।[1] जहाँ कालिदास परिष्कृत एवं परिमार्जित कला शैली के कवि है वहीं कुमारदास भी इनकी परिष्कृत शैली का अनुकरण करते हुए प्रतीत होते हैं। कुमारदास की अनुप्रास पर रूचि उनका स्वाभाविक गुण प्रतीत होता है इसके अलावा अनुप्रास जैसे अलङ्कार पर वह स्वयं हावी होते हुए दिखाई देते है। ऐसे ही कुछ प्रसङ्ग अनुप्रास से सम्बन्धित देखिए –

"निनदता नदताड़ितमेखलं विगलताऽगलतावृतसानुना।
असुभुजा सुभुजाऽसुरसंहतिः प्रविदिता विदिता दिशि भूभृता।।[2]

"ध्वनि करते हुए नद जिसके ढलवान पर टक्कर मार रहे थे, जिसके श्रृङ्गों के ऊपर की समतल भूमि वृक्षों और लताओं से भरी थी और जिनसे पानी निरन्तर बह रहा था ऐसे पर्वत के सामने उन असुरों के समूह जो अपनी सुन्दर भुजाओं के लिए दिशाओं में प्रख्यात था।" इसी प्रकार कविवर कुमारदास ने सेतुनिर्माण के प्रसङ्ग पर भी अत्यधिक चमत्कृत वर्णन करके अपना स्वाभाविक रूझान अनुप्रास के प्रति प्रदर्शित किया –

प्रथिमणि प्रथिते कृतकौतुकैरूदधिमापनदण्ड उपाहितः।
इति चकारमनो ननुवंशजश्चिरविचारपरम्परमादृतः।।[3]

"कुतूहल से प्रेरित होकर वानरों ने इस विख्यात और मणियों से भरे समुद्र पर उसके नापने का दण्ड रख दिया है, ऐसा मनु के वंशज एवं आदृत राम ने (सेतु के सम्बन्ध में) विचार किया"।

ऐसी ही एक चारूता की उक्ति पन्द्रहवें सर्ग में रावण की गर्वोक्ति के समय मिलती है। जिसमें अनुप्रास ने चारूता की चरमसीमा को प्राप्त कर लिया है–

"विनोपभोगं भवने भवन्तु सीतादयो में वशगस्य देव्याः।
अनन्तकोशस्य नृपस्य रत्नं शिखान्तमारोहति किञ्चिदेव।। जानकी0– 15/59

रावण अपने मंत्री मान्यवान से कह रहा है– कि मैं तो देवी मन्दोदरी के वश में हूँ। सीता ऐसी कितनी (नगण्य) स्त्रियाँ हमारे महल में पड़ी हैं। जिसके पास स्वयं रत्नों का अनन्त कोश है वह किसी खास ही रत्न को सिर पर चढ़ाता है।

इन चित्र–विचित्र प्रसङ्गों में अनुप्रास के प्रति कवि का हाव भाव ज्यादा चमत्कृत एवं आह्लादमय प्रतीत होता है। साथ ही कविवर कुमारदास के प्रौढ़ पाण्डित्य और काव्याभ्यास का चिर अनुभव प्रकट होता है। इस अनुप्रास के प्रयोग में कृत्रिमता को न जन्म देने से शैली उत्कृष्ट कोटि की हो गयी है। शैली में अनुप्रासालङ्कार के प्रयोग जो स्वाभाविक एवं हृदयावर्जक है विशेष चारूता प्रदर्शित करते हैं।

कविवर कुमारदास ने पग–पग पर रघुवंश से प्रभावित होकर ही अनुप्रास का प्रयोग किय। जहाँ कुमारदास अनुप्रास प्रयोग में रूचिर पद विन्यास के साथ उपस्थित होते हैं वहीं कालिदास भी उचित पद्यों के साथ उपस्थित होते हैं।

इसलिए कालिदास की कविता अत्यधिक और आवश्यक अलङ्कारों के भार से अतिक्रान्त कामिनी की भाँति मन्द मन्थर गति से चलने वाली नहीं है अपितु 'स्फुटचन्द्रत्तारकाविभावरी' की भाँति अपने सहज सौन्दर्य से सहृदयों के चित्त को आकृष्ट करने वाली है उनके अनुप्रास उनके काव्य धारा में सर्वत्र अनायास ही आ गये है। एक उदाहरण देखिए–

"तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया।
मार्गं मनुष्येष्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्।।" रघुवंश – 2/2

इसके अतिरिक्त 'मायूरी मदयति सार्जना मनासि' तथा 'निर्ममेनिर्ममोऽर्थेषु' आदि वाक्यों में भी अनुप्रास का चमत्कृत वर्णन निर्दिष्ट है। ये सभी अनुप्रास कालिदास की काव्यधारा में सहज ही आ गये हैं। ये वर्णन आह्लादपूर्ण एवं सरसोचित है।

यमक अलङ्कार के प्रसंङ्ग में जहाँ कालिदास ने रघुवंश के नवम और अष्टादश सर्ग को अलङ्कारों के विकटबन्धों से लाद दिया है। वहीं कुमारदास ने 25 प्रकार के यमकों के प्रयोग से 'जानकीहरण' काव्य का अठाहरवाँ सर्ग चमत्कृत कर दिया है। इस

प्रकार कुमारदास ने यमकों के माध्यम से जो शब्द चित्र खींचा है उससे रसानुभूति में बाधा तो आ गयी है साथ ही हर स्थान पर रसभङ्ग का भय बना ही रहता है। ऐसे ही कुछ दृश्य देखिए–

"न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणं मधु।
तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत्।।" रघुवंश – 9/7

"उदय के लिए प्रयत्नशील उस राजा दशरथ को, शिकार का अनुराग, जुआ का व्यसन, चन्द्रमा की परछाई पड़ी हुई मदिरा और नवयौवना स्त्रियाँ कोई भी अपनी ओर आकृष्ट न कर सकी।"

इसके अलावा कालिदास की कृत्रिम शैली में आबद्ध एक यमक का उदाहरण देखिए–

तेन द्विपानामिव पुण्डरीको राज्ञामजय्योऽजनि पुण्डरीकः।
शान्ते पितर्याहृत पुण्डरीका यं पुण्डरीकाक्षमिव श्रिताश्रीः।। रघुवंश – 18/8

"नभ को पुण्डरीक नाम का पुत्र हुआ, जैसे हाथियों में पुण्डरीक नाम का हाथी सर्वश्रेष्ठ है, वैसे ही उस समय के राजाओं में वे ही सर्वश्रेष्ठ राजा थे। पिता के स्वर्ग चले जाने पर पुण्डरीक (कमल) धारिणी लक्ष्मी ने उस पुण्डरीक को ही विष्णु मानकर वर लिया।"

यहाँ पर एक 'पुण्डरीक' शब्द का चार बार प्रयोग कियागया है। पहले 'पुण्डरीक' शब्द का अर्थ है 'दिग्गज विशेष', दूसरे पुण्डरीक का अर्थ– संज्ञा वाला राजकुमार, तीसरे का 'श्वेतकमल' तथा चतुर्थ पुण्डरीकाक्ष का अर्थ विष्णु है। वस्तुतः ये दुरूह श्लोक कालिदास के काव्य का सच्चा प्रतिनिधित्व नहीं करते क्योंकि इस प्रकार की आडम्बर पूर्ण दुरूह अलङ्कार योजना रस व्यञ्जना में बाधक होती है।

इससे ही प्रभावित कुमारदास का यमक प्रयोग बेहद सुष्ठु एवं परिमार्जित है। अपनी उत्कृष्ट वर्णनशक्ति और सन्तुलित दृष्टि के कारण कुमारदास निःसन्देह एक श्रेष्ठ कोटि के कवि होते यदि उन्होंने इन चित्रबन्धों को मोह न किया होता।[1] एक उदाहरण देखिए–

---

2. संस्कृत काव्यकार – हरिदत्त शास्त्री, पृष्ठ – 115

पादयमक का उदाहरण –

"दधानौ नृपती खिन्ने शतधा मनसी तया।

दृष्टौ विवशयाऽनार्तिशतधाम न सीतया।।

"शोक से विवश सीता ने, दोनों राजपुत्रों को जिनके मन में हजारों व्यथाएँ थीं, देखा पर यह न देख सकी कि उनको पीड़ा पहुंचाना असम्भव है जिससे उनका तेज हजार गुना बढ़ गया है।[1]

यमकावलि का उदाहरण देखिए–

"महता महता समरे समरे विभया विभया सहिता सहिता।

विशदा विशदा शुभया शुभया जनता जनता न हिता नहिता।।"

"महान् वीरों के संग्राम में अविनष्ट, (वीरोचित) कान्ति के कारण भयरहित, सहायक मित्रों से युक्त, दुर्गुणों से रहित अतएव निर्मल किन्तु शीघ्रभय से आक्रान्त रावण की सेना ने अज (राम) के लिए नम्र विभीषण आदि के प्रति पूर्ण रूप से हितकारिणी होकर (राम की सेना में) प्रवेश किया।"[2]

सन्दष्टक का उदाहरण देखें – रावण युद्ध भूमि में अपनी वीरता का निदर्शन कैसे करता है–

चक्रे रणं वानर–कान्तकारी, चक्रे रणन्वा–नर–कान्त–कारी।

चक्रे रणं वा–नरका–न्तकारी, चक्रे रणन्वानर–कान्त–कारी।।

सेना में गरजते हुए (चक्रे–रणन्) रावण ने जो वानरों तथा अन्य जीवों की प्रसन्नता का अन्त करने वाला था (वानर–क–अन्तकारी) युद्ध किया (रणं चक्रें)। उसी प्रकार राम ने भी जिन्होंने नरकासुर का अंत किया था (नरक–अन्त–कारी) और जो वानरों को प्रसन्न कर रहे थे (वानर–कान्तकारी) शत्रुओं की सेना को क्षुब्ध करने वाला जयघोष कर (रणं–चक्र–ईरणं–चक्रे) युद्ध किया।[3]

---

1. जानकीहरण – 18/9
2. जानकीहरण – 18/71
3. जानकीहरण – 18/68

उक्त दोनों कवियों के यमक प्रसङ्गों को देखकर विदित होता है कि कालिदास ने जहाँ छोटे–छोटे यमकों की रचना से रघुवंश के नवम् और अष्टादश सर्ग को व्याप्त किया वहीं कुमारदास ने भी विधिवत् अनुकरण कर छोटे–छोटे एवं लालित्य पूर्ण शब्दों से यमकों का निदर्शन किया। कनिष्ठ यमकों को कालिदास ने नहीं अपनाया लेकिन कुमारदास ने अपनाया है क्योंकि रस की दृष्टि से यमक का प्रयोग उन्होंने अधम माना है। कालिदास में प्रसाद गुण और नैषध में पदलालित्य इतना अधिक है कि दंगली यमकों के लिए उनके काव्य में कोई स्थान नहीं है।

कविवर कुमारदास इस बौद्धिक कलावाजी और बाजीगरी से एक बार वह विस्मय विस्फारित प्रशंसा दृष्टि के अधिकारी तो हो सकते हैं किन्तु यहाँ वे हमें आन्दोलित कर सहज श्रद्धावनति को कहाँ प्राप्त कर पाते है? उनकी रससिद्ध एवं कल्पना प्रवणता स्वयं विजडित हो जाती है । अपने वर्णन प्रखर, कल्पना प्रवण और रससिद्ध तथा रूढ़िग्रस्त अलङ्कार विजडित पाण्डित्यजन्य दोनों ही रूपों में उपस्थित होकर कुमारदास एक ओर कालिदास के अनुवर्तन में श्रद्धा के अधिकारी बनते है तो दूसरी ओर प्रौढ़ भारवि से भी एक कदम आगे रखकर हमें विस्मित करते हैं। इसके अलावा सुकुमार कविमार्ग से हटने के लिए दोषी भी बनते हैं। वे निश्चय ही कालिदास की कोटि में नहीं आ सकते, किन्तु उत्तरवर्ती भारवि, माघ, श्रीहर्ष जैसे महान कवियों के साथ उनकी 'गणना' अपरिहार्य रहेगी।[1]

यद्यपि कविवर ने ऐसा कोई चित्रित प्रसङ्ग नहीं वर्णित किया, और न इसमें कथानक की दृष्टि से ही कोई नवीनता का सञ्चार किया है, लेकिन मौलिकता अधिक न होते हुए भी इनकी वर्णनशैली वर्ण्यविषय पर हावी प्रतीत होती है, भले ही उन्होंने कालिदास का अनुधावन किया लेकिन कालिदास जैसी सारस्वत प्रवाह माधुर्य और ललित शब्दों से युक्त वाणी का प्रयोग नहीं कर पाये। कालिदास का काव्य लास्य–विलास की जीवन धारा में प्रवाहित था। काव्यतत्त्व संविधान की दृष्टि से उनके काव्यों में अनेक प्रकरण ऐसे हैं जो चोटी के हैं निःसन्देह कला प्रयोग के हस्तलाधव में कालिदास अद्वितीय है।

---

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास – महेश चन्द्र प्रसाद

यद्यपि कुमारदास ने कालिदास की शुद्ध वैदर्भी रीति का सम्यक् रूप से अनुधावन कर अपने काव्य का पोषण किया है लेकिन हू–ब–हू कालिदासीय प्रतिभा का अपने काव्य में वर्णन नहीं कर सके।[1] कुमारदास ने कविताकामिनी को प्रसाद और माधुर्य गुणों से सुसज्जित कर पाठकों के समक्ष काव्यकला की चमत्कृति का प्रदर्शन किया। शब्द सौष्ठव और पदविन्यास में जिस सौन्दर्य का सञ्चार हुआ है। उसका तो वर्णन करना अशक्य है।

यह तो सभी को मालूम है कि कविवर कुमारदास कालिदास के उत्साही प्रशंसक थे। रघुवंश के 12वें सर्ग में 'जानकीहरण' प्रसङ्ग में तथा कुमारदास के दशवें सर्ग में उपस्थित जानकीहरण के प्रसङ्ग में तुलना करने पर निःसन्देह रूप से सिद्ध होता है कि उन्होंने शैली तथ विषय के सामान्य निर्वाह में कालिदास का खुलकर अनुकरण किया है।

भाषा शैली के उक्त तुलनात्मक वर्णनों का पर्यवेक्षण करने के उपरान्त यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि कविवर कुमारदास पर कालिदास का सर्वातिशायी प्रभाव छाया हुआ था। इसके अलावा कुमारदास ने अपने कथा प्रसङ्गों में अपनी सूझ–बूझ का अच्छा अवसर प्रदर्शित किया है यद्यपि रमणीय नवीनता उपेक्षणीय है परन्तु कथानक में प्राप्त होने वाले वर्णन के अनेक अवसरों का सदुपयोग वे बड़े आह्लादपूर्ण ढंग से करते हैं। प्रथम सर्ग में राजा दशरथ, उनकी पत्नियों तथा अयोध्या के कवित्व पूर्ण चित्र, विचित्र प्रसंग हमें प्राप्त होते है। ऐसे ही दृष्टान्त रघुवंश में भी यथावत निर्दिष्ट है– देखिए –

तृतीय सर्ग में दशरथ की अपनी पत्नियों के साथ रमण क्रीड़ा का क्या ही श्रृङ्गारिक दृष्टान्त कुमारदास ने प्रस्तुत किया है–

पातुं सुदत्या वदनारविन्दमादाय दृष्टो ललनाभिरीशः।
अपुष्परेणु व्यथितेऽपि तस्याश्चिक्षेप नेत्रे मुखगन्धवाहम्।। जानकी0– 3/19

ठीक इसी के समतुल्य रघुवंश के अयोध्यापुरी का वर्णन देखिए–

"निववृते स महार्णवरोधसः सचिव कारितबालसुताञ्जलीन्।
समनुकम्प्य सपत्नपरिग्रहाननलकानलकानवमां पुरीम्।।" रघुवंश – 9/14

इस प्रकार कुमादास के अनेको उदाहरण कालिदास की शैली से मिलते–जुलते प्रतीत होते है। जिनका सम्यक् वर्णन उपर्युक्त किया गया। रामायण की सरल अलङ्कृत शैली ने महाकवि कालिदास, अश्वघोष, कुमारदास इत्यादि महाकवियों को पूर्णरूप से प्रभावित किया। ठीक यहीं स्थिति कुमारदास की भी थी कि इन्होंने अपने पूर्ववर्ती भारवि, भट्टि, प्रवरसेन इत्यादि कवियों से प्रेरणा प्राप्त करके उन्हीं के बताये मार्ग पर चलना श्रेयस्कर समझा।[1]

कविवर कालिदास ने अपने कथानकों का बीज आख्यानों से अर्जित किया तथापि रचना कौशल के कारण उनमें नवीन तथा मर्मस्पर्शी चमत्कार उत्पन्न हो गया है। इनकी कृतियों में संस्कृत काव्यशैली का जो रूप प्रस्फुटित हुआ है उसका वर्णन अवर्णनीय है। यही भाव कुमारदास के लेखनशैली में दृष्टिगत होता है। जिसका भंलीभांति अनुधावन करके कालिदास के कट्टर अनुयायी बन गये।[2]

कालिदास के परवर्ती कवियों ने काव्य का उद्देश्य वाह्य शोभा अर्थात् अलङ्कार श्लेषयोजना तथा शब्दविन्यास चातुरी तक ही सीमित कर दिया[3] जबकि पूर्ववर्ती कवियों ने भावपक्ष के वर्णन में अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा को प्रकाशित कर दिया। इस प्रकार कवियों के प्रधान लक्ष्य में अतंर आ गया अर्थात् काव्य का विषय गौण हो गया तथा भाषा और शैली को अलङ्कृत करने की कलाप्रधान हो गयी। ठीक यही भाव कालिदासीय वैदर्भी का सम्यक् अनुकरण करने से इनके काव्य में प्रसाद और सुकुमारता के साथ–साथ शब्द सौष्ठव का सौन्दर्य दृष्टिगत होता है साथ में छन्दों का नाद सौन्दर्य उसकी गुणवत्ता में वृद्धि कर उसके चमत्कार में चार चाँद लगा देता है। ऐसा ही एक अपूर्व सौन्दर्य राम की नटखटलीला में विद्यमान है–

न स राम इह क्वयात इत्युनुयुक्तो वनिताभिरग्रतः।
निजहस्तपुटावृताननो विदधेऽलीकनिलीनमर्भकः।। जानकी0– 4/8

"राम यहाँ नहीं है, वह गया कहाँ? इस प्रकार सामने ही ढूँढती हुई स्त्रियों से पूंछे जाने पर दोनों हाथों से अपना मुख ढककर बालक उनसे लुकाछिपी खेलता रहा।"

---

1. संस्कृतसाहित्येतिहासः– आचार्यः श्री रामचन्द्र मिश्रः
2. जानकीहरण – 9/6 देखिए – शाकु0 4/18 कालिदास
3. संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास – डा0 सूर्यकान्त

कविवर कालिदास की पद पंक्ति पर चलने के बाद भी कुमारदास की रचना में उच्चकोटि की कल्पना बलवती नहीं हुई। फिर भी हम यह कह सकते हैं कि वे वर्ण्य विषय के वर्णन में निष्णात् तथा उच्चकोटि के प्रतिभाजन्य दृष्टिकोणों को ग्रहण किये हुए थे। कुमारदास का अनुप्रास एवं यमक प्रयोग चारूता की सीमा को स्पर्श करता है वहाँ माघ इत्यादि के एक ही वर्ण की निरन्तर आवृत्ति से प्रभावित होकर नीरसता नहीं प्रकाशित होती। तात्पर्य यह है कि जैसे– भारवि, भट्टि, माघ के अनुप्रास और यमक अलङ्कार के चित्रण पाठक को एक सुनसान वन में ले जाकर नीरसता का भाव जाग्रत कराने लगते है वैसे कुमारदास के अलङ्कार प्रसङ्गों में यह भाव नहीं है। उनको यमक और अनुप्रास पर पर्याप्त स्नेह विकसित होता हुआ दिखाई देता है। इसके अलावा यमक शब्दालङ्कार भी उन्हें एक सीमित मात्रा में ही प्रयोग होना श्रेयस्कर प्रतीत होता है। कविता में प्रसाद और माधुर्य युक्त शैली द्वारा विविध छन्दों को लयात्मक ढंग से प्रयुक्त कर अपने कवित्वपूर्ण प्रसङ्गों पर जगमगाहट पैदा कर देते है। ऐसे रङ्ग–बिरङ्गे दृष्टिकोणों को विविध आभूषणों से बना ठनाकर अपनी काव्यात्मकता को स्फुटित करने में कुमारदास ही निपुण है और में यह भाव कहाँ? देखिए ऐसा ही भाव–

"कैतवेन कलहेषु सुप्तया स क्षिपन् वसनमात्तसाध्वसः।
चोर इत्युदित हासविभ्रमं सप्रगल्भमवखण्डितोऽधरे।। जानकी0–8/52

"प्रणयकलह में बहाना बनाकर सोयी हुई उसके वस्त्र का कुछ डरे–डरे से प्रेमी ने जैसे ही स्पर्श किया, वैसे ही उसने 'चोर' कहकर विभ्रम युक्त हास के साथ प्रगल्भतापूर्वक उस प्रेमी के निचले ओठ पर काट लिया।"

महाकवि कुमारदास पाण्डित्य के मूर्धन्य न होते हुए भी प्रकाण्ड वैयाकरण वेत्ता थे। इसमें कोई संशय की बात नहीं है– जानकीहरण में कवि के व्याकरण के प्रचुर प्रयोग मिलते हैं। कुमारदास ने अपने व्याकरण को असाधारण शब्दों के लिए छान डाला। एक स्थान पर उन्होंने पाणिनि के एक शब्द को अपने काव्य में अच्छा बना दिया है–

दम्भाजीवकमुत्तुङ्गजटामण्डितमस्तकम्।
कञ्चिन्मस्कारिणं सीता ददर्शाश्रममागतम्।। जानकीहरण – 10/76

"तब देवी सीता ने एक भिक्षुक को, जिसका मस्तक लम्बी जटा से परिवष्टित और दम्भ ही जिसकी जीविका का साधन था, आश्रम में आया हुआ देखा।"

व्याकरण और कोश के लिए कुमारदास की शैली का विद्वत्तापूर्ण सौन्दर्य उनके काव्य को विशेष महत्ता प्रदान करता है शैली की दृष्टि से जानकीहरण में रघुवंश से अधिक कृत्रिमता है सम्भवतः किरातार्जुनीयम् से भी अधिक है। गौणी और पाञ्चाली रीतियों का समाश्रयण कर ही कुमारदास आगे बढ़े, क्योंकि इसके पहले कहा ही जा चुका है कि 'जानकीहरण' काव्य की शैली भारवि और माघ के बीच की शैली है तथा उनके काव्य में भारवि और माघ का वर्णन कौशल भी समन्वित है इनका काव्य इतना भी गूढ़ नहीं जैसे वासवदत्ता का गद्य। शब्दों की साधारण क्रीड़ा ही इसके काव्य में सर्वत्र पायी जाती है।

"अथ स विषमपादगोपितार्थं जगदुपयोगवियुक्त भूरिधातुम्।
बहुतुहिननिपातदोषदुष्टं गिरिमसृजत्कुकवेरिव प्रबन्धम्।। जानकीहरण – 1/89

उक्त पद्य में पाद, तुहिन, धातु और निपात में शाब्दी क्रीड़ा है। इस प्रकारके परिमार्जित सुष्ठ प्रयोग करने में यदि हम उन्हें एक प्रामाणिक रचनाकार मानें तो कोई भी अत्युक्ति नहीं होगी।

वाक्य निर्माण के प्रसङ्ग में कुमारदास ने क्रिया विशेषणात्मक कर्मप्रवचनीय, पूर्वपदों का, समासों का प्रयोग, लिट्लकार का भववाच्य में प्रयोग और 'मुनिनाजोषमभूयत' जैसा विचित्र भाववाच्य का प्रयोग खुलकर किया है। सर्वतः औरउभयतः एक साथ कर्मकारक व्याकरण सङ्गत है। 'कालस्य कस्यचित्' का भी प्रयोग व्याकरण सम्मत है, परन्तु 'समाः सहस्त्राणि' का प्रयोग असावधानी से किया हुआ जान पड़ता है। इसके अलावा 'दोषन्' शब्द के तृतीया में दोषा ग्रह प्रयोग अन्यत्र अदृष्ट है। पाद के आरम्भ में वतु तथा इव का प्रयोग नितान्त अयुक्त है। जहाँ तक 'खलु' का सम्बन्ध है उसे तो 'वामन' ने भी अनुचित ठहरायाहै। कविवर कुमारदास ने वाल्मीकि से तनुच्छद (पङ्ख) और कालिदास से अवर्ण (लज्जा) तथा अजर्य (मैत्री) का ग्रहण भारवि से किया। किसी बात को सीधे न कहकर उसे प्रकृत प्रसङ्गों से सम्बद्ध कर कहना इनका

अपना भाव है। इसी लिए वह अपने को कई स्थानों पर कुमारदास के स्थान पर 'कुमार परिचारक' कह देते है।

कुमारदास ने अपने काव्य में छन्दों का प्रयोग बड़ी निपुणता से किया है, परन्तु भारवि के समान परिवर्तित होते हुए छन्दों के प्रयोग का विस्तार न करके उन्होंने इस विषय में अधिकतर कालिदास के ढंग का ही अनुकरण किया है। दूसरे, छठे और दशवें सर्ग में श्लोक छन्द का क्या ही भाव भीना दृश्य उपस्थापित किया है? जैसे–

वृहस्पतिदेव भगवान विष्णु के पास जाकर दैत्य रावण के अत्याचारों का वर्णन किन शब्दों में करते है उसी का प्रसङ्ग है–

मानिनामग्रणीरस्ति पुलस्तिसुत सम्भवः।
दर्पोद्धृतजगद्रक्षो रक्षोवायो दशाननः।। जानकीहरण– 2/35

"पुलस्त्य के पुत्र (विस्त्रवा) से उत्पन्न, घमण्डियों में सबसे आगे बढ़ा हुआ, राक्षसों के स्वामी, रावण ने अपने दर्द से विश्व की शान्ति भंग कर दी है।"

इसके अलावा एकादश सर्ग में वर्षावर्णन को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए द्रुतविलम्बित छन्द का सम्यक् प्रयेग किया है। वैसे ही कालिदास ने भी नवें सर्ग के वसन्तवर्णन को भी यमक और द्रुतविलम्बित छन्द से सजा संवारकर काव्य को नाद सौन्दर्य के आवरण से परिवेष्टित किया।

"अरूणरागनिषेधिभिरंशुकैः, श्रवणलब्धपदैश्च यंवाङ्कुरैः।
परभृताविरूतैश्च विलासिनः स्मरबलैरबलैकरसाः कृताः।। रघुवंश–9/43

इसी प्रकार कुमारदास ने तेरहवें सर्ग में प्रमिताक्षरा, पहले, तीसरे और सातवें सर्ग में इन्द्रवज्रा की कोटि का उपजाति, चौथे में वैतालीय, आठवें में रथोद्वता, तीसरे के कुछ पद्यों में वंशस्थ का साम्राज्य बिछाया है। गौण रूप से प्रयुक्त छन्दों में शार्दूलविक्रीडित शिखरणी, स्त्रग्धरा, पुष्पिताग्रा, सोलहवें सर्ग में प्रहर्षिणी, वसन्ततिलका, मन्दाक्रान्ता, मालिनी आदि है, जैसे–

"न ददर्श मारूतिगतामुदितेनयनस्य वारिणि दिशं नृहरिः।
न चकार राजदुहितुश्च शुचा गुणकीर्तितानि विधृते वचने।।" जानकी0–13/5

उक्त पद्य में कुमारदास ने प्रमिताक्षरा छन्द में राम की विकलता का वर्णन इतने हृदयोद्गारक शब्दों में किया है कि शायद पाठक को भी हठात् अश्रु छलक पड़े। इस प्रकार उक्त वर्णनों को देखकर यह भलीभांति आभास होता है कि कविवर कुमारदास को छायाचित्र के माध्यम से हृदयग्राही रूप प्रस्तुत करने की कला का सम्यक् ज्ञान था। वर्णन और आख्यान का यथोचित रूप वैसे ही सन्निविष्ट है जैसे कालिदास की रचनाओं में। छन्दों में दक्षता प्राप्त थी। जिससे काव्य में नाद सौन्दर्य से युक्त संगीत की अभिव्यक्ति तो मिलती थी ही, साथ ही कवि का अपूर्व माधुर्य भी परिलक्षित होने लगता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कालिदास का अनुकरण करते हुए ही कुमारदास अपनी रचना में अभिनव चमत्कार का संयोजन करने में सफल हुए हैं—

पुष्परत्न विभवैर्यथेप्सितं सा विभूषयति राजनन्दने।
दर्पणं तु न चकांक्ष योषितां स्वामिसम्मतफलं हि मण्डनम्।।   जानकी0—8/42

"राम के इच्छानुसार वह राजकुमारी सीता पुष्पों और रत्नों के विभव से अपना अलङ्करण करती थी, वह दर्पण की भी इच्छा नहीं करती थी, क्योंकि स्त्रियों के मण्डन की सफलता अपने पति को प्रसन्न कर देने में है।"

कुमारदास के इस पद्य का भाव कालिदास के 'कुमारसम्भव' महाकाव्य में उल्लिखित 'प्रियेषु सौभाग्य फला हि चारुता'[1] से पूर्णतया प्रभावित प्रतीत होता है। कुमारदास की कोमल काव्य प्रतिभा में ऐसे अनेक प्रसङ्ग है जिन पर भारवि की अलङ्करण प्रियता का चमत्कार तो दिखता है, साथ ही माघ की शब्दचातुरी भी परिलक्षित होती है। जैसे शरदऋतु का वर्णन है—

प्रवासमालम्बय घनागमश्रियः पयोधरस्पर्श वियोगनिस्पृह।
महीधरः स्वं शिखरावसङ्गिनं त्यजत्यसौ मत्तशिखण्डि शेखरम्।। जानकी0 12/13

देखे किरात में— बारहवें सर्ग के चौथे श्लोक को—[2]

---

1. कुमार सम्भव — 5/1
2. देखें — किरातार्जुनीय — 12/4

समय एव करोति बलाबलं प्राणिगदन्त इतीव शरीरिणाम्।
शरदि हंसरवाः परुषीकृता स्वरमयूर मयूरमणीयताम्।। माघकाव्य – 12/13

उक्त प्रसङ्गों को देखकर यह सहज ही मालूम होता है कि पग–पग पर रघुवंश, कुमारसम्भव की पदावली तथा वाक्यविन्यास का स्पष्ट अनुकरण कुमारदास ने किया। काव्यप्रतिभा की इस होड़ में वह प्रौढ़ालङ्कृत भारवि के चतुर–चितेरे न बनकर कालिदास के पीयूषप्रवाह की अलौकिक आनन्दवारिधि में ही बह जाते हैं। कुमारदास की साहित्यवधू प्रसाद एवं माधुर्य गुणों से ओतप्रोत है, यह भाव कालिदास के अनुकरण से ही इनमें जाग्रत हुआ। शब्दमाला में अद्भुत कमनीयता और रसमयता विराजमान है। कुमारदास की अमरकीर्ति जिस पर अवलम्बित है वह रघुवंश ही है। इतना ही नही कुमारदास की काव्यप्रतिभा का निकष तो वाल्मीकि रामायण ही है जो कालिदास क्या समग्र महाकाव्यों की परम्परा का उपजीव्य है। देंखे–

"एकंत्वया साधयताऽपि लक्ष्यं नीतं विनाशं त्रितयं निरागः।
मच्चक्षुषा कल्पितदृष्टिकृत्यौ वृद्धौ वने मे पितरावहं च।।" जानकीहरण – 1/77

श्रवण कुमार राजा दशरथ से कह रहा है कि– 'आपने एक ही निशाने से तीन निरपराध व्यक्तियों की जान ली। मेरे वृद्धमाता–पिता की और मेरी, जिसकी आँखों ही के द्वारा वे इस वन में देखते थे।'

ऐसा ही प्रयोग बाल्मीकि रामायण में भी मिलता है जिससे प्रतीत होता है कि कविवर कुमारदास पर रामायण का भी सर्वव्यापी प्रभाव था। देखिए रामायण का प्रसंग–

"एकेन खलु बाणेन मर्मण्यभिहिते मयि।
द्वावन्धौ निहतौ वृद्धौ माताजनयिता च में।।" वा0रामा0 अयो0 – 63/40

कुमारदास ने रस, अलङ्कारादि से प्रभावित होकर जिन वर्णनों का कमनीय रूप प्रस्तुत किया, उन सभी में कालिदास की ही शैली का अनुकरण परिलक्षित होता है। इतना ही नहीं कुछ एक स्थलों में तो भारवि और माघ के गौड़ी और पाञ्चाली से समन्वित भावों को भी अपनी काव्य धारा में लपेट लिये हैं।[1] लेकिन अनिर्वचनीय

---

1. सौन्दर्य-शास्त्र - हरद्वारी लाल शर्मा – भूमिका भाग

और कर्णकुहरों को आह्लादित करने वाले कालिदास के प्रभाव में तो पूरी तरह बह ही गये हैं। इसलिए कवियों ने जो प्रशस्ति 'जानकीहरणं कर्तुं' दी उसका साफ–साफ शब्दों में निदर्शन प्रस्तुत किया गया।

ऐसा ही भाव चौथी पांचवी शती० की कलाकृतियों में भी परिलक्षित होता है। क्या संगीत, क्या स्थापत्य, क्या वास्तुकला, क्या मूर्तिकला, क्या साहित्य सभी में अलङ्करण की बेसुरी झङ्कृत प्रवृत्ति प्रतिविम्बित होती है। जिस समय हूण, यवन, शक इत्यादि विदेशी जातियों के आक्रमण हुए थे, उस समय कला का जो जीवन्त रूप था वह नहीं रह पाया साथ ही ऐसे दौर में कला में भी परिवर्तन देखा जाने लगा। यह युग का माहात्म्य था। अलङ्करण की अभिव्यक्ति इतनी साजसज्जा पूर्ण ढंग से होने लगी कि कवियों ने भी अपने विम्बविधान को सजाना आवश्यक समझा। नहीं तो जीवन का लक्ष्य ही नहीं पूरा होता। इस लक्ष्य हेतु कवियों ने (भारवि, भट्टि, कुमारदास, ने भी) अलङ्करण की बहुआयामी प्रवृत्ति को अपनाते हुए सर्वविध श्रृङ्गारों से उसमें जीवन्त रूप डाला। जिससे सजीवता तथ स्वाभाविकता का तो हनन हो गया तथा वह कृत्रिमता के आवरण से आवेष्टित हो लोगों के सामने प्रकट होने लगी। कला का कार्य ही यही होता है कि वह अपने समय के सामाजिक जीवन की तो अभिव्यक्ति करे साथ ही उसका बहुआयामी रूप भी प्रस्तुत करें, क्योंकि कला से ही उस युग की शिल्प विद्या उस युग का वैभव उस समय प्रचलित शैली का भाव दृष्टिगोचर होता है।

❐

चतुर्थ अध्याय

महाकवि माघ – कालिदासोत्तर काल में सस्कृत कविता का कलापक्ष क्रमशः समुन्नत होता गया, और भावपक्ष शिथिलता की ओर प्रवृत्त होता गया। महाकवि भारवि के काव्य–कलेवर में कलावादिता का जो स्वर मुखरित हुआ और जो एक नई शैली का जन्म हुआ उसको परवर्ती कवियों ने बड़ी सहजता पूर्वक स्वीकार कर उसमें अपने काव्यकौशल के सौन्दर्य को उभारने का प्रयत्न किया। यह नवीनता का युग था, जिसने पण्डित जनों को वाहवाही के कटघरे में लाने का प्रयास किया तथा इस प्रयास में प्रत्येक कवि अपने पूर्ववर्ती कवि को अपने काव्यकौशल के चमत्कार–युक्त विश्लेषण से पछाड़ने की कोशिश करने लगा। समाज ने इस शैली को स्वीकार करने में अपनी अभिरूचि जताई, जो पण्डित जनों के लिए प्रेरणा स्रोत बन गई।

महाकवि माघ ने अपने काव्यकलेवर में अपने पूर्ववर्ती भारवि, भट्टि कवियों की विभिन्न विशेषताओं को अङ्गीकार करके सहर्ष अपनाया और उन्हें अत्यधिक प्रौढ़ता प्रदान की। अपनी विचित्रतावादी अलङ्कृत एवं चामत्कारिक काव्य–शैली के स्पृहणीय गुणों के कारण माघ तथा माघ–काव्य को संस्कृत साहित्य में जो लोकप्रियता प्राप्त हुई उसका वर्णन करना अवर्णनीय है।[1]

महाकाव्यों की इस संयुक्त महात्रयी में शिशुपालवध महाकाव्य का अपना अलग ही महत्त्व है। किरातार्जुनीयम् के रचयिता महाकवि भारवि ने विद्वत्ता प्रदर्शन के लिए जिस शैली में लेखन किया, माघ ने भी पूर्ण रूप से उसका अनुपालन किया, माघ ने भी पूर्णरूप से उसका अनुपालन किया। इतना ही नही, माघ ने वर्ण्यविषयों के प्रतिपादन में भी भारवि का अनुकरण किया है।

महाकवि माघ ने उसी चामत्कारिक शैली का प्रयोग करते हुए 'शिशुपालवध' जैसी लघुकथा को अपनी विशेष अलङ्कृत एवं चामत्कारिक शैली द्वारा अतिरञ्जित करते हुए बीस स्कन्दों में उसकावर्णन किया है जो कि सबके सामर्थ्य के बाहर है।

---

1. संदर्भ संख्या – संकृत काव्यकार – हरिदत्तशास्त्री – 403

महाकाव्यों के विविध आवश्यक तत्त्व पर्वत, नदियां, समुद्र, वन, सूर्योदय, ऋतु, प्रभात, सायंकाल आदि का सौन्दर्यपूर्ण वर्णन करते हुए उन्होंने काव्य में रोचकता ही नहीं पैदा की बल्कि उसके काव्य–कलेवर को भी बढ़ा दिया।

माघकाव्य का प्रधान रस वीर है। महान् आततायी एवं नृशंस शिशुपाल के वध के लिए उपेन्द्र के पास इन्द्र का सन्देश लाकर महर्षि नारद ने काव्य का बीज वपन किया है। काव्य का प्रमुख प्रयोजन क्रूर चेदिराज शिशुपाल का संहार है। युधिष्ठिर का राजसूययज्ञ वर्णन तो उसका आनुषंगिक कार्य है। काव्य के प्रत्येक सर्ग इस चरम लक्ष्य की ही प्राप्ति के लिए प्रस्तुत किये गये है। अन्ततोगत्वा श्रीकृष्ण एवं शिशुपाल का युद्ध इ़ष्टसिद्धि की प्राप्ति कराकर काव्य की इतिश्री करता है।

महाकवि माघ के जीवनवृत्त के विषय में यद्यपि ज्यादा विस्तार से कुछ भी नहीं प्राप्त होता है। माघ ने स्वयं अपना स्वल्प वंश परिचय अपने ग्रन्थ के अन्तिम सर्ग में उल्लिखित पांच श्लोकों में दिया है।

सर्वाधिकारी सुकृताधिकारः श्रीवर्मलाख्यस्य वभूव राज्ञः।
असक्तदृष्टिर्विरजाः सदैव देवोऽपरः सुप्रभदेवनामा।। 1–

कालेमित तथ्य मुदर्कपथ्यं तथागतस्येव जनः सचेताः।
विनानुरोधात् स्वहितेच्छयैव महीपतिर्यस्य वचश्चकार।। 2–

तस्या भवद्दत्तक इत्युदात्तः क्षमी मृदुर्धर्मपरस्तनूजः।
यं वीक्ष्य वैयासमजातशत्रोर्वचो गुणग्राहि जनैः प्रतीये।। 3–

सर्वेण सर्वाश्रय इत्यनिन्द्यमानन्दभाजाजनितं जनेन।
यश्च द्वितीयं स्वयमद्वितीयो मुख्यः सतां गौणमवापनाम।। 4–

श्रीशन्दरम्यकृत सर्ग समाप्तिलक्ष्म लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्रचारू।
तस्यात्मजः सुकविकीर्ति दुराशयादः काव्यं व्यधत्त शिशुपालवधाभिधानं।। 5–

कविवंशवर्णन– शिशुपालवध

महाकवि माघ का जन्म विषयक वर्णन शिशुपालवध की कुछ हस्त लिखित प्रतियों में मिलता है– "इति श्री भिन्नमालवास्तव्य दत्तकसूनोर्महावैयाकरणस्य माघस्यकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये————————"।

महाकवि माघ के काल निर्धारण में सबसे अधिक भूमिका और विवाद का निर्वाह करने वाला निम्न श्लोक है।[1] कुछ विद्वानों का मत इससे भिन्न है। उनका कहना है कि डा0 कीलहार्न का वसंतगढ़ नामक स्थान से एक शिलालेख प्राप्त हुआ है जो वर्मल नामक राजा द्वारा लिखा बताया जाता है जिसका समय 625ई0 है। इन्हीं वर्मल के आश्रित सुप्रभदेव थे जिस कारण माघ का समय सातवीं शता0 का उत्तरार्ध मानना समीचीन प्रतीत होता है— अन्तः साक्ष्य एवं बहिःसाक्ष्य दोनों के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि माघ का समय सप्तम शती0 का उत्तरार्ध मानना ही श्रेयस्कर है।

हमारा मुख्य प्रयोजन काव्यकलेवर में अपनायी गई शैली एवं विभिन्न काव्यगत उद्देश्यों से है न कि इनके जन्मविषयक मतमतान्तरों से इसलिए इस प्रसङ्ग में हम अधिक विस्तार से न जाकर स्वल्प वर्णन करना ही उचित समझेंगे जो हमारे लिए प्रासङ्गिक है।

कविवर माघ ने जिस कथानक को आधार मानकर अपने महाकाव्य शिशुपालवध की रचना की। वह कथा महाभारत के सभापर्व में (अध्याय 33 से 45 तक) यथा श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णित है। इसके अलावा पद्मपुराण, अग्निपुराण, विष्णुपुराण में भी यह कथा कुछ व्युत्क्रम रूप में प्राप्त होती है।

माघ ने अपने इसी ग्रन्थ में अपने पूर्ववर्ती सभी कवियों (कालिदास, अश्वघोष, भारवि, भट्टि) यथा कालिदास से काव्य—सौन्दर्य, भारवि से अर्थ गौरव, और भट्टि से व्याकरण पाटव का संकलन किया। माघ की विशेषता यह है कि उन्होंने तीनों गुणों का मणिकाञ्चन संयोग प्रस्तुत किया।

महाकवि भारवि ने जिस अलङ्कृत शैली का शिलान्यास किया था महाकवि माघ के काव्य में उसका उत्कर्ष दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि माघ असाधारण मेधावी तथा अक्षुण्ण पाण्डित्य शक्ति से सम्पन्न थे, किन्तु अलङ्कार तथा चामत्कारिकता के

---

1. अनुत्सूत्र पदन्यासा सद्वृत्तिःसन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा। शिशुपालवध — 2/112

कारण उनकी भावुकता लुप्त हो गयी है, तथा उसका स्थान बुद्धि चातुर्य व कृत्रिमता ने ले लिया है। माघ भारवि की अपेक्षा अधिक कलाबाजी करने में निपुण है तथा भट्टि से किसी कदर कम पण्डित नहीं है, किन्तु वे जितने कलाबाज और पाण्डित्य की चामत्कारिता से परिपूर्ण हैं उतने ही वे कालिदास की भाव–तरलता से हीन है। माघ ने भारवि की कलापूर्ण शैली को और अधिक अलङ्कृत तथा प्रौढ़ बनाने का प्रयत्न किया। श्रीहर्ष जैसे कोरी दूर की कौड़ी माघ में कम मिलती है। श्रीहर्ष में पदलालित्य है पर माघ में भी पदलालित्य की कमी नहीं है किन्तु माघ का पदलालित्य वैदर्भी या पाञ्चाली रीति वाला पदलालित्य न होकर गौड़ी वाले विकटबन्ध का पदलालित्य है।

शिशुपालवध पर पूर्वकालीन कवियों तथा काव्यों का प्रभाव :–

विस्तृत एवं सर्वाङ्गीण चित्रण का वर्तमान रूप हमारे लिए पाश्चात्य साहित्य की देन है जिसमें प्रौढ़ पण्डितों ने अपने एकाङ्गी दृष्टिकोण से साहित्य को समृद्ध एवं गौरवान्वित किया। महाकवि माघ के विषय में भी ऐसी ही कुछ त्रुटियां उपलब्ध होती है जो पुरालोचकों के विचारों का अनुकरण करती हुई प्रतीत होती है। एक अत्यन्त प्रसिद्ध उक्ति है :–

उपमा कालिदास्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यम् माघे सन्ति श्रृयोगुणाः।। कवि प्रशस्ति

शिशुपालवध पर कालिदास की कविता का प्रभाव अनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है। शिशुपालवध के एकादश सर्ग का प्रभातवर्णन, रघुवंश के पंचम सर्ग के प्रभात वर्णन से निश्चित रूप से प्रभावित है। कुलगुरू कालिदास के रघुवंश का प्रभात वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त अर्थात् केवल दस पद्यों में होते हुए भी अत्यन्त मार्मिक है। परन्तु महाकवि माघ का प्रभात वर्णन अत्यन्त विस्तृत (पूरे एकादश सर्ग के सरसठ पद्यों में) एवं अत्यधिक अलङ्कृत (कृत्रिम) है। दोनों में ही हाथी तथा घोड़े आदि के निद्रात्याग का स्वाभाविक वर्णन है। ऐसे ही कुछ स्थल निम्नवत् है :–

शय्यां जहत्युभयपक्षविनीतनिद्राः स्तम्वेरमा मुखरश्रृङ्खलकीर्षणस्ते।
येषां विभान्ति तरूणारूणरागयोगाद भिन्नाद्रि गौरिकतटाइवदत्तकोशाः।।
दीर्घेष्वमी नियमिताः पटमण्डपेषु निद्रां विहाय वनजाक्ष! वनायुदेश्याः।
वक्त्रोष्मणामलिनयन्ति पुरोगतानि लेह्यानि सैंधवशिलाशकलानि वाहाः।।

रघुवंश 5/72–73

क्षितितटशयनान्तादुत्थितं दानपङ्क–प्लुतबहुलशरीरं शाययत्येष भूयः।
मृदुचलदपरान्तादीरितान्दूनिनादं गजपतिमधिरोहः पक्षकव्यत्ययेन।।
परिशिथिलतकर्णग्रीवमामीलिताक्षः क्षणमयमनुभूय स्वप्नमूर्ध्वज्ञुरेव।
रिरसयिषति भूयः शब्यमग्रे विकीर्णं पटुतरचपलोष्ठः प्रस्फुरत्प्रोथमश्वः।।

शिशुपाल 11/7, 11

उक्त वर्णन को देखने से यह प्रतीत होता है कि कालिदास का व्यञ्जनाशक्ति का वर्णन बेजोड़ है, जबकि माघ का वर्णन उससे अधिक विलासमय है। यहाँ दोनों का भाव साम्य दर्शनीय है। इसके अतिरिक्त अन्य कई स्थल है जिन पर कालिदास का भरपूर प्रभाव स्पष्टतया दिखाई पड़ता है।

यद्यपि इस काव्य परम्परा में कालिदास के समय से ही कवियों का ऐसा वर्ग हो गया था जो काव्य में शाब्दीक्रीड़ा तथा पाण्डित्य को महत्त्व प्रदान करता था। ऐसे कवि पण्डितों के लिए ही कालिदास को रघुवंश के नवम् सर्ग की रचना करनी पड़ी। यह प्रवृत्ति भारवि और माघ से होती हुई श्रीहर्ष में चरमावस्था को प्राप्त हुई। महाकवि माघ का लक्ष्य रहा है भारवि की कृति को सभी दृष्टि से पीछे छोड़ देना।[1]

महाकवि माघ मुख्यतया भारवि के प्रतिस्पर्धी हैं। उनकी चमत्कारप्रियता की होड़ भारवि को पीछे पछाड़ने की है। इनकी चमत्कारप्रियता ने ही पाण्डित्यविहीन कविता को काव्य के प्राङ्गण से हटा ही दिया और इस कदर पाण्डित्य का भूत सवार हुआ कि कोमलकान्त पदावली से परिपूर्ण कविता को पाण्डित्य ने आक्रान्त कर लिया। महाकवि भारवि कालिदास की अपेक्षा पाण्डित्य के प्रति अधिक अनुरक्त

---

1. शिशुपालवध – देव नारायण मिश्रा – पृष्ठ 33

हैं। उनका महाकाव्य किरातार्जुनीय उनकी बहुज्ञता और बहुश्रुतता का स्पष्ट परिचायक है। इसके अलावा माघकाव्य के विस्तृत तथा सरस वर्णन उसकी उत्कृष्टता का एक मुख्य कारण है। उनके वर्णनों का सजीव एवं प्रभावशाली होगा।

महाकवि माघ, भारवि के आवश्यकता से अधिक ऋणी है। माघ के 'शिशुपालवध' की कथावस्तु भारवि के किरातार्जुनीय की कथावस्तु की प्रतिमूर्ति कही जा सकती है। इतिवृत्त की सजावट, सर्गों के विभाजन और वर्ण्यविषय के उपस्थान में माघ प्रायः भारवि के पदचिह्नों पर चलते देखे जाते हैं। इनके काव्यों के अनुशीलन से यही ज्ञात होता है कि महाकवि माघ मानों भारवि के काव्य का सम्बल लेकर ही साहित्यिक क्षेत्र में प्रविष्ट हुए और इसी का परिणाम है कि राजनीतिक कवि भारवि के अनुकरणकर्ता माघ का शिशुपालवध भी राजनैतिक काव्य बन गया। माघ ने भारवि के प्रत्येक पद का अपने काव्य में अनुकरण किया है और अपने काव्य को भारवि के काव्य से उत्कृष्ट बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया है और वे इसमें सफल भी हुए है।[1] इसलिए भारवि और माघ दोनों एक ही क्षेत्र के युगप्रवर्तक महाकवि कहे जा सकते है, जिससे विभिन्न स्थलों में 'किरातार्जुनीय' का 'शिशुपालवध' ऋणी प्रतीत होता है। देखिए –

किरातार्जुनीयम्	शिशुपालवध
1. इस महाकाव्य की कथा महाभारत के वनपर्व से ग्रहीत की गयी है।	1. इस महाकाव्य की कथा महाभारत के सभापर्व से ली गयी है।
2. किरातार्जुनीय सम्पूर्ण रूप से महाकाव्य के लक्षणों से युक्त है।	2. शिशुपालवध कथा भी सम्पूर्ण रूप से महाकाव्य के लक्षणों से युक्त है।
3. भारवि शिवभक्त है अतः उन्होंने अपने काव्य के लिए शिव सम्बन्धी घटना को लिया है।[2]	3. माघ विष्णु भक्त है अतः उन्होंने अपने काव्य के लिए विष्णु सम्बन्धी घटना को लिया है "तथा लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्रचारू" कहकर अपने ग्रन्थ का सम्बोधित किया है।[2]

1. शिशुपालवधम् – श्रीराम जी. लाल शर्मा – पृष्ठ – 15

2. विधिसमयनियोगाद्दीप्तिसंहारजिह्मां
शिथिलवसुमगाधे मग्नमापत्पयोधौ।
रिपुतिमिरमुदस्यादीयमानं दिनादौ
दिनकृतमिव लक्ष्मीस्तवां समभ्येतु भूयः।।
किरात 1/46

2. ओमित्युक्तवतोऽथ शार्ङ्गिणइति व्याहृत्य
वाचं नभस्तस्मिन्नुत्पतिते पुरः सुरमुगना विविन्दोः श्रियं विभ्रा
शत्रूणामनिशं विनाशपिशुनः क्रुद्धस्यचैद्यप्रति,
व्योमनीवभृकुटीच्छलेन वदने केतुश्चकारास्पदम।।

4. भारवि ने अपने काव्य का आरम्भ श्रीशब्द से किया और प्रत्येक सर्ग के अन्त में लक्ष्मी शब्द का प्रयोग किया है।

श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं प्रजासु
वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम्।
स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ
युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः।।
किरात0 1/1

5. भारवि का किरातार्जुनीय लक्ष्मीशब्द से अन्त होने के कारण लक्ष्म्यङ्क कहलाता है।

6. भारवि के किरातार्जुनीयम् के प्रथम सर्ग में ही युधिष्ठिर वनेचर संवाद, एवं राजनीति विषयक चर्चा।

कृतप्रणामस्य महीं महीभुजः
जितां सपत्नेन निवेदयिष्यतः।
न विव्यथे तस्य मनो न हि प्रियं
प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः।।[1]

7. किरातार्जुनीय में युधिष्ठिर महर्षि व्यास का विधिवत स्वागत करते है।

8. किरातार्जुनीय के प्रथम सर्ग में यक्ष द्वारा युधिष्ठिर की विपत्तियों को दिखाकर दुर्योधन की समृद्धि का प्रदर्शन करते हुए युद्ध की प्रेरणा है।

विहाय शान्तिं नृपधाम तत्पुरः,
प्रसीद सन्धेहि वधाय विद्विषाम्।
व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः,
शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः।।[2]

1. किरात – 1/2
2. किरात – 1/42

4. माघ के काव्य का आरम्भ भी श्रीशब्द से होता है और प्रत्येक सर्ग के अन्त में भी श्री शब्द का ही प्रयोग है।

श्रियःपतिःश्रीमतिशासितुं जगन्
जगन्निवासो वसुदेव सद्मनि।
वसन्ददर्शावतरन्तमम्बराद्
हिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः।।
शिशु0 1/1

5. माघ का शिशुपालवध श्री शब्द से अन्त होने के कारण श्रयङ्क कहलाता है।

6. माघ के शिशुपालवध के प्रथम सर्ग में कृष्ण नारद संवाद एवं राजनीतिक चर्चा।

हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः
शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं
व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम्।।[1]

7. शिशुपालवध में श्रीकृष्ण देवर्षि नारद का विधिवत् स्वागत करते हैं।

8. शिशुपालवध में भी प्रथम सर्ग में नारद द्वारा देवताओं की विपन्नावस्था का प्रतिपादन करके इन्द्र के सन्देश के रूप में युद्ध की प्रेरणा की गयी है

तदेनं मुल्लग्तिशासनं विदेर्विधेहि
कीनाशनिकेतनातिथिम्।
शुभेतराचार विपक्त्रिमापदो
विपादनीया हि सताम साधवः।।[2]

1. शिशुपाल – 1/26
2. शिशुपाल – 1/73

किरातार्जुनीय	शिशुपालवध
9. किरातार्जुनीय के पञ्चम सर्ग में हिमालय का वर्णन यमक द्वारा किया गया है। क्षितिनभः सुरलोक निवासिभिः कृतनिकेतम दृष्टपरस्परैः। प्रथयितुं विभुतामभिनिर्मितं, प्रतिनिधिं जगतामिवशम्भुना।।[1]	9. शिशुपालवध के चतुर्थ सर्ग में रैवतक पर्वत का वर्णन यमक द्वारा किया गया है। यत्राधिरूढेन महीरूहोच्चैरून्निद्र पुष्पाक्षिसहस्त्रमाजा। सुराधिपाधिष्ठितहस्तिमल्ललीलां दधौ राजतगण्डशैलः।।[1]
10. किरात के चतुर्थ सर्ग में शरद् ऋतु का वर्णन क्या ही रमणीय रूप में प्राप्त होता है। "विनम्र शालिप्रसवौघशालिनीरपेतपङ्का ससरोरूहाम्भसः। ननन्द पश्यन्नुपसीम स स्थलीरूपायनीभूत शरद्गुणश्रियः।।"[2]	10. शिशुपालवध के छठे सर्ग में छहों ऋतुओं का क्रमशः वर्णन अपनी चमत्कारिकता को व्यक्त कर रहा है— अथ रिरंसुममुं युगपद् गिरौ, कृतयथास्वतरू प्रसवश्रिया। ऋतुगणेन विषेवितुमादधे भुवि पदम् विपदन्तकृतंसताम्।।[2]

इस प्रकार इस प्रसङ्ग में वर्णन शैली तथा छन्द प्रयोग की दृष्टि से दोनों महाकाव्यों में पर्याप्त समानता परिलक्षित होती है।

किरातार्जुनीय	शिशुपालवध
11. किरात के षष्ठ, सप्तम् तथा अष्टम् सर्गों में अप्सराओं और गन्धर्वों की विलास केलियों का विस्तार से वर्णन किया गया है। "आमत्तभ्रमर कुलाकुलानि धुवन्नुद्धूत ग्रथितरजांसिपङ्कजानि। कान्तानां गगननदीतरङ्गशीतः संतापं विरमयति स्म मातरिश्वा।।[3]	11. शिशुपालवध के अष्टम, नवम् तथा दशम सर्गों में यादवों और यादव रमणियों की जलकेलि का वर्णन किया गया है। नेच्छन्ती सममुना सरोऽवगाढुं, रोधस्तः प्रतिजलमीरिता सखीभिः। आश्लिक्षद्भयचकितेक्षणं नवोढ़ा वोढारं विपदि न दूषितातिभूमिः।।[3]

1. किरात – 5/3
2. किरात – 4/2
3. किरात – 7/10

1. शिशुपालवध – 4/13
2. शिशुपालवध – 6/1
3. शिशुपालवध – 8/20

12. किरातार्जुनीय के अष्टम सर्ग में गन्धर्वों और अप्सराओं की जलकेलि का वर्णन है।

विहस्य पाणौ विधृते धृताम्भसि,
प्रियेण वध्वा मदनार्द्रचेतसः।
सखीव काञ्ची पयसा घनीकृता
वभार वीतोच्चयवन्धमंशुकम्।।[1]

12. शिशुपालवध के अष्टम सर्ग में यादवों और यादव रमणियों की जलकेलि का वर्णन है।

"आकृष्ट प्रतनुवपुर्लतैस्तरद्भिर –
तस्याम्भस्तदथ सरोमहार्णवस्य।
अक्षोभि प्रसृतविलोलबाहुपक्षै–
र्योषाणामुरूभिरूरोजगण्डशैलेः।।"[1]

13. किरातार्जुनीय में दूत सात्त्वना पूर्वक प्रिय और युक्तियुक्त साथ ही उत्तेजक वचन कहता है।

"वाजिभूमिरिभराजकाननं सन्ति,
रत्ननिचयाश्च भूरिशः।
काञ्चनेन किमिवास्य पत्रिणा
केवल न सहते विलङ्घनम्।।"[2]

13. जबकि शिशुपालवध में दूत श्लेष द्वारा प्रिय–अप्रिय द्वयर्थक वचन कहता है।

"चलितानकदुन्दुभिः पुरः सबलस्त्वं
सह सारणेन तम्।
समितौ रभसादुपागतं सगदः
संप्रतिपर्त्तुमहसि।।"[2]

14. किरात के पन्द्रहवें सर्ग में 21 प्रकार के विविधबन्धों और चित्रालङ्कारों द्वारा युद्ध का वर्णन किया गया है। देखिए–

स सासिः सासुसूः सासो
येयायेयाययायः।
ललौलीलां ललोऽलोलः
शशीशशिशुशीःशशन्।।[3]

ऐसा ही एक उदाहरण और देखिए–

स्यन्दना नो चतुरगाः,
सुरेभा वाविपत्तयः।
स्यन्दना नो च तुरगाः,
सुरेभावा विपत्तयः।[4]

14 तो शिशुपालवध में माघ ने 28 प्रकार के सर्ग में विविधबन्धों एवं चित्रालङ्कारों द्वारा युद्ध का वर्णन किया गया है। यह चमत्कार इस प्रकार भारवि से आगे बढ़ जाने की है–

शूरः शौरिरशिशिरैराशाशैराशु, राशिशः।
शरारूः श्रीशरीरेशः शुशूरेऽरिशिरः शरैः।।[3]

और भी–

भीमास्त्रराजिनस्तस्य वलस्य,
ध्वजराजिनः।
कृतघोराजिनश्चक्रे भुवः
सरुधिरा जिनः।।[4]

1. किरात – 8/51
2. किरात – 13/55
3. किरात – 13/12
4. किरात – 15/5

1. शिशुपालवध – 8/25
2. शिशुपालवध – 16/13
3. शिशुपालवध – 16/39
4. शिशुपालवध – 19/108, 112

हर विषय में माघ भारवि से आगे बढ़ने के इच्छुक थे भारवि का अनुकरण उनके लिए आवश्यक था क्योंकि उनसे अधिक चमत्कारप्रियता का प्रदर्शन कर काव्य में वह अपना वर्चस्व स्थापित करना चाहते थे। भारवि की प्रतिभा को धराशायी कर उनसे आगे बढ़ जाना उनका यही उद्देश्य था।

अन्त में जब किरात वेषधारी शिव और अर्जुन के युद्ध का ही अनुकरण कर माघ ने भी कृष्ण और शिशुपाल के मध्य घोर भयंकर युद्ध विचित्र शब्दावली द्वारा व्यक्त किया। देखिए–

15. "शिवभुजाहतिभिन्नपृथुक्षतीः
सुखमिवानुबभूव कपिध्वजः।
क इव नाम बृहन्मनसां,
भवेदनुकृतेरपि सत्त्ववतां क्षमः।।"[1]

15. "शितचक्रनिपातसंप्रतीक्षं वहतः,
स्कन्धगतं च तस्य मृत्युम्।
अभिशौरि रथोऽथ नोदिवाश्वः
प्रययौ सारथिरूपया नियत्या"।।[1]

राजनीतिक चर्चाओं में जहाँ भारवि ने विभिन्न नीतिप्रद उक्तियों के द्वारा राजनीति का दिग्दर्शन कराया वही माघ ने विभिन्न शास्त्रीय प्रमाणों का उल्लेख करते हुए राजनीतिक पटुता को व्यक्त किया। देखिए –

16. "अचिरेण परस्य भूयसीं,
विपरीतां विगणय्यचात्मनः।
क्षययुक्तिमुपेक्षते कृती
कुरुते तत्प्रतिकारमन्यथा।।"[2]

16. अनिर्लोडितकार्यस्य बाग्जालं,
वाग्मिनो वृथा।
निमित्तादपराद्धेषोर्धानु–
ष्कस्येव वल्गितम्।।[2]

इतना ही नहीं जहाँ भारवि ने शिव स्तुति द्वारा अपने ग्रन्थ का आरम्भ करना चाहा वही माघ ने विष्णु स्तुति का बेहद प्रशंसनीय रूप व्यक्त कर काव्य का समापन किया। इसलिए यह प्रतिद्वन्दिता माघ में भारवि से सभी विषय में उनसे आगे बढ़ जाने की थी क्योंकि तभी वह अपनी चमत्कारप्रियता से पाठक एवं श्रोता को अपनी ओर आकृष्ट कर सकते थे।

1. किरात – 18/3
2. किरात – 2/9

1. शिशुपालवध – 20/2
2. शिशुपालवध – 2/27

17. किरातार्जुनीय के अठाहरवें सर्ग में शिव स्तुति से ग्रन्थ की समाप्ति होती है। "सः पिङ्गाक्षः श्रीमान्भुवनमहनीयेन, महसा तनुं भीमां विभ्रत्रिगुण– परिवार प्रहरणः परीत्येज्ञानं त्रिः स्तुतिभिरूपगीतः सुरगणैः सुतं पाण्डवोर्वीरं जलदमिव भास्वानभिययौ।।"[3]	17. शिशुपालवध के 20वें सर्ग में कृष्ण स्तुति से प्रारम्भ एवं अन्त होता है। श्रियाजुष्टं दिव्यैः सपटहर वैरन्वितं पुष्पवर्षे र्वपुष्टश्चै द्यस्य क्षणमृषिगणैः स्तूयमानं निरीय। प्रकाशेनाकाशे दिनकरकरान्वि क्षिपद्वि स्मिताक्षै र्नरेन्द्रैरौपेन्द्र वपुरथ विशद्धाम वीक्षांवभूवे।।

भारवि का इतनी स्पर्द्धा के साथ अनुकरण करते हुए भी माघ के सेना प्रयाण वाले सर्ग 5, 12, 13 तथा 11 वें सर्ग का प्रभातवर्णन अपने निजी हैं। माघ अपने पाण्डित्य को कभी नहीं छोड़ते हैं। यही कारण है कि राजनीति चर्चा के साथ–साथ भी उनका व्याकरण, दर्शन तथा अलङ्कारशास्त्र का ज्ञान भी चलता रहता है। माघ ने अपने काव्य का कथानक चुनते समय इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि वे ऐसे कथानक का चयन करे जिसमें भारवि काव्य का पूर्ण अनुकरण किया जा सके।

माघ की कलात्मक सजावट, कल्पना तथा शब्दावली का भण्डार भारवि से बढ़कर है। माघ के पास अलङ्कारों की भरमार है। उनकी शैली में धीर तथा गम्भीर सङ्गीत है। उनका भावपक्ष भी भारवि से अधिक है, इसलिए वे भारवि से उत्कृष्ट कहे जाते हैं।

इतना ही नहीं माघ के व्याकरणनिष्ठ प्रयोगों को देखकर यह भलीभांति प्रतीत होता है कि माघ अवश्य ही अपने पूर्ववर्ती व्याकरणज्ञ भट्टि से भी प्रभावित है, क्योंकि शिशुपालवध भट्टिकाव्य के बाद की रचना है। एक का आधार वाल्मीकि

किरात – 18 / 45	शिशुपालवध – 20 / 79

रामायण है तो दूसरे की नींव महाभारत जैसे इतिहास ग्रन्थ पर अवलम्बित है। यही नहीं कहीं–कहीं माघ के काव्य में भट्टि के काव्य की छाया भी मिलती है। देखिए–

क्व स्त्रीविषह्याः करजाः क्व वक्षो दैत्यस्य शैलेन्द्रशिलाविशालम्।
संपश्यतैतद् द्युसदां सुनीतं विभेद तैस्तन्नरसिंह मूर्तिः।। भट्टि 12/59

सटाच्छटाभिन्न घनेन बिभ्रता नृसिंह सैंहीमतनुं तनुं त्वया।
स मुग्धकान्तास्तनसङ्गमङ्गुरैरूरोर्विदारं प्रतिचस्करे नखैः।। शिशुपाल – 1/47

इसके अतिरिक्त अन्य कवियों के काव्य का भी प्रभाव माघ के काव्य में देखा जा सकता है। महाकवि माघ केवल सरस कवि ही नहीं थे, किन्तु एक प्रचण्ड सर्वशास्त्र निष्णात् विद्वान भी थे। पाण्डित्य में माघ निश्चित् रूप से कालिदास भारवि, भट्टि या हर्ष से अधिक दिखाई पड़ते है।[1]

माघविद्वत्समाज के कवि रहे हैं। इस दृष्टि से कालिदास के साथ उनकी कुछ भिन्नता है। माघ की कविता को समझने के लिए पंडित होना आवश्यक है। माघ की सुन्दर रसोचित कल्पनाएं उनके भावपक्ष की पूर्ण परिचायक हैं, किन्तु फिर भी उनकी प्रवृत्ति काव्य के कलापक्ष की ओर बहुत अधिक है। काव्य के वाच्यपक्ष की विविध विभूतियों में उनका मन अधिक रमता है। यही कारण है कि उनके काव्य में भावपक्ष अर्थात् काव्य का व्यञ्जना पक्ष गुणीभूत प्रतीत होता है। अर्थात काव्यरसज्ञ विद्वान ही माघ की कविता का पूरा रस ले सकते हैं। ऐसा निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है।

माघ के रसवादी दृष्टिकोण का परिचय स्वयं उनके महाकाव्य में प्राप्त होता है, जैसा कि भवभूति ने उत्तररामचरित में लिखा हे– 'वाचमर्थोऽनु धावति' अर्थात् अर्थ स्वतः ही वाणी का अनुगमन करता है।[2] इसी प्रकार माघकी वाणी भी सिद्ध थी। उन्होंने भी यही कहा है कि रसो और भावों के ज्ञाता कवि को ओजः प्रसाद, आदि गुणों के पीछे नहीं जाना पड़ता, वे तो कवि की वाणी का स्वतः अनुगमन करते हैं।[3]

---

1. 'वृहत्त्रयी' एक तुलनात्मक अध्ययन – डा0 सुषमाकुलश्रेष्ठ
2. उत्तररामचरित 1/10
3. तेजः क्षमा व नैकान्तं कालज्ञस्य महीपतेः।
   नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः।। शिशुपालबध – 2/83

कवियों की काव्यचिन्ता का उल्लेख करते हुए माघ ने एक स्थल पर लिखा है—

स्थायिनोऽर्थे प्रवर्तन्ते भावाः सञ्चारिणो यथा।
रसस्यैकस्य भूयांसस्तथा नेतुर्महीभृतः।। शिशुपालवध — 2/87

यह श्लोक इस तथ्य का परिचायक है कि माघ अपनी काव्यरचना में शब्द, अर्थ, भाव, रस आदि का सन्निवेश पर्याप्त सोच विचार के अनन्तर ही करते हैं।

माघ मूलतः कवि थे, किन्तु वे शास्त्रों के ज्ञाता भी थे। माघ का वैशिष्ट्य उनके रससिद्ध कवीश्वर होने में है किन्तु भारवि के अनुकरण पर उन्होंने कहीं—कहीं चित्रात्मकता तथा काव्य शिल्प के मोह में पड़कर अपने वर्णनों को कलात्मकता की चरम सीमा पर पहुँचा दिया है।

माघ की भाषा अलङ्कारों से अलङ्कृत है। भाषा में सर्वत्र ध्वन्यात्मकता का साम्राज्य छाया हुआ है। चित्रालङ्कारों की विशेषता माघ की भाषा की विशेषता है। भारवि की प्रतिस्पर्धा में माघ की भाषा चमक पड़ी है। कल्पना अनूठी तथा शैली व्यञ्जनात्मक है। सुरूचिपूर्ण उक्ति से उनकी भाषा का पाण्डित्य विदित हो जाता है। व्याकरण के नियमों के अनुसार माघ की भाषा निर्दोष है।[1] माघ की भाषा शैली में तारतम्यता विराजमान है। युद्ध के वर्णन में अपनी शैली को युद्ध के व्यूहों के समान ही प्रस्तुत किया है— उनके युद्ध वर्णन युद्ध व्यूह के समान ही दुर्भेद्य है। ऐसे युद्ध के काव्यात्मक वर्णन से पाठक को वीररस की अनुभूति होने लगती है। इनका कहना है— कि सीधे सीधे शब्दों से पदार्थ निरूपण ऊँचे काव्य की कसौटी नहीं हैं— प्रत्युत वक्रोक्ति से मण्डित शाब्दिक और आर्थिक चमत्कार के उत्पादक शब्द ही सच्चे काव्य का निदर्शन है। उनकी शैली की सर्वत्र अर्थात् सभी क्षेत्रों (गुण, अलङ्कार, रस, वृत्ति आदि) में भारवि से भी आगे बढ़ जाने की ललक लिये रहती है। यहाँ भारवि की शैली गागर में सागर भरने की भांति विपुल भाव के वहन में सक्षम थी वही माघ की शैली बाण के लक्ष्य की भांति अभीष्ट भाव के बोधन में सक्षम थी। इतना ही नहीं श्लेष प्रियता जो उस युग रूचि का प्रतिबिम्ब उपस्थित करती है—

---

1. संस्कृत साहित्य का सरल सुबोध इतिहास — जितेन्द्र चन्द्र भारतीय शास्त्री

वह भी सुबन्धु और बाण की प्रतिस्पर्धा करता हुआ प्रतीत होता है। सुबन्धु तथा बाण की शैली माघ तक पहुंचते-पहुंचते अलङ्कृत घटा में मिलकर अलङ्कार प्रधान तो बन ही जाता है तथा उसका चरम पर्यवसान भी परिलक्षित होने लगता है।[1] डॉ0 व्यास के अनुसार माघ का समासान्त पद विन्यास उनकी शैली को गम्भीरता और उदात्तता प्रदान करता है।

माघ के काव्य में प्रमुख रस से गौड़ी रीति की विकटबन्धता प्राप्त होती है लेकिन कोई प्रख्यात कवि एक ही रीति में बंधकर काव्य रचना नहीं करता इसलिए माघ ने गौड़ी रीति के अतिरिक्त वैदर्भी रीति का भी प्रयोग किया। सर्वत्र गौड़ी की विकटबन्धता देखकर ही बाण ने कहा कि माघ की शैली में एक क्षणिक नशा है जो नये अभ्यास शील व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है।[2] इसी विशिष्टता को देखकर धनपाल ने भी लिखा है-

माघेन विघ्नितोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे।
स्मरन्तो भारवेरिव कवयः कपयो यथा।।

माघ में उत्कृष्ट काव्य रचना करने का सामर्थ्य भारवि से बढ़कर था। तभी पण्डितों ने काव्येषु माघः कहकर जैसी श्रेयस्कर उक्तियां कहीं है। व्यास ने कहा है- जहाँ एक ओर कालिदास का काव्य शेक्सपियर की भांति है- वहीं माघ का काव्य मिल्टन की भांति है। जिसे हम अलङ्कृत शब्दों का उदभावक कह सकते है।[3]

शब्दार्थौ सत्कविरिवद्वयंविद्वानपेक्षते' को सत्कवि की कसौटी मानने वाले माघ की शैली निःसन्देह उत्कृष्ट कोटि की है। माघ ने चमत्कार को पैदा करने के लिए अपने काव्य के 19वें सर्ग में विविध चित्रबन्धों का प्रयोग किया। माघ को स्वयं यह आभास होता था कि ये दिमागी उपज काव्य को और भी अधिक दुर्बोध्य बना रहा

---

1. संस्कृत के महाकवि और काव्य - रामजी उपाध्याय
2. कोमल-मलय-मरूतावतार-तरङ्गितानङ्ग-ध्वजांशुकेषु, मद-कलित-
   कामिनी-गण्डूष-सीधु-सेक-पुलकित वकुलेष-सहकारेषु- महाश्वेता वृत्तान्त पृ0 25
3. माघकृत शिशु0 - देवनारायण मिश्र पृ0 14

है, लेकिन पैनी व तीखी दृष्टि से जब वे वर्णन करने में संलग्न होते हैं तो फिर उन पर किसी और भाव का प्रभाव नहीं पड़ता दीखता। अपने चित्रालङ्कारों का कौशल दिखाकर माघ ने अपने काव्य की विचित्रतावादी प्रवृत्ति का दर्शन कराया है, और उसे अन्य वर्णनों की अपेक्षा एक महत्त्वपूर्ण प्रसङ्ग में उद्धृत किया है।

कविवर माघ की 'मधुरया मधुवोधितमाधवी' जैसे सानुप्रास पदावली बड़ी मनोहर है। यमक और श्लेष का युगपद् वर्णन करने में भी माघ का कोई सानी नहीं है। श्लेषनिष्ठ यमक का एक दृष्टान्त देखिए–

नवपलाशपलाशवनंपुरः स्फुटपरागपरागतपंङ्कजम्।
मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः।।[2]

"श्रीकृष्ण ने पहले नवीन पत्तों से युक्त ढाक के वनों वाले विकसित तथा पुष्पराजों से व्याप्त कमलों वाले, कोमल अतएव गर्मी से कुछ म्लान पल्लवों से युक्त पुष्प समूहों से सुगन्धित वसन्त ऋतु को देखा।"

षष्ठी सर्ग के ऋतु वर्णन में तो माघ अनुप्रास और यमक की झड़ी लगा देते हैं, और उनमें शब्द अर्थ के अनुरूप नाद–ध्वनि का संचार करके एक नयी सरसक्रीड़ा को जन्म देते हैं।

"अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपैतुमात्मजाः।
अनुरोदितीव करूणेन, पत्रिणां विरूतेन वत्सलतयेष निम्नगाः"।।[3]

"अर्थात् जिस प्रकार गोद में खेलने वाली कन्या जब पति के घर जाने लगती है, तब पिता वत्सलता से करूण रोदन करता है। उसी प्रकार रैवतक पर्वत से उत्पन्न तथा उसी के मध्य (गोद) से बहने वाली नदियाँ अपने पति (समुद्र) से मिलने के लिए समतल भूमि पर उतरने लगती हैं, तब पक्षियों के कलरव के बहाने मानों वह (रैवतक पर्वत) नदी रूपी पुत्रियों के लिए अनुरोदन कर रहा है।

1. शिशु0 – 6/20
2. शिशु0 – 6/2
3. शिशुपालवध– 4/47

इतना ही नहीं माघ ने अर्थान्तर न्यास का भी प्रचुरता से समावेश किया है। ऐसा ही एक उदाहरण देखिए–

विपुलाचलस्थलघनेन जिगमिषुभिरग्नाः प्रियैः।
पीनकुचतटनिपीऽदल द्वरबारबाणमुरसालिलिङ्गिरे।। [1]

माघ की अतिशयोक्ति पूर्ण उक्तियाँ अत्यधिक हृदयोद्रेककारक हैं, और ऐसे वर्णन करने में माघ ने अपनी सीमा का अवश्य उल्लङ्घन भी किया है, जिससे वे वर्णन हास्यास्पद हो गये हैं– एक अतिशयोक्ति देखिए –

क्षणंतुहिनधाम्निप्रोष्य भूयः पुरस्तादुपगतवति पाणिग्राहवद्दिम्बधूनाम्।
द्रुततरमुपयाति स्रंसमानांशुकोऽसा वपुपतिरिव नीचैः पश्चिमान्तेन चन्द्रः।।[2]

इसके अतिरिक्त अनुप्रास, रूपक, उत्प्रेक्षा का भी विभिन्न श्लोकों के माध्यम से चमत्कार दिखाया गया है। साथ ही स्वाभावोक्ति, दृष्टान्त, निदर्शना आदि का समुचित सन्निवेश भी माघ–काव्य में विद्यमान है। अर्थालङ्कारों के प्रयोग में कविवर माघ बहुत सजग है। अनुप्रास का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण दृष्टव्य है–

"मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया।
मधुकरांगनया मुहरून्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे।।"[3]

कविवर माघ की उपमाएं कालिदास से बढ़कर हैं, जैसे उपमा सौन्दर्य से प्रभावित होने पर कालिदास को 'दीपशिखा' की उपाधि से अलङ्कृत कियागया था, ठीक वैसे ही महाकवि माघ की उपमा से प्रभावित होकर विद्वत्समाज ने उन्हें घण्टामाघ' की उपाधि से विभूषित किया–

"उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरूचौ, हिम्धाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरियं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारित वारणेन्द्रलीलाम्।।[4]

"प्रातः किरणों को बिखेरता हुआ सूर्य इस पर्वत के ओर उदित हो रहा है और अपनी किरणों को समेटता हुआ, चन्द्रमा एक ओर अस्त हो रहा है, ऐसे समय में यह पर्वत उस हाथी के समान सुशोभित हो रहा है जिसके दोनों ओर रस्सी से बंधे दो घण्टे लटक रहे है।"

---

1. शिशु0 – 1/72
2. शिशु0 – 4/20
3. शिशु0 – 6/20
4. शिशु0 – 4/20

माघ श्लेष अलङ्कार के भी शौकीन थे। इनकी श्लेष प्रियता के सम्बन्ध में 'डा0 भोलाशंकर व्यास' कहते है "माघ श्लेष के प्रयोग में दक्ष हैं, जहाँ श्रीहर्ष को अपनी परिरम्भक्रीड़ा (श्लेष) का घमण्ड है वहीं माघ के शब्दविलास की परिरम्भक्रीड़ा अपना अलग सौन्दर्य रखती है। श्लेष प्रयोग में माघ भारवि से अधिक कुशल हैं। माघ के अन्य अलङ्कार भी श्लेष का सहारा लेकर आते है– श्लेष सङ्कीर्ण उपमा का उदाहरण देखिए–

"हस्तस्थिताखण्डितचक्रशालिनं द्विजेन्द्रकान्त श्रितवक्षसं श्रिया।
सत्यानुरक्त नरकस्य जिष्णवो गुणर्नृपाः शार्ङ्गिणमन्वयासिषुः।।[1]

"अर्थात् हाँथ में चक्र की रेखा धारण करने वाले, सुशोभित वक्षस्थल वाले, चन्द्रमा के समान सुन्दर, सत्यशील नरक को जीतने वाले (पुण्यात्मा) राज़ाओं ने हाँथ में चक्र धारण करने, चन्द्रमा के समान सुन्दर नरकासुर के विजेता लक्ष्मी से युक्त वक्षस्थल वाले तथा सत्यभामा में अनुरक्त कृष्ण का उनके गुणों की दृष्टि से अनुमान किया"।

इतना ही नहीं माघ ने बहुज्ञता के परिचय में उत्प्रेक्षा का चमत्कार भी नहीं छोड़ा। कवि की कल्पनाशीलता तथा प्रतिभा का वास्तविक चमत्कार तो उत्प्रेक्षा के प्रयोग में दिखाई देता है। नारद और श्रीकृष्ण की कान्तियाँ परस्पर दूसरे पर पड़ने के कारण दोनों एक वर्ण के हो जाते हैं–

"प्रफुल्लतापिच्छनिभैरभीषुभिः शुभैश्च सप्तचछदपाशुपाण्डुभिः।
परस्परेणच्छुरिता मलच्छवी तदैक वर्णाविव तौ वभूवतुः।।"[2]

कविवर माघ का कहना है कि स्वाभावोक्ति को अलङ्कार माना जाय अथवा न माना जाय, परन्तु स्वाभावोक्ति के चित्रण से काव्य में विशेष सौन्दर्य अवश्य आ जाता है। कालिदास तो स्वाभावोक्ति के चित्रकार माने जाते है, परन्तु उनके बाद धीरे–धीरे इसका प्रयोग कम होने लगा। अलङ्कृत शैली के कवियों में माघ ही एक ऐसे कवि हैं, जिनके काव्य में स्वाभावोक्ति का वर्णन पर्याप्त रूप से मिलता है। कविवर माघ ने बिगड़ैल घोड़े का कितना स्वाभाविक चित्रण किया है–

---

1. शिशु0 – 12/3
2. शिशु0 – 1/2

"दुर्दान्तमुत्प्लुत्य निरस्तसादिनं सहासहाकारमलोकयज्जनः।

पर्याणतस्स्रस्तमुरोविलम्बिनस्तुरङ्गमं प्रद्रुमतेकयाादिशा।।"[1]

अस्तु, महाकवि माघ आलङ्कारिक चित्रणों में अत्यन्त निपुण है। उनकी आलङ्कारिक छटा प्रशंसनीय है। कहीं–कहीं पर अलङ्कारिता से कृत्रिमता का समावेश हो जाता है तथा काव्य की प्रासादता एवं स्वाभाविकता व्याधातित हो जाती है। इस प्रकार अन्य कवियों की अपेक्षा माघ अलङ्कार योजना में अधिक सफल रहा है। इनकी अलङ्कार योजना में भाव जागृति और भाषा को अलङ्कृत करने का विशिष्ट गुण विद्यमान है। माघ का कहना है कि वर्णनों की दीर्घता में यदि अलङ्कारों का बहुल प्रयोग किया जाय तो काव्य की सहजता नष्ट हो जाती है। ऐसे स्थल पाण्डित्य का भले ही निर्वाह करते रहे, किन्तु पाठक के हृदयस्थित रसतन्तु को नहीं छू पाते। माघ काव्य का सम्पूर्ण उन्नीसवां सर्ग विविध काव्यबन्धों के कारण चित्रकाव्य का रूप प्रस्तुत करता है जैसा कि भारवि ने अपने किरातार्जुनीयम् के 15वें सर्ग में 21 प्रकार के चित्रमय काव्यवंधों का वर्णन करके काव्य को श्रेष्ठ अलङ्कृत श्रेणी के काव्यों में खड़ा कर दिया वैसे ही माघ ने भी 28 प्रकार के चित्रालङ्कारों का प्रयोग कर भारवि से आगे निकल जाने का प्रयास किया। माघ ने चित्रालङ्कारों के भेदोपभेदों के प्रयोग में अपनी विशेषज्ञता की पराकाष्ठा कर दी है–

माघ ने भारवि के समान ही चित्रबन्धों प्रदर्शन किया गया है। ऐसे चमत्कृति जन्य उदाहरणों को देखकर यह विदित होता है कि चित्रबन्धों पर माघ का विशेष बल है। इन चित्रालङ्कारों में कहीं एकाक्षर श्लोक कहीं द्वयक्षर श्लोक कहीं सर्वतोभद्र, चक्रबन्ध, द्वयर्थक श्लोक, त्रयर्थक श्लोक आदि चित्रालङ्कारों का व्यूह ही रच दिया गया है। एकाक्षर श्लोक का उदाहरण देखिए–

"दाददो दुद्ददुद्दादी दादादो दूददीददोः।

दुद्दादं दददे दुद्दे ददाददददोऽददः।। शिशु0 – 19/114

माघ ने भारवि के चित्रवंध का आधार लेकर ही द्वयक्षर श्लोक का भी वर्णन किया। उनकी शाब्दीक्रीड़ा का एक विचित्र उदाहरण देखिए– जिसमें 'भ' और 'र' के अतिरिक्त कोई और तीसरा अक्षर ही नहीं है–

द्वयक्षर — "भूरिभिर्भारिभिभीरैर्भुभारैरभिरेभिरे।

भेरोरेभिभिरभ्राभैरभीरूभिरिभैरिभाः।।" शिशु० — 19/66

"अर्थात् हाथियों का द्वन्द्व युद्ध आरम्भ हो गया था। हाथी हाथी से गुंथ रहा था। उनकी संख्या बहुत थी। उनकी पीठ पर पताका एवं अन्यान्य युद्ध सामग्री लदी हुई थी। वे देखने में भयानक मेघ जैसे काले और महाकाय होने के कारण भूभार की तरह जान पड़ते थे।"

यह तो हुई अक्षरों की करामात अब देखिए— श्लोक की पहली पूरी पंक्ति ही दूसरी पंक्ति बन गयी है—

समुद्रः — सदैव संपन्नवपू रणेषु स दैवसंम्पन्नवपूरणेषु।

महो दधे स्तारिमहानितान्तं, महोदधेऽस्तारिमहा नितान्तम्।। शिशु० 19/118

ऐसे ही विभिन्न् चित्रवन्धों के और भी वर्णन देखिए —

गोमूत्रिकाबन्धः —

प्र वृ ते वि क स द्धा नं सा ध ने प्य विषादिभिः।

व वृषे वि क न द्दा नं यु ध मा प्य वि षा णि भिः।। शिशु० 19/46

मुरजबन्ध :—

सा से ना ग म ना र म्भे

र से ना सी द ना र ता।

ता र ना द ज ना म त्त

धी र ना ग म ना म या।। शिशु० 19/29

सर्वतोभद्रः—

स का र ना ना र का स

का य सा द द सा य का

र सा ह वा वा ह सा र

ना द वा द द वा द ना शिशु० 19/27

प्रतिलोमानुलोमपादः—

नानाजावजानाना सा जनौघघनौजसा।

परानिहाऽहानिराथ तान्वियाततयाऽन्विता।। शिशु० 19/40

युग्म :—

अधिनागं प्रजविनो विकसत्पिच्छचारवः।
पेतुर्बर्हिणदेशीयाः शङ्कवः प्राणहारिणः।। शिशु0 19/40

समुद्गयमक :—

अयशोभिदुरालोके कोपधामरणादृते।
अयशोभिदुरालोके कोपधा मरणादृते।। शिशु0 19/59

असंयोग :—

निपीडनादिव मिथो दानतोयमनारतम्।
वपुषामदयापातादिभानामभितोऽगलत्।। शिशु0 19/68

अर्धभ्रमक :—

अभी क म ति के ने द्धे
भी ता न न्द स्य ना श ने।
क न त्स का म से ना के
म न्द का म क म स्य ति।। शिशु0 19/72

द्व्यक्षरः—

नीलेनानालनलिननिलीनोल्ललनालिना।
ललनालालनेनालं लीलालोलेन लालिना।। शिशु0 19/84

और भी—

विभावि विभवी भाभो विभाभावी विवोविभीः।
भवाभिभावी भावावो भवाभावो भुवो विभुः।। शिशु0 19/86

गूढ़चतुर्थः—

शरवर्षी महानादः स्फुरत्कार्मुककेतनः।
नीलच्छविरसौ रेजे केशवच्छलनीरदः।। शिशु0 19/96

अतालव्यः—

नामाक्षराणां मलना मा भूद्भर्तुरतः स्फुटम्।
अगृह्वत पराङ्गानामसूनस्त्रं न मार्गणाः।। शिशु0 19/110

अर्थत्रयवाची—

सदामदबलप्रायः समुद्धतरसो बभौ।
प्रतीतविक्रमः श्रीमानहरिर्हरिरिवापरः।। शिशु0 19/116

श्लोक प्रतियमकम् —

निध्वनज्जवहारीभा भेजे रागरसात्तमः।
ततमानवजारासा सेना मानिजनाहवा।। शिशु0 19/34

गतप्रत्यागतम्—

तं श्रिया घनयाऽनस्तरूचा सारतया तया।
यातया तरसा चारूस्तनयाऽनघया श्रितम्।। शिशु0 19/88

इसी प्रकार विभिन्न चरणों या पादों के अनुलोम–प्रतिलोम के तो बीसों उदाहरण कवि ने प्रस्तुत किये हैं। सर्वतोभद्र, गोमूत्रिकाबंध, अर्थभ्रमक, असंयोग, समुदयमक, मुरजवन्ध, प्रतिलोमानुलोम, गूढ़चतुर्थ तीन अर्थवाची, चार अर्थवाची आदि विकटाति विकटबंधों की रचना कर कवि ने अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य एवं अद्भुत कवित्व शक्ति का जो प्रदर्शन किया है उसका लोहा संस्कृत समाज में सदा माना जाता रहेगा। भारवि की रचना में यह शैली इतनी दुरूह नहीं थी। अतएव उक्त बंधों के प्रयोग से भारवि की कृति रम्यता से हीन नहीं हुई एवं बृहत्त्रयी में उसे प्रथम स्थान मिला था। इनके वर्णनों में सर्वत्र अलङ्कारों एवं अप्रस्तुत विधानों का आधिक्य देखा जाता है।[1] कविवर माघ में पाण्डित्य प्रदर्शन का शौक दुर्निवार था। कवित्व की सहज शक्ति के साथ ही उनमें पाण्डित्य का स्वाभिमान एवं दूसरों को स्तम्भित करने की इच्छा भी पूर्णतः नामरूप थी। अपने अकेले महाकाव्य को उन्होंने सर्वसाधन सम्पन्न सम्राट् के लाड़ले किन्तु दुराराध्य एकलौते बेटे की भांति अपनी समस्त शक्तियों एवं समृद्धियों से लालित पालित किया है। अपने पूर्ववर्ती कवियों एवं उनकी कृतियों की समस्त विशेषताओं को आक्रान्त करने की उनमें प्रबल स्पर्धा पायी जाती है। और उनको अपने महाकाव्य में भी आत्मसात किया है, किन्तु उनसे बीस करके उन्नीस करके नहीं। कहीं पर उसी रूप और प्रकार का अनुसरण करके उसे रख दिया है, तो कहीं पर बिल्कुल नये ढंग और नयी रीति से उसका मुकाबला किया हैं। विविध चित्रबंधों की इस विकट कल्पना में एक निपुण वैयाकरण के नाते जो कृतकार्यता माघ को मिली है वह भारवि को नहीं मिल सकी है। माघ के कुछ विकट बंधों के नमूने ऐसे है जिन्हें देखकर पाठक को दांतो तले अंगुली दबानी पड़ती है। यद्यपि इन बंधों से क्लिष्ट कल्पनाओं एवं बलपूर्वक ग्रहण की जाने वाली अर्थशक्ति का सौन्दर्य घटिया कोटि का हो गया है, किन्तु कवि ने जिस दृष्टिकोण से यह कठिन कार्य किया है, उसमें तो वह पर्याप्त सफल माना ही जायेगा। इस प्रकार युद्ध चित्रण की दृष्टि से माघ काव्य सर्वथा सफल है। उन्नीसवें सर्ग के युद्ध चित्रण में चित्रालङ्कारों के मोह में पड़कर कवि ने दुरूहता को अपने

---

1. भारवि प्रणीत् – 'तरणीश झा'

काव्य में प्रश्रय दिया है। विकट युद्ध का विकट शैली में वह वर्णन आज के आलोचक को पसन्द नहीं आएगा, किन्तु चित्रकाव्य की रचना करते हुए कवि ने काव्य परम्परा का पालन किया है। वह चित्रण उसके युग की मान्यताओं के अनुरूप हैं, शेष स्थलों का वर्णन स्वाभाविकता, ओजस्विता तथा सजीवता की दृष्टि से संस्कृत साहित्य के श्रेष्ठ युद्ध वर्णनों से टक्कर ले सकता है। कविवर माघ ने भारवि से समान क्षेत्र में विशेषता प्राप्त करने के लिए पद–पद पर उन्हीं योजनाओं को ग्रहण किया है जिनका सग्रन्थन भारवि की रचनाओं में पहले से ही था।

भारवि और माघ दोनों की श्रृङ्गारप्रियता, शब्दाऽम्बर और चित्रवंध की ग्रन्थियाँ भले ही युगानुरूप रही हैं पर किसी भी देश के काव्य के इतिहास में इनको शाश्वत् गौरव नहीं प्राप्त हो सकता। माघ के सामने भारवि का ग्रन्थ और उससे उपलब्ध भारवि का यश एवं ख्याति का चित्र उपस्थित था। उसी के सामने उसी प्रकार का विषय चयन करने के लिए माघ ने अपने काव्य का निर्माण किया। इन सब बातों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि माघ भारवि के बाद हुए हैं और उसने भारवि को अपना प्रतिस्पर्धी मानकर अपने काव्य में एक बहुत बड़ा चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। ठीक भी है बड़ों की प्रतिस्पर्धा कभी–कभी उन्नति का कारण बन जाती है। डा० व्यास के शब्दों में– कालिदास मूलतः कवि है, भारवि राजनीति के व्यवहारिक ज्ञाता और भट्टि कोरे वैयाकरण किन्तु माघ सर्वत्र पाण्डितय लेकर उपस्थित होते हैं। माघ भारवि और भट्टि दोनों के परवर्ती है। महाकवि माघ केवल एक कवि नही थे, बल्कि सर्वशास्त्र निष्णात् विद्वान थे। भारवि में जो राजनैतिक उद्भटता तथा श्रीहर्ष में जो दार्शनिक उदभटता उपलब्ध होती है, परन्तु माघ में सर्वशास्त्रों का जो परिनिष्ठित ज्ञान है वह उन दोनों कवियों में कहाँ? उनमें भी पाण्डित्य है परन्तु वह केवल एकाङ्गी हैं परन्तु माघ का पाण्डित्य सर्वगामी है, माघ के लिए प्रयुक्त महावैयाकरण शब्द उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य का ही द्योतक है।[1]

---

1. तदीसितारं चेदीनां भवांस्तमवमंस्त मा।
निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्तः स्वरानिव।। शिशु० 2/95

अपने व्याकरण ज्ञान को उन्होंने प्रत्येक सर्ग में वर्णित किया। साहित्य के तुल्य व्याकरण पर भी उनका एकाधिकार था। व्याकरण की नीरस परिभाषाओं को उन्होंने मनोहर उपमाओं के माध्यम से प्रयोग कर वर्णित किया। ऐसे–ऐसे शब्दों को गढ़कर प्रयोग किया कि जिससे छन्दों की श्रुतिमधुरता बढ़ गयी है। व्याकरण सम्बन्धी पाण्डित्य के लिए उद्धरणों की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि शायद ही ऐसा कोई श्लोक हो जिनमें नूतन सुघड़ शब्दों का प्रयोग न किया गया हो।

माघ का श्रुति विषयक ज्ञान अत्यन्त प्रशंसनीय है। प्रातःकाल के समय इन्होंने अग्निहोत्र का सुन्दर वर्णन किया है। हवन कर्म में आवश्यक सामधेनी ऋचाओं का उल्लेख किया है।

प्रतिशरणमशीर्ण ज्योतिरग्न्याहितानां
विधिविहितविरिब्धैः सामधेनीरधीत्य।
कृतगुरूदुरितौघध्वंसमध्वर्युवर्यै–
र्हुतमयमुपलीढे साधु सांनाय्यमग्निः।। शिशु0 11/41

उनका कहना है कि – एक पद में होने वाला उदात्त स्वर अन्यस्वरों को अनुदात्त बना डालता है। स्वर विषयक इस प्रसिद्ध नियम का उल्लेख भी माघ ने बड़ी ही विद्वत्ता पूर्ण ढंग से किया है। "निहन्त्यरीनेकपदे यउदत्तः स्वरानिव" शिशु0 2/95 चौदहवें सर्ग में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का बड़ा ही विस्तृत तथा सुन्दर वर्णन माघ के विशिष्ट वैदिकत्व का पर्याप्त परिचायक है।[1]

कविवर माघ का दार्शनिक ज्ञान भी अत्यन्त प्रौढ़ प्रतीत होता है। राजसूय यज्ञ की चर्चा के प्रसङ्ग में इन्होंने अपने मीमांसा तथा वैशेषिक दर्शनों की चर्चा की है। चौदहवें सर्ग के राजसूय यज्ञ के प्रकरण में व्याकरण, वेद, कर्मकाण्ड एवं दान की छोटी–छोटी चर्चाओं से काव्य को ओत–प्रोत कियाहै। कविवर माघ ने नास्तिक दर्शनों में बौद्धमत की चर्चा अनेक अवसरों पर की हैं तथा जैन मत के आदि

---

1. नाञ्जसा निगदितुं विभक्तिभिर्व्यक्तिभिश्च निखिलाभिरागमे।
तत्र कर्मणि विपर्यणीनमन्मन्त्रमूहकुशलाः प्रयोगिणः।। शिशु0 14/23

प्रवर्तक महावीर स्वामी के प्रति भी एक स्थान पर आदर व्यक्त किया है। यहाँ पर विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि कवि ने पुराणवादियों की भांति महावीर स्वामी को भी भगवान् विष्णु का एक अवतार स्वीकार किया है।

इतना ही नहीं स्थान–स्थान पर संगीत के मूल तत्त्वों का निदर्शन कराकर अपनी अभिज्ञता का पूर्ण परिचय दिया। माघ का ज्ञान ललित कलाओं में भी ऊँची कक्षा का था। वे संगीत शास्त्र के सूक्ष्म विवेचक थे। प्रातः संजीवन के समय में पञ्चम तथा ऋषभ को छोड़कर षड्ज स्वर अलापने का उल्लेख है। इतना ही नही नृत्यकला एवं नाट्य कला पर भी उन्होंने अधिकार प्राप्त किया था। कवि की संगीत निपुणता निम्नांकित श्लोकों से प्रकट होती है–

रणद्भिराघट्टनया नभस्वतः पृथग्विभिन्न श्रुतिमण्डलैः स्वरैः।
स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनामवेक्षमाणं महतीं मुहुर्मुहुः।। शिशु0 1/10

श्लोष की सुन्दर छटा के साथ–साथ कवि ने नाट्यशास्त्रीय ज्ञान का परिचय देकर अपनी पकड़ सिद्ध की है जो उच्च कोटि का है–

दधतस्तनिमानमानुपूर्व्या बभुरक्षिश्रवसो मुखे विशालाः।
भरतज्ञकविप्रणीतकाव्यग्रथिताङ्का इव नाटक प्रपञ्चाः।। शिशु0 20/44

माघ की इस राजनीतिक बुद्धि का परिचय शिशुपालवध के द्वितीय, चतुर्दश, एकोनविंश तथा विंश सर्गों में प्राप्त होता है। माघ को राजनीति शास्त्र विषयक ज्ञान भी था। भारवि व्यावहारिक राजनीति के जानकार हैं और उनका ज्ञान शास्त्रों के गम्भीर अनुशीलन की अपेक्षा अपने लम्बे अनुभव पर ही मुख्य रूप से आधारित प्रतीत होता है, जबकि माघ भारवि की अपेक्षा राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त पक्ष के विशेषज्ञ मालूम होते हैं। उनके राजनीतिक पक्ष को देखकर विदित होता है कि उन्होंने कौटिल्य के अर्थशास्त्र का सम्यक् अध्ययन किया था–

"मम तावन्मतमिदं श्रूयतामङ्ग? वामपि।
ज्ञातसारोऽपि खल्वेकः सन्दिग्धे कार्यवस्तुनि।।" किरात0 – 2/12

"मेरी तो यह राय (सम्मति है)। हे मान्यवरो? आप दोनों की राय भी मुझे सुननी (आवश्यक) है, क्योंकि सारभूत तत्त्वार्थ को जानने वाला भी अकेला व्यक्ति कर्तव्य कार्य में संदिग्ध ही रहता है।"

सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वाङ्गस्कन्धपञ्चकम्।
सौगतानामिवात्मान्यो नाऽस्ति मन्त्रो महीभृताम्।। शिशु0 2/28

"जैसे बौद्धों के मत में सभी शरीरों में रूपादि पाँच स्कन्धों को छोड़कर अन्य कोई आत्मा (नाम का पदार्थ) नहीं है (परन्तु पॉच स्कन्ध ही आत्मा हैं) उसी तरह से (राजाओं के कर्त्तव्य–रूप–सन्ध्यादि) समस्त कार्यों में सहायादि पॉच अङ्गों के अतिरिक्त कोई दूसरा मंत्र नहीं है (किन्तु सहायादि पॉच अङ्ग ही मन्त्र हैं)"।

बुद्धिशस्त्रः प्रकृत्यङ्गो धनसंवृतिकञ्चुकः।
चारेक्षणो दूतमुखः पुरूषः कोऽपि पार्थिवः।। शिशु0 2/82

"बुद्धि ही जिसका शस्त्र है, स्वामी अमात्यादि प्रकृतियाँ ही जिसके अवयव हैं मन्त्र को गुप्त रखना ही जिसका कवच है, गुप्तचर (खुफिया) ही जिसकी आँखे है और दूत ही जिसका मुख है इस प्रकार का राजा कोई विलक्षण पुरूष ही होता है।"

भारवि के समान माघ कार्यसिद्धि के पांचों अंङ्गो से परिचित हैं। राजनीतिशास्त्र–सम्मत राजा के 12 भेदों, सात राज्याङ्गों, शत्रुपक्ष के अट्ठारह तीर्थों का उल्लेख मात्र माघ काव्य में हुआ है। सन्धि विग्रहादि गुणों के अवसरों पर उन्होंने अपनी युक्तियों तथा परस्पर विरोधी तर्कों से उन्हें इतना सुगम बना दिया है, कि उनकी सूझ–बूझ पर विस्मित होना पड़ता है। उद्धव और बलराम के मुख से तथा युधिष्ठिर और भीष्म के मुख से भी उन्होंने राजनीति की जटिल से जटिल समस्याओं पर ऐसे उपादेय हल प्रस्तुत किये हैं जो आज प्रजातंत्र के युग में उसी प्रकार से प्रयोग में लाये जा सकते है। प्रजा की सर्वविध हित रक्षा और राजा के विशेष व्यापक अधिकारों को ध्यान में रखते हुए उन्होने जिस राजतंत्र की समर्पित राजनीति की चर्चा अपने महाकाव्य में की है। राजनीति की जटिल गुत्थियों पर उन्होने जो प्रसङ्गवार विचार प्रकट किये हैं, उससे ज्ञात होता है कि उनका यह ज्ञान कोरा किताबी ज्ञान नहीं था। शिशुपालवध का द्वितीय सर्ग कवि की राजनीतिज्ञता का अच्छा निदर्शक है। राजनीतिक दाँवपेंचों की ऐसी कोई चीज उसमें नहीं छूटने पायी है, परस्पर विरोधी विचारों को आमने–सामने रखकर उन्होंने

उचित पक्ष के निर्णय का जो प्रसङ्ग उपस्थित किया है– उससे पाठकों को भी दैनिक कार्यो में आवश्यक राजनीति का अपेक्षित ज्ञान हो जाता है–

सम्पदा सुस्थिरंमन्यो भवि स्वल्पयाऽपि यः।
कृतकृत्यो विधिर्मन्ये न वर्धयति तस्य ताम्।। शिशु0 2/32

जो व्यक्ति थोड़ी सी सम्पत्ति से अपने को कृतकृत्य मान लेता है, कृतार्थ हुए ब्रह्मा भी उस पुरूष की उस सम्पत्ति को नहीं बढ़ाते हैं, ऐसा मैं मानता हूँ। सेना के विभागों तथा उपविभागों के साथ–साथ दुर्ग रचना, अभियान, युद्धकला अथवा शस्त्रास्त्रों की मारपीट के अच्छे–अच्छे गुण कवि को बखूबी पसन्द थे। अट्ठारहवें, उन्नीसवें, बीसवें सर्ग के श्लोकों में कवि के इस विषय का परिपक्व ज्ञान मिलता है। गजों, अश्वों का क्या ही विलक्षण वर्णन किया है जो संस्कृत काव्यों में अन्यत्र दुर्लभ है। निम्न श्लोक में अश्वों के विषय में जो कुछ कहा वह उनके शालिहोत्री होने का पर्याप्त प्रमाण है।

"तेजोनिरोधसमतावहितेन यन्त्रा सम्यक्कशात्रयविचारवतानियुक्तः।
आर दृजश्चटुलनिष्ठुरपादमुच्चैश्चित्रं चकारपदमर्धपुलायितेन।।" शिशु0 5/10

"वेग (घोड़े की तीव्रगति) को रोकने तथा समता (घोड़े की गति को मध्यम करने) में सावधान अर्थात् कुशल, अच्छी तरह, कोड़े के तीन प्रकार के प्रयोग को जानने वाले घुड़सवार के द्वारा शास्त्रविधि से चलाया गया बड़ा अरबी घोड़ा, चञ्चल एवं कठोर पैर रखते हुए अर्धमण्डलाकार गति से विचित्र प्रकार से चलने लगा।"

ऐसे स्वाभाविक चित्रों को देखकर विदित होता है कि विभिन्न चेष्टाओं के वर्णन में कवि ने चित्रकार को चुनौती दे दी। सचमुच माघ बहुत बड़े कवि थे। साहित्य के विभिन्न अङ्गों रसों, छन्दों, अलङ्कारों की सिद्धहस्तता का कहना ही क्या है? यह तो कवि का अपना अधिकृत क्षेत्र है जिधर से मन ने चाहा उधर से आरम्भ किया और समाप्त किया।[1]

---

1. संस्कृत साहित्य का सरल सुबोध इतिहास – साहित्याचार्य जितेन्द्रचन्द्र भारतीय शास्त्री।

माघ में योगशास्त्र की प्रवीणता भी देखने को मिलती है। योग के सम्बन्ध में माघ ने कहा है– जो कोई योगीजन इस परमात्मा की उपासना करता है इसे अन्तश्चक्षु से देखता है उसका विकरण होने पर (नष्ट देह होने पर) फिर इस संसार में जन्म नहीं होता है वह मुक्त हो जाता है।

य इमं समाश्रयति, कश्चिदुदयविपदोर्निराकुलम्।
तस्य भवति जगतीह कुतः पुनरूद्भवो विकरणत्वमीयुषः।। शिशु0 15/9

उक्त वर्णन से यह विदित होता है कि माघ दर्शन शास्त्रों के भी पण्डित थे। उनकी बहुमुखी प्रतिभा का उन्मेष उसके काव्य में सर्वत्र पाया जाता है। "मैत्र्यदि चित्तपरिकर्मविदोविधाय" आदि[1] पद में चित्त, परिकर्म, सबीजयोग, सत्त्वपुरूषान्यता ख्याति योगशास्त्र के परिभाषिक शब्द है। आस्तिक वैदिक दर्शनों की कौन कहे इसी प्रकार नास्तिक दर्शनों में भी उनकी पकड़ थी जिससे उनका पाण्डित्य उभर कर सामने आया।

या न ययौ प्रियमन्यवधूभ्यः सारतरागमना यतमानम्।
तेन सहेह बिभर्ति रह स्त्री सा रतरागमनायतमानम्।।" शिशु0 4/45

यद्यपि इस प्रकार के भावों को प्रदर्शित करने से काव्य में ओजगुण का आधिक्य रहा है, परन्तु सर्वत्र नहीं। 13वें श्लोक से 16वें सर्ग के मध्य ही इस प्रकार की काव्य पीढ़ी का प्रदर्शन किया गया है। वह भी ज्ञात होता है, कि प्रयास सिद्ध यत्न है जिसका हृदय केवल पाण्डित्य प्रदर्शन ही रहा है। जैसा कि उपर्युक्त श्लोक में कहा गया कि– समाधि धारण करने वाले योगी रैवतक पर्वत पर मैत्री, करूणा, मुदिता, उपेक्षा के द्वारा पञ्च क्लेशों को त्याग कर परमतत्त्व को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार माघ का अधिकार सभी क्षेत्रों में था। इसमें प्रशंसा की क्या बात? क्योंकि इस युग में उसी कवि को प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी जो पाण्डित्य के अथाह ज्ञान को अपने गहन शास्त्रों की गूढ़ बातों में स्थान देता था। इनकी कालिदास के पाण्डित्य से क्या तुलना? कालिदास तो प्रतिभा के धनी थे पाण्डित्य के नहीं। पाण्डित्य में तो माघ का कोई सानी ही नहीं था।

---

1. शिशु0 – 4/55

माघ एक उत्कृष्ट रससिद्ध कवीश्वर थे यह सत्य है कि कुलगुरू कालिदास की भांति उनकी कविता सर्वसाधारणजनों की मनोभाविनी नहीं हो सकती किन्तु यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि माघ की महत्ता समीक्षकों की दृष्टि में कालिदास से कम नहीं है। इतना ही नहीं नाटककार भवभूति ने कालिदास से प्रभाव ग्रहण करते हुए सीता को चित्रित किया।[1] जैसे कालिदास ने महाभारत से शकुन्तला का आख्यान लेकर उसे अपनी स्वतंत्र प्रतिभा से बिल्कुल नया रूप दिया है– यह सत्य है कि कालिदास की विरासत को परवर्ती कवियों ने रीति, रस, अलङ्कार इत्यादि के माध्यम से जो मनोऽभिराम सामञ्जस्य ग्रहण किया था उसका वे उचित रूप से पालन नहीं कर सके। वक्तव्यवस्तु के औचित्यपूर्ण उपन्यास एवं भावों की मार्मिकता की रक्षा की ओर उनका ध्यान नहीं गया और वे काव्य को अलङ्कृत करने में ही अपनी प्रतिभा का और पाण्डित्य का उपयोग करने लगे। परिणाम यह हुआ कि कालिदास की 'वागर्थाविवसम्पृक्तौ।' वाली प्रतिज्ञा का पालन उनसे नहीं हो सका और उन्होंने काव्य पुरूष को चमत्कारों एवं अलङ्कारों से इतना भाराक्रान्त बना दिया कि साहित्य वधू के प्राणों का स्वाभाविक उच्छ्वास प्रतिहत हो गया।

भारवि, माघ एवं श्रीहर्ष इन तीनों महाकवियों के प्रयास से संस्कृत में अलङ्कृत शैली का विकास हुआ और भाषा के कलात्मक श्रृङ्गार अर्थालङ्कार की विचित्र विच्छित्तिपूर्ण योजना तथा शब्दालङ्कार श्लेष–यमक आदि के निर्बाध प्रयोग से कवि सहृदय भावकों की योजनाओं को चुनौती देने लगे। कालिदास यदि विद्वज्जनों एवं जनता दोनों के प्रतिनिधि कवि थे तो माघ कवियों के कवि तथा पण्डितों के पथप्रदर्शक थे। कवि में ऐसा दुर्निवार अहं था जिससे विवश होकर उसे अपने बहुश्रुतत्त्व पाण्डित्य और चमत्कारी प्रतिभा का परिचय हठात् देना पड़ा। इसी अहं के वशीभूत होकर उन्होंने किरातार्जुनीयम् की शैली, वृत्ति और शब्दावली का अनुसरण भी कियाहै– निःसन्देह कवि के हृदय में यह प्रतिभा जगी हुई थी कि किरातार्जुनीयम् की ख्याति और लोकप्रियता को दबाकर शिशुपालवध अपनी प्रतिष्ठा प्राप्त करे। उनमें भवभूति की सी गर्वोक्ति, कालिदास की सी कमनीय स्वच्छन्दता और बाण की निश्चल आत्माभिव्यक्ति का अभाव सा मिलता है। उन्होंने अपनी

दार्शनिक, शास्त्रीय, साहित्यिक मान्यताओं को समन्वयवाद की झीनी चादर से लपेटने का भी कही–कहीं प्रयत्न किया है। यह निश्चित है कि माघ विशुद्ध वैदिक सनातन धर्मी परम्परा में पैदा हुए इसलिए उन्होंने जैन, बौद्ध मान्यताओं को संरक्षण प्रदान किया। यशोलिप्सु कवि ने बुद्धि कौशल द्वारा धार्मिक समन्वय स्थापित करने में वही चातुर्य किया जो भारवि के किरातार्जुनीयम् के प्रति किया था। भारवि की भांति माघ ने भी युग का प्रतिनिधित्व करते हुए शिशुपालवध में कथावस्तु को संक्षिप्त कर प्राकृतिक वर्णनों के चाकचिक्य द्वारा काव्य को मण्डित किया।[1] इस शैली में कविता अलङ्कारों के भार से लदी हुई है। श्लोक के प्रयोग औरचित्रकाव्य के प्रदर्शन पाठकों को बौद्धिक श्रम करने के लिए बाध्य करते हैं। माघ ने इस अलङ्कृत शैली को अपने पाण्डित्य से जितना उत्कृष्ट बनाया उतना किसी अन्य कवि ने नहीं। सचमुच वे माघ महीनें की भाँति पण्डिाम्मन्य नवयुवकों को भी कँपा देने वाले थे। यही कारण थ कि कितने पण्डित लोग आजीवन माघ की इस एक मात्र अनूठी कृति के अनुशीलन में ही अपना समग्र जीवन लगा देते थे। संस्कृत समाज में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि "मेघे माघे गतं वयः"। इतना ही नहीं 'माघे सन्ति त्रयोगुणाः' कहते हुए भारतीय विद्वद्गणों ने कालिदास की उपमा, भारवि का अर्थगौरव व दण्डी के पदलालित्य की सराहना करते हुए महाकवि माघ में इन तीनों का सन्निवेश बताया। "उपमा कालिदासस्य"

यद्यपि महाकवि माघ में उपर्युक्त सभी विशेषताएं सन्निविष्ट हैं, किन्तु वे उन कवियों की तरह नहीं है। निम्नांकित उदाहरणों से उनकी सभी विशेषताएं पूर्णतया स्पष्ट हो जायेगी। जो काव्यरसिकों द्वारा भुलाई नहीं जा सकती। सुनहला पीताम्बर धारण करने वाले घनश्याम कृष्ण जी की उपमा माघ ने बऽवाग्नि की पीली लपटों से व्याप्त नीले नीरनिधि से दी है।

"स तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बराः कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः।
विदिद्युते वाऽवजातवेदसः शिखाभिराश्लिष्ट इवाम्भसां निधिः।।" शिशु0 1/20

---

1. संस्कृत साहित्य चिंतन – डा0 प्रभुदयाल अग्निहोत्री

इस प्रकार पूर्ववत् कही गयी 'उपमा कालिदासस्य' सर्व विदित सूक्ति में अत्युक्ति एवं माघ के प्रति पक्षपात की कुछ गन्ध सूक्ष्म समालोचक को भले ही मिले, किन्तु वह भी इस बात को मानने से इन्कार नहीं करेगा कि माघ में उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर उपमाएं गुरू से गुरूतर एवं सूक्ष्म से सूक्ष्मतर मधुर से मधुरतर ललित पदों का सन्निवेश सभी भरपूर मात्रा में मिलते हैं। इस योजना में भी वे अपने आदर्श रहे भारवि का भी अतिक्रमण कर गये। जैसा कि हरिहर ने लिखा है— सुभाषितावली में—

"नैतच्चित्रमहं मन्ये माघमासाद्य यन्मुहुः।
प्रौढ़ताति प्रसिद्धावि भारवेरवसीदति।।

अर्थगौरव की दृष्टि से यद्यपि भारवि विख्यात है, किन्तु माघ–काव्य में भी अर्थगौरव का अभाव नहीं हैं।यह निःसन्देह सत्य है कि माघ के अर्थगौरव में पाण्डित्य प्रदर्शन की अधिकता केवल भारवि को नीचा दिखाने की भावना है।

बलभद्र श्रीकृष्ण से कह रहे है कि अनियंत्रित बल और शास्त्रानुसारी बल में बहुत अन्तर है। प्रकाश और अन्धकार की भाँति ये एक स्थान पर कैसे रह सकते हैं।

"समानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः"। शिशु0

यद्यपि माघ की कविता में उपमा, अर्थगौरव तथा पदलालित्य का मञ्जुल समन्वय है फिर भी माघ की अपनी एक निजी विशेषता है वह है किसी वर्णन को अलङ्कृत करने की कला। प्रत्येक वर्णन तथा प्रत्येक भाव साधारण शब्दों में न होकर अलङ्कारों से विभूषित भाषा में प्रकट किया गया है। माघ की कविता कृत्रिम नहीं है, अपितु अलङ्कृत है। वह युग ही पाण्डित्य का युग था। सामान्य सहृदय को रिझाना कविकर्म की कसौटी नहीं थी, बल्कि शास्त्रवेत्ता पण्डितों के हृदय में किसी भाव को उतारना ही कवि का मुख्य उद्देश्य था।[1]

---

1. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास – आचार्य बलदेव उपाध्याय पृ0 115

माघ की शब्दार्थ योजना में अर्थ को सद्यः अभिव्यक्त कर देने की क्षमता नहीं है, जो कालिदास में है। कालिदास के समानान्तर माघ का भी यश प्रसृत हो रहा था, क्योंकि समय की यही मांग थी। युग का यही धर्म था।[1] फलतः माघ ने भी उसी धर्म का अनुसरण किया। इसमें न तो कहीं अनौचित्य है, न अस्वाभाविकता। इसमें कहना ही क्या? माघ के पास विविध शास्त्र ज्ञान था ही वाणी उनके वशवर्तिनी थी इतनें में पदलालित्य के साथ–साथ अर्थगौरव होना उनके विशाल शब्दकोष का परिचायक था। इसलिए तो कहा गया है कि "नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते" । (शिशुपालवध)

शिशुपालवध महाकाव्य का नवसर्ग समाप्त होने पर कोई ऐसा नया शब्द नहीं रह जाता है जिसका प्रयोग कविता के क्षेत्र में कहीं अन्यत्र हुआ हो। अस्तु माघ का अर्थगौरव अपरिमित एवं चिंतनशील है। उनकी अर्थपूर्ण उक्तियाँ काव्य को अधिक प्रभावी बनाने में समर्थ हुई हैं– अर्थगौरव का एक सुन्दर उदाहरण देखिए–[2]

प्रतिकूलतामुपगते हिविधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता।
अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यतः करसहस्त्रमपि।। शिशु० 9/6

उक्त उदाहरण को देखकर विदित होता है कि माघ अर्थगाम्भीर्य को विशेष महत्त्व देते हैं। उनकी दृष्टि में अर्थगाम्भीर्य से युक्त प्रबन्ध काव्य दुष्कर होता है "अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धोदुरूदाहरः"। उनकी दृष्टि में सुयोग्य कवि को प्रसाद माधुर्य और ओज तीनों गुणों का आश्रय लेना चाहिए। नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः"।[1] इतना ही नहीं माघ का यह भी कहना है कि गुणों का सामञ्जस्य वैदर्भी और गौड़ी रीति से होता है। युग का प्रभाव ही कुछ ऐसा था कि कठिन शैली के काव्य की महिमा बढ़ती थी। ऐसी स्थिति में युगानुरूप धारा में अपरिचित पद, लम्बे समास अनेकार्थक श्लेष यमकादि अलङ्कार और बहुविध चित्रबन्धों की जटिलता से माघकाव्य गौरवान्वित है।[2]

---

1. संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास – रामजी उपाध्याय पृ0 315
2. माघ प्रणीत शिशुपालवध – डा0 देव नारायण मिश्र

वस्तुतः अर्थगम्भीरता माघ का विशेष गुण है। इसी प्रकार पदमाधुर्य की निपुणता तो कोई माघ से ही आकर सीख सकता है। पदलालित्य के विषय में तो दण्डी व श्रीहर्ष विशेष प्रसिद्ध है "नैषधे पदलालित्यम्" अथवा "दण्डिनः पदलालित्यम्" की प्रसिद्धि होते हुए महाकवि माघ किसी से कम नहीं है। उनकी कोमलकान्त पदावली हठात् मन को आकृष्ट कर लेती है। माघ की पद योजना तो इतनी सुगठित है एवं ललित है, कि कोई भी शब्द अपने स्थान से हटाया नहीं जा सकता। क्योंकि पदलालित्य वहीं होता है। जहाँ पदों में परस्पर मैत्री होती है। पद इतने जमे–जमाये एवं नपे तुले होते हैं कि वे अपने स्थान से हटाये नहीं जा सकते। उनके पदों में "नवपलाशपलाशवनं पुरः"[1] तथा "वदनसौरभ लोलपरिभ्रमत्" की तरह शब्दों की संगीतात्मक एक रसता वीणा के तारों की झङ्कार की भाँति अर्थावबोध की प्रतीक्षा किये बिना ही हृदय को रसाप्लुत बनाती है। यही वह रमणीयता है जो प्रतिक्षण एक नये रूप में आकृष्ट करती हो। "क्षणे–क्षणे यन्वतामुपैति तदेवरूपं रमणीयतायाः"।[2] निःसन्देह ऐसा लालित्य जो माघ में है वह दण्डी में भी विराजमान है। इससे यह प्रतीत होता है कि दण्डी को अपने इस सरल प्रसादगुणयुक्त शैली तथा पदलालित्य[3] की प्रेरणा भी अपने पूर्ववर्ती आख्यान ग्रन्थों यथा पंचतंत्र, सुबन्धु के वासवदत्ता बाण की कादम्बरी, भास के नाटकों और कालिदास के ग्रन्थों से अवश्य मिली हुई प्रतीत होती है। क्योंकि दण्डी लालित्य के पाण्डित्य प्रदर्शन में उलझकर किसी अभीष्ट अर्थ या भाव को मुख्य शब्द द्वारा व्यक्त न कर शब्द विस्तार द्वारा व्यक्त करते थे। एक उदाहरण देखिए– "क्षीणसारं सस्यम् ओषधयो बन्ध्याः न फलवन्तो वनस्पतयः क्लीवा मेघाः खिन्नस्त्रौमसः स्त्रवन्त्यः, पङ्कशेषाणि पल्वलानि, निःस्यन्दामुत्समण्डलानि, शून्यीभूतानि नगरग्रामस्ववंटपुट मेवामि।"

---

1. शिशु० – 6/2, 6/14
2. शिशु० – 4/17
3. दशकुमारचरित –

यह उल्लेखनीय है कि दण्डी समस्त पदावली का प्रयोग किसी वस्तु का वर्णन करने के लिए ही करते हैं। जिससे उसका सजीव चित्र स्वयं पाठक के सामने उपस्थित हो जाता है। इसीलिए आलोचकों ने दण्डी की मनोरम पदशय्या की मुक्त कण्ठ से प्रंशसा की है। ''दण्डिनः पदलालित्यम'' तो संस्कृत में एक प्रसिद्ध उक्ति ही बन गयी है। सचमुच दण्डी की गद्य की रूक्षता पद्योचित सरसता एवं सुकुमारता में परिवर्तित हो गयी है। जिसका एक उदाहरण दृष्टव्य है—

> ''निशास्वपि श्मसानमधिशयेः निजनिलयनिशितनिःशेषजने नितान्त निशीते निशीथे, अयुग्मशरः शरशयने शाययिष्यति सखे! सैषा सज्जनाचरिता सरणिः यदणीयसि कारणेऽनणीयानादरः संदृश्यते।'' दशकुमार चरित

उक्त उदाहरण से विदित होता है कि दण्डी प्रयत्न साध्य शैली के लिए विख्यात थे। सुबन्धु की भॉति दुरूह एवं कृत्रिम शैली उन्हें बिल्कुल प्रिय नहीं थी।[1] इसीलिए कवियों ने ''कविर्दण्डीकविर्दण्डी कविर्दण्डी न संशयः'' कहकर उनको प्रसिद्धि दिलाई। दण्डी के उक्त पद लालित्य की महाकवि माघ में भी कमी नहीं थी। उन्होंने शिशुपालवध में सुन्दर एवं लालित्य पूर्ण शब्दों की कल्पना की है। देखिए —

> ''कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजषण्डं, त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः,।
> उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं हतविधिलसितानां हा विचित्रो विपाकः।।''
> शिशु0 11/64

इन पदों में अनवद्य लालित्य का अनुभव सहृदय पाठक सहज ही कर सकते हैं। अनुप्रास और यमक की छटा होड़ दी जाय तो भी कर्णवुहरों में अमृत रस घोलने वाली मधुर शब्दावली ही पर्याप्त काव्यानन्द दे जाती है। माघ ने कविता कामिनी के सर्वविध श्रृङ्गारों को हस्तगत किया था।[2] वे भट्टि की भांति व्याकरण के सूत्रों का उदाहरण बनाने के लिए नहीं बैठे थे और न ही श्रीहर्ष की भांति जटिल शब्दों को ढूंढ़कर कर पदों में पच्चीकारी करने का ही उन्हें व्यसन था। उन्हें तो कविसिद्ध बनने का गौरव था।[3]

---

1. जलददारूणि लोलतडिल्लताकरपत्र दरिते पवनवेगनिर्धूताश्चूर्णनिकरा इव जलकणावभुः विच्छिन्नदिग्वधूहारमुक्तानिकरा इव करकाव्यराजन्त।''
   सुबन्धुकृत वासवदत्ता पु0 248—249
2. कालिदास का बिम्वविधान — डॉ0 अयोध्या प्रसाद द्विवेदी
3. संस्कृत काव्यकार — हरिदत्त शास्त्री — पृ0 421

एक प्रसङ्ग देखिए–

यां यां प्रियः प्रैक्षत कातराक्षीं सा सा ह्रिया नम्रमुखी बभूव।
निशङ्कमन्याः सममाहितेर्ष्यास्तत्रान्तरे जघ्नुरमुं कटाक्षैः।। शिशु0 3/16

माघ में कालिदास के रस चित्रण की मौलिकता के स्थान पर रूढ़िग्रस्तता तथा सामाजिक मर्यादा के स्थान पर उच्छृङ्खलता के दर्शन होते हैं। वह गाम्भीर्य जो कालिदास में है माघ में नहीं है जो हृदय को तन्मय कर दे तथा आत्मा की प्यास को शान्त कर दे।

छन्द विधान के साम्राज्य को भी माघ ने भारवि से अधिक प्रयोग करते हुए विविध छन्दों के माध्यम से काव्य को सुसज्जित किया। इससे माघ की अतिशय कलावादी रूचि का परिचय मिलता है। द्वितीय सर्ग में राजीनति का वर्णन अनुष्टुप छन्द में ही करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि माघ का यह सर्वप्रिय छन्द है।

तन्त्रावापविदा योगैर्मण्डलान्यधिष्ठिता।
सुनिग्रहा नरेन्द्रेण फणीन्द्रा इव शत्रवः।। शिशु0 2/88

19वें सर्ग में विलक्षण एवं दुःसाध्य अलङ्कारों का प्रयोग वहां आकर्षक है पञ्चम सर्ग में वसंततिलका का विलास सर्वत्र दृष्टिगत होता है।[1] इतना ही नहीं भारवि और माघ दोनों ने कामविलास वर्णन में स्वगता एवं प्रहर्षिणी का अनोखा वर्णन कर अपनी चमत्कार जन्य प्रतिभा का प्रदर्शन किया। इन वर्णनों से माघ के विलासी, एवं विनोप्रिय होने का स्पष्ट सङ्केत मिलता है। समस्त अलौकिक अलङ्कारों से अलङ्कृत शिशुपालवध के छन्दोंमय शरीर पर नौ रसों की अमृतवर्षा कर उसे अमर एवं स्पृहणीय बनाने का श्रेय माघ को ही है। इस प्रकार सम्यक् अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि कविवर माघ और उनका ग्रन्थ उस युग का प्रतिबिम्ब है जिसमें तीन गुणों का संयोजन है। इसलिए सत्य ही कहा गया है– "उपमा कालिदासस्य"।

इस प्रकार निष्कर्ष यही निकलता है कि माघ की अलङ्कृत भाषा, पदविन्यास की प्रौढ़ता, समस्त पदावली तथा सरसता ने उनकी शैली को एक अनूठा व्यक्तित्व प्रदान किया है। माघ की प्रशंसा करते हुए विद्वानों ने कहा है–

---

1. उन्नम्रताम्रपटमण्डपमण्डितं तदानीलनामकुलसङ्कुलमाबभासे।
सन्ध्यांशुभिन्नधनकर्बुरितान्तरीक्षलक्ष्मीविडम्बि शिविरं शितरीतनायं।। शिशु0 5/68

मुरारि–पद–चिन्ता चेत् तदा माऽघे रतिंकुरू।
मुरारिपदचिन्ता चेत् तदा माघेरतिंकुरू।।

माघ कवि के विषय में यह उक्ति कही गयी है कि यदि मुरारि पद अर्थात् भगवान श्रीकृष्ण के पदों की चरणारविंदों की चिन्ता है, भगवंद्भक्ति प्राप्त करना चाहते हो तो 'अघे मतिं मा कुरू' (माघे मतिं कुरू) पाप में बुद्धि मत लगाओ, पाप बुद्धि से मुक्त रहो। और मुरारी कवि के पदों की शैली देखना चाहते हो तो माघ कवि के पदों का चिंतन करें अर्थात् जब तक माघ कवि के पदों से परिचय न होगा तदनुवर्ती मुरारि कवि का काव्य समझ में नहीं आएगा। यह उक्ति चमत्कारिणी होने पर भी सत्य है, क्योंकि ऐसे पाण्डित्यपूर्ण काव्य का अध्ययन करने से संस्कृतज्ञ लोग कदापि नहीं चूकते। माघ शब्दशास्त्री थे। इसलिए उभयार्थक चतुर उक्ति नवसर्गगते'' के साथ उनका शब्द भण्डार भी अप्रतिम था। निश्चय ही माघ ने भारवि पर विजय पा ली। भारवि की अपेक्षा माघ अवश्य बढ़े हुए हैं। तभी तो माघ के प्रशंसकों ने कहा है कि–

''तावद्भाभारवेर्भाति यावन्माघस्यनोदयः।

अन्ततः माघ के समस्त चित्रण अलङ्कारों से विभूषित हैं। कोई भी चित्रण में नवीनता का अभाव नहीं है। वृक्षों, लताओं आदि के वर्णन में उद्दीपन विभाव की चरम अभिव्यक्ति हुई है। श्रृङ्गार में तो सिद्वहस्त है। फिर भी उन्होंने कहीं भी शिष्टाचार का अतिक्रमण नहीं किया है। अतिमानवता के दुराग्रह में फँसकर उन्होंने अपने आदर्श चित्रों को आकाश में नही उड़ाया, बल्कि अपनी कल्पना के द्वारा उनमें नवीन भाव स्थापित करके धरती के पुतलों से दूर करने का यत्न किया है।[1] इस प्रकार माघ सिद्धहस्त कवि ही नही सर्वशास्तज्ञ प्रकाण्ड पण्डित भी थे। उनकी जैसी बहुलता अन्यान्य संस्कृत कवियों में कम मिलती है। छन्द शास्त्र सभी पर इनका यथेष्ठ अधिकार था। सनातन परम्परा के अनुयायी होते हुए भी नास्तिक तथा आस्तिक दोनों दर्शनों के सूक्ष्म बातों का भली भाँति ज्ञान भण्डार निहित था। इस प्रकार विभिन्न शास्त्रों एवं दर्शनों में अपनी मेधा का इस्तेमाल कर उन्होंने अपनी स्पष्ट पकड़ सिद्ध की। सचमुच महाकवि माघ का व्यक्तित्व उत्कृष्ट कोटि का था। डा0 एस0के0डे0 के शब्दों में –

---

1. संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास – राम जी उपाध्याय

"The extent of his influence on his successors, in whose estimation he stands even higher than Kalidasa and Ba\haravi, indicates the fact that it is Magha, More that Kalidasa and Bharavi, who sets the standard of later verse making, but the immense popularity of this poem also shows that there is always a demand for poetry of a little lower and more artificial kind. History of sansprit Literature P. 194.

महाकवि रत्नाकर :– अभी पण्डितों और विद्वज्जनों की जिह्वा से साथ ही काव्य जगत् से माघ की अलङ्कृत शैली का प्रभाव समाप्त ही नहीं हुआ था, कि उनके परम प्रतिद्वन्दी रत्नाकर का सद्यः आविर्भाव हो जाता है। महाकाव्यों की इस उन्नत प्रणयन परम्परा में 'रत्नाकर' का आगमन अवश्य कौतूहल पैदा करने वाला था, क्योंकि महाकाव्यों के वृहत्काय की अद्भुत विशेषताओं को समेटे हुए 'रत्नाकर' की यह कृति ('हरविजय') परोक्ष रूप से माघ काव्य के लिए चुनौती थी। यद्यपि इनके ग्रन्थ 'हरविजय' में काव्यगत विशेषताओं का भाव नगण्य नहीं था, फिर भी माघ काव्य के समान इसका प्रचार–प्रसार नहीं हो पाया। यह इसके लिए दुर्भाग्य का ही विषय था। कविवर रत्नाकर ने पूर्णरूपेण अपनी अलङ्कृत शैली को विकास के चरम बिन्दु पर पहुंचाने का कार्य किया, जिसमें उनके आदर्श रहे उनके पूर्ववर्ती, भारवि, माघ, बाण, सुबन्धु इत्यादि जिनसे यथावत् प्रेरणा लेकर अपनी कविता वनिता को सर्वविध श्रृङ्गारों से सुसज्जित कर उसे काव्य जगत् में एक अभूतपूर्व स्थान दिलाया। इतना ही नही इनके भाषा, भाव, शैली, अलङ्कार, गुण, छन्द आदि सभी भावों को माघ की प्रतिभा ने पूर्णरूपेण प्रभावित किया। यद्यपि कविवर रत्नाकर के समक्ष तो वाल्मीकि और व्यास के काव्य उपजीव्य रूप में विद्यमान थे, और वैदिक कविता धारा साहित्य संसार को रसन्वित करती हुई शनैः–शनैः रूप में प्रवाहित होकर बह रही थी, फिर भी इन्होनें अपने काव्य का आधार माघ काव्य को ही बनाया, क्योंकि वे अपने काव्य को 'पण्डितों के काव्य' की उपाधि से समलङ्कृत करना चाहते थे। वाल्मीकि के समक्ष तो संस्कृत

काव्य का कोई भी शास्त्रीय रूप विद्यमान ही नही था। उन्होंने अपने आर्षचक्षुओं से जैसे ही भावों को देखा था वैसा ही भाव, वैसी ही उदात्तशैली, वैसा ही उदात्त चरित्र उपनिबद्ध कर काव्य प्रणयन कर डाला था। महाकाव्य के बहुविध आयामों का सर्वाङ्गीण अध्ययन कर सौन्दर्यवर्धक दृष्टि से आर्षकाव्य रामायण का ग्रन्थन किया जिसमें वह सौन्दर्य निवेशित था जो परवर्ती काव्य ग्रन्थों में आज भी उपलब्ध न हो सका। भारतीय ललना का यह आदर्शभूत कथन सीता के ही चरित्र में द्योतित होता है–

चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम्।
रावणं कि पुनरहं कामयेयं विगर्हितम्।।[1]

कालिदास के ग्रन्थों में रामायण और महाभारत का वह श्लाघनीय प्रभाव दिखाई देता है, जो कालिदास के परवर्ती कवियों में नहीं दृष्टिगत होता। वह सारस्वत प्रवाह और वैदर्भी शैली कालिदास के ग्रन्थों में ही मिलती थी अन्य कवियों में नहीं। इसके अनन्तर यह पीयूष–प्रवाह थोड़ा बहुत कुमारदास के ग्रन्थों में भी परिलक्षित होता है, क्योंकि कुमारदास ने तो पूर्णरूपेण कालिदास का ही अनुधावन करना चाहा था। भाषा के आडम्बर में अवश्य नहीं है, किन्तु शकुन्तला के स्वाभाविक सौन्दर्य के सदृश उनकी भाषा का सहज सौन्दर्य भी सहृदयों को आकृष्ट करता है। सर्वत्र उनके महाकाव्यों में गङ्गा प्रवाह के सदृश निरन्तर स्वाभाविक गति से बहने वाली उनकी शैली संस्कृत महाकाव्यों की श्रृङ्खला में मानदण्ड है। कालिदास और अश्वघोष के अनन्तर कई आचार्य इस क्षेत्र में सक्रिय हुए, लेकिन उनके काव्य काव्यगत रूढ़ियों से इस प्रकार आबद्ध थे, कि स्वाभाविकता का तो हनन हो ही गया साथ ही वह सामान्य जनों को रसोद्बोधन कराने में भी अक्षम हो गये। रूढ़ियों में भी ऐसे–ऐसे वर्ण्य विषयों (यथा ऋतुवर्णन, पर्वत वर्णन, सूर्योदय वर्णन, जलकेलि वर्णन, नदी वर्णन इत्यादि) को चुना, जिनमें भावपक्ष का तो नामोनिशान ही मिट गया केवल प्रतिद्वन्द्विता में चमत्कृत प्रदर्शन करना ही कवियों का उद्देश्य बन गया। और इस प्रकार काव्य का क्षेत्र सहृदय

---

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास – बलदेव उपाध्याय – पृ0 74

रसिकों के हॉथ निकल कर पण्डित लोगों के ही अधिकार में हो गया। अब काव्य का आस्वाद सुदीर्घ मानसिक व्यापार करने के बाद ही प्राप्त करने में सम्भव हुआ और सद्यः पर निर्वृत्यात्मक काव्य का उद्देश्य पीछे चला गया। मानव मनोभावों के तादात्म्य से चित्रित प्रकृति भी इस काल में पूर्णतया कृत्रिम चित्रित होने लगी और उसको प्रायः उद्दीपन रूप में देखा जाने लगा। अप्रस्तुत विधान को तो सहजता से पूर्णतया छोड़ ही दियागया। इस प्रकार माघ तक चमत्कृत काव्यजगत्पूर्ण विकसित हो चुका था। अतः अब उसे आलङ्कारिकों द्वारा नियमित किया जाने लगा था। आलङ्कारिकों ने उसे नियमवद्ध कर दिया था। फलतः कालिदासोत्तर काव्य इन्हीं आलङ्कारिक नियमों की परिधि में आबद्ध होकर लिखे जाने लगे। अश्वघोष के काव्यों के दार्शनिक विचार भी प्रासादिक शैली में अभिव्यक्त होने के कारण ही इतने लोकप्रिय हो सके हैं, क्योंकि सरल भाषा में अभिव्यक्त भाव जितना प्रभावकारी होता है एवं हृदयग्राही होता है उतना कृत्रिम एवं अलङ्कृत भाषा में नहीं। काव्य का उद्देश्य कवि की अनुभूतियों को जन साधारण तक पहुँचाना होता है और यह तभी हो सकता है जब वह सरल भाषा में लिखा गया हो। पाण्डित्य प्रदर्शन से कभी भी काव्य का उद्देश्य पूरा नहीं होता है। सुन्दर भावों की अभिव्यञ्जना में शाब्दीक्रीड़ा सहृदय पाठक को कर्कश ही जान पड़ती है। अलङ्कारों का आधिक्य भावों को तिरोहित कर देता है। जहाँ माघ की काव्यरीति गौड़ी थी, वहीं कालिदास की वैदर्भी।इससे प्रतीत होता है कि कालिदासोत्तर कालीन कवियों ने काव्य की नैसर्गिकता को नहीं अपनाया है। जहाँ एक ओर आर्षकाव्यों में भाषा का स्वाभाविक प्रवाह प्रवाह था वही इन काव्यों में (यथा– किरात, माघ, भट्टि, हरविजय इत्यादि) वह प्रयत्न साध्य अलङ्कारों के बोझ से दबी हुई है। राज्याश्रित होने के कारण इन कवियों के काव्यों में सर्वत्र राजकीय जीवन की विलासित एवं कृत्रिमता तथा आमोद–प्रमोद का वातावरण देखा जाता है। जिससे समाज का साधारण जीवन दब गया है। यहाँ सर्वत्र शाब्दीक्रीड़ा ही है और अलङ्कार ही परम साध्य है। इन्हीं के लिए कवि ने सर्वत्र प्रयत्नशील देखा जाता है। उक्तिवैचित्र्य ही काव्य के लिए सर्वस्व है। यहाँ न कालिदास जैसी विदग्धता है और न भावों की मधुर व्यञ्जना। अलङ्कारों

का कौशल प्रदर्शन करने में और विशेषतया अनुप्रास, श्लेष एवं विरोधाभास के चमत्कार प्रदर्शन से भाषा को अधिक से अधिक सजाने में, भावों को गूढ़ बनाने में ही इन कवियों ने अपने कविकर्म की महत्ता समझ ली। यही कारण है कि इन काव्यों का विषय गौण हो गया और कला का चमत्कार ही प्रधान बन गया। ऐसा प्रतीत होता है कि ये काव्य जन साधारण के लिए नहीं लिखे गये थे। अतः अवसर आने पर भी इन कवियों ने साधारण जीवन के चित्रण की उपेक्षा कर दी है। ऐसी ही विशेषताओं से ओतप्रोत "महाकवि रत्नाकर" का "हरविजय" भी संस्कृत साहित्य में अपना अनुपम स्थान रखता है। 'हरविजय' महाकाव्य की भाषा नितान्त सरल एवं आलङ्कारिक है। दुरूह शब्दाऽम्बर से वह आच्छादित नहीं है। इन्होनें अपनी कविता कामिनी को बहुविध आयामों एवं रूढ़िवादी शैली से अलङ्कृत किया जो बाद के कवियों तथा काव्यों के लिए मार्ग निर्देशक के रूप में साबित हुई। इतना ही नहीं 'रत्नाकर' ने स्वयं अपनी शैली की दर्पोक्ति की है। कि – उनकी शैली ललित, मधुर, अलङ्कार प्रसाद, मनोहर, विकट यमक व श्लेष से मण्डित चित्रमार्ग में अद्वितीयवाणी को सुनकर वृहस्पति के मानस पटल में भी चिन्ता हो जाती है।

"ललितमधुराः सालङ्काराः प्रसाद मनोरमा।
विकटयमकश्लेषोद्गार प्रबन्धनिरर्गलाः।।
असदृशगतीश्चित्रे मार्गे ममोग्दिरतोगिरो।
न खलु नृपते चेतो वाचस्पतेरति शङ्कते।।[1]

कविवर रत्नाकर ने जिस चमत्कारप्रियता को पराकाष्ठा पर पहुंचाया उससे यही आभास होता है कि इस युग ने स्वान्तः सुखाय वाली प्रवृत्ति का पूर्णतया परित्याग कर दिया था और पाण्डित्य प्रदर्शन का दिखावा मात्र काव्यों का उद्देश्य रह गया था। इनकी अपनी शैली के प्रति की गयी दर्पोक्ति अनेक अंशों में यथार्थ है।[2]

---

1. संस्कृतसाहित्य का इतिहास – डा० राजकिशोर सिंह, आचार्य देवीशंकर सिंह पृ० 84
2. कल्याणीं गिरमुत्स्त्रष्टुं विरला एव जानते।
   सत्यां लेखां विलिखितुं चित्रकर्मविदो यथा।। हर०– 32/70

भामह, दण्डी, रूद्रट, आदि कवियों ने अपने अलङ्कारिक ग्रन्थों में महाकाव्य के जो लक्षण दर्शाये तथा उसमें जिन–जिन विशेषताओं का निहित होना बताया वह आगे चलकर रूढ़ रूप में विद्यमान पायी जाने लगी। साथ ही महाकाव्यों में मानव जीवन के जिस सर्वाङ्गीण विकास के चित्रों की यहाँ आवश्यकता थी, उनका यहाँ लोप हो गया। महाकवि भारवि ने जिस एक नवीन शैली को प्रादुर्भूत किया उसी काव्य सरणि को अपनाते हुए भट्टि, माघ, रत्नाकर के 'हरविजय' का कथानक पौराणिक (शिवपुराण से) है।[1] फिर भी कवित्व के लिए तो आर्षकवि वाल्मीकि ही उनके आदर्श हैं। इस ग्रन्थ में भावों की अभिव्यक्ति भी कवि ने अपनी शैली के अनुरूप ही कियाहै। इस दृष्टि से इनकी शैली मौलिक है। किसी कवि द्वारा वर्णित भाव को अन्य रूप में व्यञ्जित करना रत्नाकर की अपनी विशेषता है।[2] इस दृष्टि से 'रत्नाकर का हरविजय' काव्य कला का चूड़ान्त निदर्शन प्रस्तुत करता है। पचास सर्गों में निबद्ध इस ग्रन्थ में रत्नाकर ने अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा को उड़ेल दिया है। साथ ही उसको विपुलकाय करने में अपनी क्षमता का अद्भुत प्रदर्शन भी दिखाया है। रत्नाकर का मानना है कि क्षण–क्षण में नवता धारण करने वाली प्रकृति में जो मधुर सौन्दर्य एवं रमणीयता दृष्टिगत होती है। मानवसौन्दर्य उसी का एक अङ्ग है। माघ काव्य की ख्याति को देखकर प्रतिस्पर्धा में ही रत्नाकर ने अपने हरविजय की रचना किया। माघ की स्पर्धा में ही रत्नाकर ने चित्रालङ्कारों का जो रमणीय प्रदर्शन किया उससे इनके काव्य की शोभा बेहद आकर्षक एवं चमत्कृत हो गयी है। अनेक बन्धों यथा– सर्वतोभद्र, गोमूत्रिका मुरजबन्ध, अनुलोम, प्रतिलोम इत्यादि का व्यापक प्रयोग कवि की प्रतिभा का परिचायक है। पाण्डित्य की निकष कसौटी होते हुए भी अलङ्कृत शैली से युक्त है। इतना ही नहीं छन्दों की उचित भावाभिव्यक्ति का माध्यम अलङ्कृत भाषा है।

---

1. गर्भो वभूवाथ करालवक्त्रो भयङ्करः क्रोधपरः कृतघ्नः।
   अन्धो विरूपी जटिलश्च कृष्णो निरन्तरो वैकृतिकः सुरोमः।।
2. गायन्, हसन्, प्ररुदन्, नृत्यमानो विलेलिहानो, घनघोरघोषः।
   जातेन तेनाद्भुतदर्शनेन गौरीं भवोऽसौ स्मितपूर्वमाह।।

शिव पु0 – अध्याय 43, श्लोक 19–20

कविवर रत्नाकर ने अपने महाकाव्य 'हरविजय' में हर (शिव) द्वारा अंधकासुर की कथा अङ्कित की है, और कवि का कहना है कि पार्वती ने शिव के नेत्रों को लीलावश अपने हाँथों से ढक लिया अतः शिव से उत्पन्न अन्धक दृष्टिहीन हुआ पर तपस्या करके उसने शिव दृष्टि प्राप्त की तथा तीनों लोकों का स्वामी बन बैठा। लेकिन अन्त में शिव को उसका वध करना पड़ा।

सम्पूर्ण ग्रन्थ में वर्णन कुशलता का भाव दीख पड़ता है। कवि ने तो केवल तेरह सर्गो में अन्धकासुर का नाश करने के लिए सचिवों का परामर्श दिखाया है तथा अन्य तेरह सर्गों में शिवप्रमथो के विहार का वर्णन किया है– इसके अलावा सात सर्गों में शिव के दूत और अन्धकासुर का संवाद होता है। इसी प्रकार अन्य सर्गों का भी वर्णनानुसार विभाग कर दिया गया है। इससे ही 'हरविजय' के विपुल परिणाम की अद्वितीयता का आभास होता है। निःसन्देह काव्य गुणों के समुचित समावेश से वह अद्वितीय है। रत्नाकर के 'हरविजय' में वस्तुवर्णन की कुशलता तो सर्वत्र विद्यमान ही है। साथ ही नाटक, संगीत, अलङ्कार व चित्रकला जैसे विषयों पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रकाश डाला गया है। तात्त्पर्य यह है कि जिस तरह काव्य शब्दों द्वारा भावों को अभिव्यक्त करता है, उसी प्रकार प्रेक्ष्यकलाएं आकृतियों के द्वारा हर युग में उनकी अभिव्यक्ति करती है। अतएव जिस भाँति प्रत्येक भाषा की प्रकृति अलग–अलग होती है, उसकी अपनी विशेषताएं होती है, मुहावरे होते हैं, अलङ्कार होते हैं, उसी भाँति प्रेक्ष्य कला की भिन्न–भिन्न शैलियों की प्रकृति भिन्न–भिन्न होती है। अनुभूति और अभिव्यक्ति में सहानुभूति है, अतः उसकी रचना में रस होता है। रमणीयता होती है, इसलिए कला रसात्मक है, रमणीय अर्थ प्रतिपादक है।[1] हमारी नवम शती0 की मूर्तिकला खजुराहो के मन्दिर, पल्लवों के मन्दिर, चोलों के मन्दिर जिसमें हमारे युग युग की संस्कृति और आध्यात्मिकता के सन्देश भरे पड़े हैं, और जो संसार के हजारों कोस में फैली हुई है– आज हमारी उपेक्षा की वस्तु हो रही है–

---

1. भारतीय मूर्तिकला – रायकृष्णदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

हमारा कर्तव्य है कि हम उसे समझें उसका संरक्षण करे और उसे पुनरूज्जीवित करें। इस दृष्टि से कविवर रत्नाकर की अलङ्कृत शैली भी बेहद प्रभावी दिखाई पड़ती है, जिसका पाठक के ऊपर तत्काल प्रभाव पड़ता है। कवि के भाव पाठक या श्रोता पर सम्मोहन का कार्य करते प्रतीत होते है। भाषा तथा भाव दोनों दृष्टियों से धनी कवि की यह कृति हरविजय में सर्वत्र लालित्य परिलक्षित होता है– देखिए पदलालित्य का एक उदाहरण –

लीला–विलोल–कलकण्ठ–विहङ्गकेलि, कोलाहलाकुल–कुलायकुलामलाङ्के।
कक्कोल–कन्द–कदली–लवली–लवङ्ग माला–ललाम–जल–मञ्जुल–कूलकच्छे।।
हर0– 4/35

रत्नाकर की भाषा विषय के अनुरूप है। गम्भीर एवं गूढ़ राजनीतिक विवादों में दक्ष रत्नाकर का उक्तिवैचित्र्य अनुपम है। युद्ध प्रसङ्गों तथा प्रकृति प्रसङ्गों में भी संवादों का अविरल प्रवाह स्फुरित होता है। रत्नाकर को भाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त था जिससे उनके अलौकिक वाक्पटुता का ज्ञान होता है। अंधकपुरी के वर्णन में कवि की भाषा कितनी सुबोध, प्रसादयुक्त और प्रवाहशील है– देखिए कुछ उदाहरण –

"विकासि–किंशुकच्छायाद्वनादिव विभावसोः।
तत्क्षणापहृतान् पत्रशुकानैक्षत सत्यथः।।" हर0– 32/36
"चन्द्रांशु गौर सत्पक्षबालभारान् प्रचेतसः।
ददर्श वाहहंसाश्च चामरांश्च हृतानसौ।।" हर0 – 32/37

राजनीतिक वाद–विवाद के प्रसङ्ग में गूढ़ और गम्भीर भावों की प्रतिक्रिया देखते ही बनती है। जैसे माघ ने द्वितीय सर्ग पूर्णतया राजनीतिक संवादों से ओत प्रोत किया है, उसी प्रकार हरविजय में रत्नाकर ने दसवे सर्ग में वैसे ही प्रसङ्ग उपस्थित किये हैं– देखिए–

"शङ्के समाप्य महतां हृदयेषु पूर्वमीषत्तदंश परमाणुलवावशेषाम्।
गम्भीरतां जलीधषु स्थिरतां नगेषु विस्तीर्णतां च नभसिव्यधिताथ वेधाः।।
हर0 10/18

उक्त वर्णन को देखकर यह आभास होता है कि हरविजय महाकाव्य प्रौढ़ और प्रत्युत्पन्नमति जनों तथा संहृदयश्लाघ्य पुरूषों के लिए है। इनके वाक्यविन्यास तथा शैली तो पराकाष्ठा को पार कर गयी है। अलङ्कृत शैली का विकट प्रभाव इनकी रचना पर सर्वत्र दिखाई पड़ता है। काव्य के बहुविध आयामों यथा भाषा, छन्द, रीति, गुण, अलङ्कार सभी का अप्रतिम भण्डार इनके काव्य में निहित है। यद्यपि अनेक कवियों के द्वारा प्रयत्नपूर्वक इस ग्रन्थ की गुत्थियाँ सुलझाई गई है, लेकिन वे सभी इनके गुत्थियों से विलग रहे। रत्नाकर की इच्छानुसार भाषा इनके ग्रन्थ में सर्वत्र परिवर्तित होती रहती है भाषा उनके अधिकार में ही निहित है। कहीं प्रसाद गुण गुम्फित, कहीं माधुर्य से उपेत, कहीं ओजगुण युक्त कहीं रस से आप्लुत, कहीं–कहीं अलङ्कारों के चाकचिक्य से युक्त और चित्र–विचित्र रचना में निष्णात् अपनी लोकातिशायिनी भाषा का वैभव अनवरत प्रकाशित करते हैं। ध्वन्यात्मकता, चित्रात्मकता, लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता, सजीवता, विम्बयोजना आदि गुण आधुनिक आलोचकों ने इनकी भाषा में स्वीकार किये है।

इतना ही नहीं रत्नाकर ने कुछ ऐसे स्तोक रूप में प्रयुक्त शब्दों का अपनी भाषा में इस्तेमाल किया है जैसे– कासरः (महिषः), कुलिः (चटका), रसायुः (भृङ्गः), एकपिङ्गलः (कुबेरः), इत्यादि शब्द भण्डार द्योतित होता है। इतना ही नही विशंकटविटंक, प्रतिघ–पट्ट–छटा–कूट, इत्यादि शब्द कवि को अत्यन्त प्रिय है।[1] रत्नाकर की भाषा में वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली इत्यादि रीतियों का सर्वत्र प्रयोग हुआ है। कविवर रत्नाकर के समक्ष कविवर माघ की बहुत ज्यादा प्रसिद्धि थी। उनके काव्य को पूरी तरह दबा देने के उद्देश्य से इन्होंने अपनी प्रतिभा का इस्तेमाल किया है। माघ वैष्णव थे इन्होंने अपने काव्य को लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्रचारू" (अर्थात् भगवान कृष्ण के चरित कीर्तन के कारण सुन्दर)[2] कहा है उसी प्रकार शिवभक्त रत्नाकर "चन्द्रार्धचूड

1. देखिए – हरविजय प्रशस्ति – 15/3,4,5,6, 16/82, 23/24,61, 25/49–59 इत्यादि।
2. श्री दुर्गादत्त निजवंश हिमाद्रि सानुगंगाहृदाश्रयसुतामृतभानु सूनुः।
रत्नाकरो ललितबन्धमिदं व्यधत्त चन्द्रार्धचूड़चरिताश्रयचारू काव्यम्।।
हरविजय प्रशस्ति – श्लोक – 1

चरिताश्रयचारू" लिखा है। रत्नाकर की प्रतिभा के आगे तो माघ की प्रतिभा हमें हतप्रभ ही दिखाई देती है। इतना ही नहीं रत्नाकर का व्यक्तित्व उच्चतम् कोटि का था। इनमें कवित्व की अपेक्षा पाण्डितय प्रतिभा के कुछ ज्यादा गुण विद्यमान थे। छठे सर्ग में लगभग 200 श्लोकों में भगवान् शङ्कर की स्तुति बेहद परिमार्जित एवं स्पृहणीय है। जिसके एक–एक पद में शास्त्रों का गूढ़ज्ञान समायोजित है। कविवर रत्नाकर दुर्वह अलङ्कृति से अपने को कभी मुक्त नहीं कर पाये, बल्कि नये–नये विषयों की ओर उनकी मेधा उन्मुख होती हुई दिखाई देती है। नई उत्प्रेक्षाएं, नए विम्ब, कविता को कभी विस्मृत नहीं होने देती। इनकी कला अलङ्कृत तथा रंगीन है। काव्यकला के प्रदर्शन के लिए ऐसी दुरूह सरणि का अवलम्बन किया है जिस पर चलना सरल नहीं है। इतना ही नहीं रत्नाकर का उदय ही उस युग में हुआ था, जिस समय शास्त्रकाव्य एवं अलङ्कृत काव्य का बोलबाला था। कवि का पाण्डित्य नानात्मक तो था ही साथ ही उसकी यथार्थता और भी चमत्कारिणी है। अनेक शास्त्रों के प्रदर्शन में नगर, सागर, इत्यादि के वर्णन में ही विचित्र मार्गी कवियों ने अपनी बुद्धि सन्निवेशित की। अलङ्करण की सर्वग्रासिनी प्रवृत्ति का उदय इसी युग में हुआ। वस्तुतः यह कविता का सब प्रकार से ह्रास युग था। उत्तरवर्ती कवियों ने इस मान्यता की सीमा को दृढ़ता से अङ्गीकृत करके जो कथाप्रवाह काव्य में नितान्त गौण हुआ वह शब्दों के ऐन्द्रजालिक प्रयोगों द्वारा चमत्कृत कर दिया। यह प्रवृत्ति अनन्तर इतनी प्रबुद्ध होती गई कि रत्नाकर जैसे कवि को काव्य रचना का एक महत्त्वपूर्ण आयाम मिल गया। इसीलिए काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने 'रत्नाकर' को 'उभय' कवि' की कोटि में समलङ्कृत किया है[1]– शास्त्रों में अप्रतिहत वैदुष्यता इच्छानुसार रस की अवधानता, अपने समय में 'प्रचलित' सभी शैलियों में काव्य रचना को साधने का समर्थ रत्नाकर में ही था। युगपद् रूप से पाण्डित्य और वैदग्ध्य का मञ्जुल सन्निवेश अन्यत्र नहीं प्राप्त होता इसीलिए कश्मीरी कवि कल्हण ने इन्हें अवन्तिवर्मा की सभा का सर्वश्रेष्ठ 'कवि पण्डित' सिद्ध किया है।[2]

---

1. काव्यमीमांसा – राजशेखर – (31.4)
2. मुक्तागणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
   प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवगमणः।। कल्हणकृत तरंगिणी – 2/34

इससे प्रतीत होता है कि उनके व्यक्तित्त्व का सर्वातिशायी पक्ष है। उनका अद्वितीय पाण्डित्य। वेद, उपनिषद, व्याकरण दर्शन इत्यादि के अतिरिक्त जैन, बौद्ध, आदि नास्तिक दर्शनों का शैव, शाक्त आगमों का पूर्णतया मन्थन् उनके द्वारा किया गया था।

कविवर रत्नाकर प्रथम श्रेणी के वक्ता थे। उनमें भाषण कला की चतुरता माघ, भट्टि, भारवि, इत्यादि से ज्यादा थी। शिवगणों का विस्तृत भाषण, सभाचतुरता, सभागत शिष्टाचार, तर्क अनुमोदित तथ्य प्रभावोत्पादक युक्ति, उक्तिवैचित्र्य, प्रत्युत्पन्नमति ये सभी गुण इनकी वक्तृता में प्राप्त होते है। रत्नाकर ने 15वें सर्ग में अपनी वाक् चतुरता अभिव्यक्त की। देखिए—

प्रतिपादयितुं यदन्यथार्थान कुशलत्वेन जनोव्यवस्यतीमान्।
सकलः स गुणोऽस्य वाग्मितायाः सततं ते पुरात्मरूपनिष्ठाः।। हर0 15—19

कविवर रत्नाकर को पर्यटन क्षेत्र का भी ज्ञान था। 'मार्गविभाग' वर्णन नामक तीसवें सर्ग में उनका भौगोलिक ज्ञान स्पष्टता से प्रतिविम्बित होता है। काश्मीर की शस्यश्यामल भूमि का जैसा चित्र इनके द्वारा चित्रित किया गया है। वैसा अन्यत्र नहीं है। कवि को 'तालवृक्ष' बेहद प्रिय थे जिस कारण वह 'तालरत्नाकर' ही प्रसिद्ध हुए।

अस्तावलम्बिरविविम्बितयोदयाद्रि,
चूडोन्मिषत्सकलचन्द्रतया चसायम्।
सन्ध्याप्रवृत्तहरवाद्यगृहीत कांस्य—
तालद्वयेव समलस्यत नाकलक्ष्मीः।। हर0 19/5

इतना ही नही रत्नाकर के महत्त्व के विषय में श्रीशंकर शास्त्री द्रविड़ कहते हैं—

दुग्धाब्धीनां सहस्त्रं न कुसुमलसितं सद्वसन्तायुतं वा,
कोटिर्वा पार्वणानां, सुषमशशभृतां नेषदोषातनानाम्।
सम्पूर्णं वा सुधाभिः पुरटघटशतं हन्त धन्वन्तरेर्नो,
पाणिस्थं चारूरत्नाकरसुकविगिरां मेरूरत्नं न मूल्यम्।।

ऐसा प्रतीत होता है कि कविवर रत्नाकर के समक्ष ऐसे–ऐसे महाकाव्यों का वितान प्रसृत था जिसके यश को वह सभी रूपों यथा भाषा, भाव, शैली, गुण, वक्तृता, वक्रोक्ति अलङ्कार इत्यादि से उसको पराजित करना चहाते थे। अपने पूर्ववर्ती कवि भारवि, भट्टि, माघ, बाण, सुबन्धु इत्यादि कवियों को नीचा दिखाने के दृष्टिकोण से ही[1] इन्होंने अपने 'हरविजय' का प्रणयन किया था। भारवि ने जिस मार्ग को गतिशील बनाया था उसको चरम बिन्दु पर पहुंचाने का श्रेय रत्नाकर को ही दिया जाता है। यद्यपि वाल्मीकि से लेकर रत्नाकर तक का काल पूर्ण रूपेण विकसित हो चुका था, फिर भी कालिदास के समान मार्मिक भावों का वर्णन शब्द कौतूहलों में कहाँ रह सकता है? संस्कृत महाकाव्यों में प्रारम्भिक अवस्था में प्रकृति का जो सहज व स्वच्छन्द रूप दिखाई देता था उसका रूप दिन प्रतिदिन रूढ़िबद्ध एवं पारम्परिक होता गया। भास, अश्वघोष इत्यादि के समय प्रकृति और मानव का सम्बन्ध विजेता और विजित का था। सुबन्धु की प्रत्यक्षर श्लेषमयी और दण्डी की स्वाभाविक प्रकृति पूर्ण रूपेण विकसित हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त बाण ने प्रकृति को और भी अधिक विस्तृत किया। क्योंकि कादम्बरी का घटनाचक्र तो अधिकांशतया प्रकृति प्राङ्गण में ही घटता है। समलङ्कृत होते हुए भी बाण की शैली सर्वत्र निसर्ग रूप में विराजमान दिखती है। मानव जीवन का ऐसा सामञ्जस्य विलुलित सौन्दर्य किस को आकर्षित नहीं करता। परवर्ती कवि रत्नाकर ने उसकी शैली वहुशः अनुकरण किया। काव्य रूढ़ियों ने साहित्य संसार में दिन प्रतिदिन बढ़ते हुए साहित्य सौहित्य की उपेक्षा कर दी। यही काव्य का आदर्श रत्नाकर के समक्ष उपस्थित हुआ। रत्नाकर ने अपने प्रकृति चित्रण को पूर्णरूपेण पूर्ववर्ती कवियों की शैली से अनुप्राणित किया है। हरविजय के तृतीय सर्ग के उपस्थित ऋतु वर्णन में कालिदास का यमक प्रधान वर्णन हरिवजय के पांचवे सर्ग में पर्वत वर्णन का साम्य माघ के रैवतक वर्णन से दृष्टिगत होता है।[1]

---

1. प्रकृति और काव्य – डा0 रघुवंश – भूमि का भाग

प्रकृति वर्णन के अलावा रत्नाकर के ग्रन्थ में नीति की वर्णना का भी सम्यक् दर्शन होता है। उनका मानना है कि चञ्चला लक्ष्मी नीतिज्ञ पुरूषों का साथ कभी नहीं छोड़ती। व्यवहार में बाधा पहुंचाती नीति को वे पन्सद नहीं करते तथा ऐसी नीति को उन्होने 'नीतिविषूचिका' की संज्ञा से अभिहित किया है।[1] रत्नाकर को असंख्य विधाओं व कलाओं का ज्ञान था। उन्हें साधारण पुरूषों की प्रतिभा से कैसे परितोष प्राप्त हो सकता था, क्योंकि सरस्वती तो उनकी वशवर्तिनी ही थी।

"सङ्कल्प एष रणदुर्ललितः क्षणेन वाचात्र कालमुसलस्य विपूरितो नः।
मन्दाकिनीं प्रथितपुण्य गुणां विहाय रत्नाकरं क इह पूरयितुं क्षमोऽन्यः।।

हर0 – 13/46

ऐसी गुणवत्ता तो प्रौढ़ कवियों में ही हो सकती थी, अप्रौढ़ और असहृदय जनों में कहाँ? कविवर रत्नाकर अपने महाप्राण व्यक्तित्त्व, उदात्त दृष्टिकोण तथा गम्भीर प्रवण शैली–शिल्प के कारण प्रारम्भ से ही प्रिय कवि रहे हैं। यद्यपि इनके प्रबंध में विविध वर्णनों का प्रकाम उल्लेख हुआ है, फिर भी मेरे अनुसंधान का विषय तो इनकी चामत्कारिक शैली से है। विचित्र मार्ग की पराकाष्ठा का यह ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में बेजोड़ है। जिसके समक्ष भारवि, भट्टि, माघ, बाण की प्रतिभा श्रीहीन प्रतीत होती है। सचमुच रत्नाकर की कविता बड़ी चमत्कारिणी है।

रत्नाकर की कविता में अलङ्कारों का साम्राजय सर्वत्र विद्यमान है, क्योंकि काव्य का सौन्दर्य अलङ्कारों से ही है। भामह ने कहा भी है कि "न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्" रत्नाकर ने अलङ्कारों के सर्वविध रूपों का प्रयोग कर अपनी प्रतिभा को उजागर किया। आठवे सर्ग में 'कालमुसल' के वर्णन में अनुप्रास का वहुविध सर्वगामी प्रयोग कर नूतन भावों को जन्म दिया है।

"कम्पाकुलीभवदनेकपलोकपालपालीकपालदलनोत्पुलकं कपोलम्।
एकोऽपिकोपकपिलं दधदुत्कृपाणपाणिः कृणोमि करूणाकृपणाऽरिचक्रम।।"

हर0 8/32

---

1. हरविजय – 10/17, 19

इतना ही नहीं श्लेष के द्विविध भेदों यथा सभङ्ग तथा अभङ्ग का बेहद शिलष्ट एवं चमत्कृत वर्णन करके अपनी कविता को एक नया आयाम दियाहै। इनके श्लेष तो कहीं–कहीं स्वतंत्ररूप से प्रयुक्त हैं तो कहीं–कहीं प्रसाद, माधुर्य और ओजगुणों से युक्त होकर प्रौढ़ता से वर्णित किये गये है– देखिए–

"कृतकामोऽथ गोभर्ता सव्यूढ़कमलासनः।
भूतिधाम परं भेजे शम्भुः शम्भुरिवापरः।।" हर० 43/292

इस श्लोक में त्रिविध (शिव, ब्रह्मा, विष्णु) देवताओं को लक्ष्य करके उनके अर्थ का सम्यक् परिचय दिया गया है।

1. **शिवपक्षे**– शम्भुः परम् = अत्यर्थम्, भूतिधाम = भूतेर्भस्मनोधाम = कान्तिं, भेजे–सिषेवे। किम्भूतः? कृतकामः – कृतोहतः कामोयेन तद्विधः। गोभर्ता – गोर्वृषभस्य स्वामी। सव्यूढ़कमलासनः = सवी = यज्ञवान्, यजमान् मूर्तित्वात्। ऊढकमलासनः = कमलं = मृगः, तस्यासनं चन्द्रः, स ऊढ्ये येन सः। अपरः – द्वितीयः शम्भुखि = विष्णोर्व्रह्मणश्चैव।

2. **विष्णुपक्षे**– कृतकामः = कृतकं = कृत्रिमं वराहादिरूपम्, अमति = गच्दति यः सः ('अम् गतौ')। गोभर्ता = पृथ्वीधारकः। भूतिधाम = भू+ऊतिः = भुवः = पृथिव्या ऊतिः = संरक्षणं तस्याधाम = स्थानम्। सव्यूढ़कमलासनः = धारितः कमलासनो ब्रह्मा येन तद्विधः।

3. **ब्रह्मणः पक्षे**– कृतकामः–पूर्णकामः। गोभर्ता = गोः = वाण्याः, भर्ता,–पोषकः। व्यूढ़कमलासनः = विभिः = पक्षिभिर्हँसैः, ऊढं कमल–मयमासनं पालतद्विधः। किंचभूतिधाम = भूतेः = उत्पत्तेः, धाम = विषयः, हेतुः।

इसी प्रकार –

ससत्वशाली समदत्वमाप्तो निबद्धमूलः स्थिरभूतिचर्चः।
उत्सेधवानस्खलितः शुचित्वात्सन्नागराज श्रियमाप गुर्वीम्।। हर० 48/124

इसमें भी रत्नाकर ने चार भावों को वर्णित किया है। हिमालय, शेषनाग, शिव, गज इन शब्दों के चामत्कारिक अर्थ प्रस्तुत किये है। अभङ्ग श्लेष की चामत्कारिता से युक्त यह श्लोक सरल से सरल विस्तृत व्याख्यान के बिना भी सहृदयों के लिए रूक्ष है। हरविजय के तृतीय एवं पञ्चम सर्ग में क्रमशः (ऋतु, वर्णन एवं पर्वत वर्णन) कवि ने यमक के विविध भेदों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन करके काव्य को मण्डित किया है।

इन अलङ्कारों के अलावा हरविजय महाकाव्य में चित्रकाव्यों का भी सर्वाधिक विलास दृष्टिगत होता है। यद्यपि चित्रकाव्य और चित्रालङ्कार में भेद है। चित्रकाव्य तो मम्मट ने कहा है कि वह गुण और अलङ्कार से होता है[1] लेकिन चित्रालङ्कार को रूद्रट ने इस प्रकार परिभाषित किया है–

"भङ्ग्यन्तरकृततत्क्रमवर्णनिमित्तानि वस्तुरूपाणि।
साङ्कानि विचित्राणि च रच्यन्ते तत्र् तच्चित्रम्।।"[2]

जिस प्रकार भारवि, इत्यादि ने अपने काव्य की चमत्कृतिधरता हेतु विविध चित्रबन्धों का प्रयोग किया ठीक उसी का अनुसरण करते हुए कविवर रत्नाकर ने भी अपने काव्य में चित्रबन्धों के नये–नये आयाम प्रस्तुत कियें। इस क्षेत्र में उनका आधार पाण्डित्य तथा अनुपम भाषाधिकार ही कारण है। इन्होंने कलापक्ष की जो रसानुप्राणित त्रिवेणी प्रवाहित की है उसमें निमज्जन कर पाठक एवं सहृदय अपने को कृत्कृत्य समझता है। रत्नाकर सर्वत्र काव्यकला को अलङ्कृत करने में ही दत्तचित्त हैं। कलापक्ष का बहुविध आश्रय लेकर अपने काव्य को बहुविध तात्कालिक शैलियों से निबद्ध करना इनका अपना अधिकृत क्षेत्र ही है। इस युग के महाकवियों का मार्ग ही निराला होता है जिनमें वक्र उक्तियाँ ही विभूषण होती है और इसी अलौकिक चमत्कार हेतु समग्र काव्य अग्रसर होता दिखाई देता है। रसात्मकता ही काव्य की कसौटी है। इन्होंने अपनी प्रतिभा से एकाक्षर, द्वयक्षर, त्रयक्षर, चतुःअक्षर वर्णो की श्लोक रचना हुई है।

एकाक्षरं यथा –

तत्तातितातोतितत्तुत्तितोतितोत्तेतितातीतिततोत्तितुत्तिः।
तातोऽतितोऽतुत्त तु तत्ततोऽत्तातुतोत्तताता तु तोत्तुमः।। हर0– 48/126

द्वयक्षरं यथा–

सालांसः सलिलोल्लोललोलासिः सूल्लसोऽसंलः।
लीलालसं ललासासौ सासौ साल्लालसासुलूः।। हर0– 43/19

त्र्यक्षरं यथा–

सविसरासुरसारवसासवे मुखरो विवरासुरसस्त्रवः।
स वरवीरवसावुरूवैरिसूरवसरे विरसं विरराास सः।। हर0– 46/56

स सुरवरो विष्णुस्तस्मिन्नवसरे विरसं = हृदयविदारकं, विरराास = ध्वनि–मकरोत्। कीदृशेऽवसरे? सविसरासूरसारवसासवे = सविसरा प्रसरण – शीला वीरैः, वसुभिश्च सहं वर्तमाने (तस्मिन्नवसरे) उरूवैरिसूः = उरूणां महतां वैरिणां सूः प्रेरकः सन्। विवरासुरसास्त्रवः = विवरे = रसातले ये सुरास्तेषां कृतेऽपि सास्त्रवः = क्लेशदं (ध्वानमकरोत्)।

चतुरक्षरो यथा–

ततो ततीतितोत्तातीनाना नाना न नूनना।
स सुसांसो सुसासासि रिरारोरारिरैरिरत्।। हर0– 43/3

ततस्तदनन्तरं, विद्याधरसैन्ये सुराणामन्तम् अतति = गच्छति सति सुमालीनाम दैत्यस्ततो रिपुसेनाम् ऐरिरत् = चिक्षेप। किंविधः? ईतितोत्ता = अतिवृष्टिरनावृष्टिप्रभृतीनामीतीनां तोत्ता = विनाशकः, अतीनानाः = इनस्य स्वामिनोऽनः = रथम्, अतीत्य नानाविधम् स्थितः नूनना = नूतनः, ना = पुरूषो न, अपितु पुराणः। पुनः किंविधः? सुसांसः = सुष्ठ सह अंसाभ्यां स्कन्धाभ्यां वर्तते शक्तिमानित्यर्थः। असुसासासिः = असुसो = प्राणहारको आसः = शरासनमसिश्च यस्य सः। इरारोरारिः = इरा = पृथ्वी, तयारोरा = दरिद्रा अरयः यस्य सः।

ऐसे एकाक्षर, द्वयक्षर, श्लोक विस्मय उत्पन्न करते हैं इनके ऐसे प्रयोग पूर्णतया अपने पूर्ववर्ती कवियों के भरपूर अनुसरण पर ही किये गये। स्थान चित्र में तो अतालव्यम्, निरौष्ठ्यम् आदि के उदाहरण दिये गये –

''स्फुरत्कुण्डल रत्नौघतडित्किरणकर्बुरः।
मेघनीलोऽथ संग्रामे प्रावृट्कालवदावभौ।।'' हर0 43/16

भरत ने यमक के 10 भेद भी कहे है।[1] इसी का अनुसरण करते हुए रत्नाकर ने यमक के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख किया–

रत्नाकर 'संदष्ट यमक' के प्रयोग में बेहद कुशल है देखिए–

"आभत्यसौ गजतया समरेष्ववाप्य, सारं भयानकतमेषु सदानयागः।
श्च्योतनमदार्द्रकटया कटकान्तरेषु, सारम्भया न कतमेषु सदानयागः।। हर0 5/6

इसी प्रकार यमक के सदंश, पादभाग वृत्ति, पुच्छ, पंक्ति, भागवृत्ति, समुद्गयमक, गर्भयमक, महायमक इत्यादि भेद प्रभेदों का सर्वत्र अपने काव्य में प्रयोग कर काव्य की सर्वश्रेष्ठता में चार चाँद लगा दिया। देखिए कुछ उदाहरण–सदंश यथा–

केदारयन्तं समदन्तमालमरातिलोकं शरलांगलानाम्।
के दारयन्तं समदं तमालनीलं हरिं जेतुमलंवभूवुः।। हर0– 46/56

समुद्गयमक–

"अविस्त्रसारे समदक्षयज्ञनामशिंजपादानघनाकराभे।
अविस्त्रसारे समदक्षयज्ञनामशिंजपादानघनाकराभे।।" हर0– 5/134

पंक्तिर्यथा–

सदानवानामवधीरितानाम्, संदानवानामवधीरितानाम्।
सदानवानामवधीरितानाम्, सदानवानामवधीरितानाम्।। हर0– 18/128

कवि ने बन्ध चित्रों के माध्यम से जो चमत्कार काव्य में पैदा किया उसका वर्णन जितना भी किया जाय कम है। रत्नाकर ने अपने महाकाव्य हरविजय में सबसे अधिक बन्धचित्र के ही उदाहरण प्रस्तुत किये है। अर्धभ्रमक, आवलिबन्ध, काञ्चीवन्धः, खड्गबन्धः, मुरजजालबन्धः, गोमूत्रिकाबन्ध, तूणीबन्धः, मुरजाबन्धः, शरबन्धः, शूलवन्धः, शक्तिबन्धः, मुसलवन्धः, प्रस्तर श्लोकः, षोऽशदलषदभवन्धः, सप्तदशाक्षरपद्मबन्धः, सर्वतोभद्रः, इत्यादि विमित्रबन्धों के माध्यम से समस्त 43वें सर्ग को अपने कौशल के चमत्कार से ओतप्रोत किया।

---

1. शब्दाभ्यासस्तु यमकं पदादिषु विकल्पितम्। इतिभरतेन तल्लक्षण मुक्तं।
भरत–नाट्यशास्त्र – 16

काञ्चीवन्धः —

शातटङ्का प्रमादेन हीयमाना रणाजिरे।
चापटङ्कारनादेन साभिमाना रराजिरे।। हर0— 43/138

गोमूत्रिकाबन्ध —

"वादिता तरसा भीमा भेरीणां सकला ततिः।
सादिता तत्र सायामा सारीणां सकला गतिः।।" हर0— 43/63

इस प्रकार कविवर रत्नाकर ने इन विभिन्न बन्धों के द्वारा काव्य में चमत्कार तो पैदा किया ही, साथ ही विविध अर्थालङ्कारों के माध्यम से भी सहृदयों को चमत्कृत किया। अलङ्कार भाषा में प्रभावोत्पादकता को तो जन्म देते ही हैं, साथ में कवि की प्रतिभा को भी गतिशील बनाते है।[1] रत्नाकर सर्वत्र अपने वर्ण्य विषय को रूपायित करने के लिए अनुप्रास, यमक आदि का हृदयहारी विनियोग करते हैं। द्वितीय सर्ग में ताण्डव वर्णन के प्रसङ्ग में उपमा का चमत्कार देखिए—

आपीतपाटलसितेतरकुन्दगौरदेहत्विषो ललितनर्तनविभ्रमस्थाः।
भ्रेमुर्गणाधिपतयोऽभिनयक्रियासु, मूर्ता रसा इव परिष्कृतरङ्गपीठाः।। हर0— 2/22

प्रत्यूष वर्णन के प्रसङ्ग में कविवर रत्नाकर को कुछ ज्यादा ही प्रसिद्धि मिली है— रूपक अलङ्कार के माध्यम से अलङ्कारों का एक विशेष जाल उपस्थित किया है। देखिए—

प्रतिककुभमधोगलन्ति सन्ध्याकपिशितभांसि कुलानितारकाणाम्।
विदधति भुवनारविन्दकोष च्युतमधुशीकर बिन्दुवृन्दलीलाम्।। हर0— 28/12

इस प्रकार कविवर रत्नाकर ने बहुविध अलङ्कारों का समुचित प्रयोग करके 'हरविजय' काव्य की शोभा को द्विगुणित कर दिया है। सचमुच कविवर रत्नाकर धन्य है। जिन्होंने अपनी कवि प्रतिभा का विलास सम्पूर्ण हरविजय महाकाव्य में यथावसर उपस्थित किया। कविवर रत्नाकर ने वृहत् एवं दीर्घकाय वसंततिलका, स्त्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित, मन्दाक्रान्ता आदि छन्दों में प्रयुक्त कर अपने शब्द कौशल का प्रकृष्ट ख्यापन किया। हरविजय महाकाव्य का अङ्गीरस वीर है। हास्य रस को छोड़कर अन्य सभी श्रंङ्गार, रौद्र, भयानक, अद्भुत आदि रस अङ्ग रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इन्होंने अपनी

काव्यभूमि में उत्साह का प्रवाह सर्वत्र वर्ण्यविषय के संयोजन में स्फुरित किया है। इतना ही नहीं शिवगणों के वक्तव्य में, अन्धकासुर के आचार–व्यवहार में, वज्रवाहु के स्फूर्ति में, सैन्य संभार में, समरोद्घत के वर्णन में, सुर–असुर के विमर्दन में वीररस का समुचित परिपाक किया है। युद्ध का तुमुल वर्णन सभी में वीररस की निर्झरिणी प्रवाहित हो रही है। देखिए– चालीसवें सर्ग में वीरता के वेष में भगवान् शंकर का चित्रण–

"शीतांशुमौलिरपि केसरिचक्रवालयोस्त्रीकृताहियति भोगंसहस्त्रभीमम्।
अध्यारूरोह रथमग्निशिखापिशङ्गमायोधनागुणवेषपरिग्रह श्रीः।।

हर0– 40/44

इसी प्रकार वीररस का अति विचित्र वर्णन एक और देखिए जब भगवान शूलपाणि के सैन्यवल से धरती कैसे विकम्पित हो गयी। तब सहस्त्रोंफणें वाले शेषनाग ने कैसे पृथ्वी को धारण किया उसका चित्रण देखिए–

तस्यामुखं सरभसार्पिताकान्तदृष्टिः दृष्टवः चिरादथ शशाङ्ककलावतंसः।
सन्दर्शनेषु नयनत्रितयं निमेष–दोषोपघात–घटनोज्झितमभ्यनन्दत्।।

हर0 41/10

ऐसे वीरता भरे प्रसङ्गों को देखकर यह आभास होता है कि कविवर रत्नाकर ने स्वयं किसी युद्ध क्षेत्र का ऐसा वर्णन अपने चक्षुओं का विषय बनाया होगा तभी उनके ये वर्णन इतने मार्मिक तथा आह्लाद युक्त हैं। रत्नाकर ने श्रृङ्गार की भी उद्दाम भावनाओं को अपनी सौन्दर्य दृष्टि से हृदयङ्गम बनाया है– सम्पूर्ण 27वां सर्ग श्रृङ्गार की प्रणयकेलि से ओतप्रोत है, देखिए–

समदमदनसाध्वसत्रपास्ताः किमपि रसानत्रमन्तराविरान्त्थः।
चिरमपहृतचेतसोऽपि चित्रं दयिततमानुपचेरूरग्चिताक्ष्यः।। हर0 27/74–75

कवि संयोग के विप्रलम्भ पक्ष का वर्णन तो विरह वर्णन और दूती संकल्प वर्णन के प्रसङ्ग में करता है। यहाँ करूण को छोड़कर सभी भेदोंपभेदों का वर्णन प्राप्त होताहै। हास्य रस का प्रयोग तो कवि रत्नाकर ने किया ही नहीं।

इसी प्रकार रत्नाकर ने अपने व्यक्तित्व का काव्यगत भाव विभिन्न रसों के प्रसङ्ग में अनेकशः उद्धृत कर अपने सम्यक् कृतित्व का परिचय दिया। इसके अलावा रौद्र रस का परिपाक तो 'हरविजय' में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है– नायक शिव की सभा में, प्रतिनायक अन्धक की सभा में, दूत की गर्जना में, युद्धवर्णन में रौद्र का जैसा भयावह रूप प्रस्तुत किया गया इतना वीभत्स रूप कहीं भी देखने को नहीं मिलता।

ऐसे रसोचित विविध विधानों को देखकर हम यह निःसन्देह कह सकते हैं कि, कविवर 'रत्नाकर' एक उत्कृष्ट रससिद्ध कवीश्वर तो थे ही, साथ ही अलौकिक गुणों से सम्पन्न इनका वैदुष्य भी सर्वगामी था। रस की अभिव्यञ्जना में उनका शैव–अद्वैत भाव ही मूलाधार है। सम्पूर्ण काव्य में यथावसर वृहत् और बहुप्रचलित छन्दों की अमृत वर्षा कर काव्य को उत्कृष्टता तो प्रदान ही किया, साथ ही उसकी भव्यता में भी आवश्यक रमणीयता को जन्म दिया। इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, मालिनी, सगधरा, मन्दाक्रान्ता, मञ्जुभाषिणी, मालभारणी, रथोद्धता, रूचिरा, वियोगिनि इत्यादि छन्दों का बहुआयामी रूप प्रकट किया। कविवर क्षेमेन्द्र ने तो इनके वसंततिलका छन्द की बेहद प्रशंसा भी की है–

"बसन्त–तिलकारूढा वाग्वल्ली गाढसंगिनी।
रत्नाकरस्योत्कलिका चकास्त्यानन–कानने।। क्षेमेन्द्रकृतसुवृत्ततिलक

सचमुच रत्नाकर की शैली विचित्र मार्ग के विविध एवं भव्य आकर्षण से युक्त है। विशुद्ध वर्णों के समुज्ज्वल प्रसाद एवं गाम्भीर्य से अभिभूत कवि की सरस्वती इनकी काव्य पीठिका को सुशोभित करती है।

रत्नाकर पर विभिन्न कवियों का प्रभाव :– कहते हैं कि कविवर रत्नाकर पर अपने पूर्ववर्ती कालिदास, भारवि, भट्टि, बाण, माघ इत्यादि कवियों का प्रभाव था, क्योंकि रत्नाकर की भाषाशैली, भावसाम्य, उक्तिसाम्य, वर्ण्यविषय, रस, अलङ्कार, रीति, गुण सभी में पूर्णरूपेण इन कवियों का भाव परिलक्षित होता है। उनमें कादम्बरी कथाकार बाण और वृहत्त्रयी के मध्यमणि सम्राट माघ का कुछ ज्यादा ही प्रभाव 'हरविजय' पर दिखाई देता है। माघ की ही भाँति रत्नाकर ने काव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में एक शब्द–विशेष रत्न' का प्रयोग किया हैं जैसे माघ ने 'श्री' शब्द का

किया था। अलङ्कृत युग के सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि होते हुए भी कविवर रत्नाकर की काव्य भूमि कालिदास से अछूती नहीं रही। उत्तरवर्ती सभी कवियों (भारवि, माघ, भट्टि, अश्वघोष, कुमारदास, रत्नाकर ने कालिदास के विभिन्न वर्ण्यविषयों का ग्रहण बेइमानी से ही किया, क्योंकि यथार्थ रूप में तो वे समाज को अपने युग की शैली से चमत्कृत करना चाहते थे। जिस प्रकार हर युग में रङ्गमञ्च की दीवारों पर चित्र बनाने की प्रथा जारी थी, उसी प्रकार कालिदासोत्तर युग के कवियों ने जनमानस को भाव–विभोर करने हेतु साथ ही वर्ण्यविषय में चमत्कारिता लाने हेतु अपनी शैली का भी प्रतिक्षणरूप बदला।[1] हर युग में शैलियों का परिवर्तन कलाकार के कौशल और कला चातुर्य का ही परिणाम है। शास्त्र केवल शास्त्र है, जो मानदण्डो का निर्देश देता है उन्हें कार्यरूप में कलाकार को ही परिणित करना होता है। शास्त्रकारों ने इस सम्बन्ध में अजंता के चित्रों के लिए एक सुन्दर प्रतिमान स्थापित किया है।

> "सुप्तं च चेतनायुक्तं मृतं चैतन्य वर्जितम्।
> निम्नोन्नतविभागं च यः करोति स चित्रवित्।।"[2]

कविवर रत्नाकर ने यथाविधि ऐसे चित्रों से प्रेरणा लेकर अपने काव्य को सर्वविध श्रृङ्गारों से अलङ्कृत किया। हरविजय के भगवत्प्रबोध नामक सर्ग में रघुवंश के अज प्रबोध का, कुमारसम्भव के शिवस्तुति एवं भगवान् शंकर के विचित्र रूप का वर्णन कविवर रत्नाकर के छठे सर्ग में उपस्थित शिवस्तुति से, तथा रत्नाकर के द्वारा 24वें सर्ग में विरह वर्णन के प्रसङ्ग में वियोगिनी वृत्त का वर्णन कालिदास से ही प्रभावित है। सुभाषित सूक्तियों एवं श्लोकों के भावों में भी परस्पर समानता दिखाई देती है। देखिए–

> क्षितितोयमारूतकृशानुभानुमद्‌गगनामृतांशुयजमानमूर्तये।
> भवते मतिध्वनिविकल्पगोचरव्यतिवृत्तरूप परमात्मनेनमः।। हर0 –6/184

इस श्लोक का भाव 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' नाटक में प्रयुक्त प्रसिद्धनान्दी 'यः सृष्टिःस्रष्टुराद्यावहति' (1/1 अभि0) में पूर्णरूपेण प्रतिविम्बित होता है। हरविजय के बीसवें सर्ग में उपस्थित चन्द्रोदय वर्णन का प्रसङ्ग पूर्वमेध के एक श्लोक से साम्य रखता दिखाई देता है।

---

1. "तत्रापि माघस्यैव कीर्तिभवनमयितुं स वद्धपरिकर इवाभाति"। हरविजय प्रशस्ति
2. विष्णु धर्मोत्तरपुराण में चित्रकला विधान – वीणा अग्रवाल – पृ0 25

प्रत्यग्रपक्षघटनेन निशावतार रामेषुणा सपदि वासरक्रौञ्चकुञ्जे।
निर्दारिते स्फटमयुक्छदनच्छदाच्छानिर्गच्छति स्म शशिदीधिति हंस पङ्क्तिः।।

हर0– 20/23

"प्रालेयाद्रेरूपतटमतिक्रम्य तास्तान्विशेषान्।
हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम्।।" पूर्वमेध – 60

इसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि कविवर रत्नाकर ने कालिदास के छायानुग्रहीत भावों का अवलम्बन लेकर अपनी कविता को विभूषित किया है। इतना ही नहीं कहीं–कहीं तो पूर्णरूपेण रत्नाकर ने कालिदास के शब्दों को ही रख दिया है– देखिए–

"प्रमुदितवरपक्षमेकतस्तत्क्षितिपतिमण्डलमन्यतो वितानम्।
उषसि सर इव प्रफुल्लपद्मं कुमुदवनप्रतिपन्ननिद्रमासीत्"।। रघुवंश– 6/86
"विशदमधुर सारणानुबन्धक्वणदलिसंहतिवल्लकीनिनादैः
जनितसुखमिव क्षयावसानेकुमुदवनं प्रतिपन्न निद्रमासीत्"।। हर0– 28/60

कविवर रत्नाकर ने कालिदास के समान भारवि के भी वर्ण्यभावों का सम्यक् अनुसरण किया। जहाँ किरात का अनुकरण माघ की कविता में देखा जाता था वहीं माघ की कविता का प्रभाव रत्नाकर में भी दिखाई देने लगा। रत्नाकर ने भारवि के काव्य का भी गाढ़ानुशीलन किया था। उनके काव्य में भारवि का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है– देखिए–

1. दोनों ही काव्य शैव सम्प्रदाय के समर्थक है।
2. दोनों ही काव्य भगवान् शङ्कर की महिमा का गुणगान करते है।
3. दोनों ही ग्रन्थों का कथानक अत्यन्त संक्षिप्त है।
4. किरात और हरविजय दोनों का अङ्गीरस वीर है।
5. दोनों ही ग्रन्थों का कथानक पौराणिक है।
6. भारवि ने जिन दुरुह रूढ़ियों का संक्षेप में प्रयोग किया उनका रत्नाकर ने विस्तार किया।
7. किरात की शिवस्तुति से रत्नाकर की शिवस्तुति का साम्य दृष्टिगत होता है।

देखिए – किरात0 – 18/22–42

"अधितिष्ठतो हृदयपद्मविष्ठरं भुवनत्रयं व्यवहृदेकसक्षिणः।
प्रतिघव्यपायपरिशून्यसंविदः किमिवास्ति यन्न विदितं तवेशितुः।।

हर0– षष्ठ सर्ग/13

'किरात' जहाँ 'नारिकेलफल सन्निभ' है वहीं 'रत्नाकर' का 'हरविजय' 'औषधिपाकसन्निभ' है। भारवि 'आतपत्र संज्ञा' से विभूषित हैं तो कविवर रत्नाकर 'तालरत्नाकर' इस उपाधि से मण्डित हैं। भारवि के बाद छठीं शता0 के उत्तरार्ध में प्रादुर्भूत हुए कविवर भट्टि के 'रावणवध' महाकाव्य का भी प्रभाव रत्नाकर के ऊपर देखा जाता है। 12वें सर्ग में उपस्थित विभीषण की वाग् चतुरिमा और पांचवें सर्ग में उपस्थित शूर्पणखा के भाषण से कवि की राजनीतिज्ञता का प्रकृष्ट ख्यापन होता है। देखिए–

वृद्धिक्षयस्थानगतामजस्त्रं वृत्तिं जिगीषुः प्रसमीक्षमाणः।
घटेत सन्ध्यादिषु यो गुणेषु–लक्ष्मीर्न तं मुञ्चति चञ्चलाऽपि।। भट्टि 1/26–30
"उपायशून्यास्तरवः क्षिताविव क्रियाविशेषा व्यभिचारिणः फले।
त एव नूनं नियमेन भूभृतां फलन्ति कल्पद्रुमवन्नयाश्रयाः।।

देखिए – हरि0– 12/37, 40, 43, 44

भट्टि के ऐसे ही विविध भावों को कविवर रत्नाकर ने सादरपूर्वक ग्रहण करके अपनी लेखनी से काव्य की शोभा को द्विगुणित किया। रत्नाकर ने केवल एक गुण को भट्टि के काव्य से सर्वविध रूप में ग्रहण किया, वह है– 'कथाप्रवाह का संरक्षण'। महाकवि 'रत्नाकर' अपने 'हरविजय' महाकाव्य में पग–पग पर सर्वत्र भाषा, भाव, शैली तथा वर्णन प्रसङ्गो में बाण से प्रभावित दीख पड़ते हैं। उन्होंने स्थान–स्थान पर बाण की प्रशस्ति की है। जैसे कविवर 'बाण' अपनी सर्ववृतान्तगामिनी सूक्ति 'बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम्' से जगत् में विख्यात हुए, वैसे ही उक्ति यदि रत्नाकर के भी विषय में कही जाय तो कोई अनुचित नहीं होगा।[1] जैसे विभिन्न काव्यों का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन बाण ने किया था, वैसे ही रत्नाकर ने भी हरविजय में वर्णन किया।

---

1. महाकवि बाण भट्ट – विजय लक्ष्मी त्रिवेदी – पृ0 12

बाण किसी भी विषय के वर्णन को प्रारम्भ करके उनमें नयी–नयी उद्‌भावनाओं को जन्म देते थे वैसे ही रत्नाकर ने भी नये–नये पदविन्यास, श्रवणसुखद तथा कुतूहलजनक भावाभिव्यक्ति की उद्‌भावना किया। "नवोऽर्थो जातिरग्राम्या, श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः। विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्"। ऐसे विकट एवं दुरूह शब्द जाल भी बाण की शैली में सुलभ रूप से विद्यमान होते हैं। रत्नाकर ने भी बाण की सन्तुलित प्रवृत्ति को अङ्गीकार करके अलङ्कृत शैली में उसे मूर्त करने का प्रयास किया। देखिए– कुछ उदाहरण कादम्बरी के सन्ध्यावर्णन का दृश्य –

"रविविनाशदुःखिता विभावरी यथा मृगचर्माम्बरधारिणी भवति तथैव चन्द्रोदयेऽपि मरूद्विधूतपर्णरन्ध्र प्रविष्टचन्द्रकिरणशबलितां तरूणां छायां विभ्रती भूमिः 'संवीतचित्रमृगचर्मपटेव' समवलोक्यते।" कादम्बरी सन्ध्यावर्णन

ऐसे ही भावों से मिलता–जुलता रत्नाकर के हरविजय का सन्ध्यावर्णन देखिए–

भाति स्म मारूतविधूतपलाशरन्ध्रलब्धप्रवेशशिशिरांशुमरीचिशाराम्।
छायां विनेशुषि खौ दधती तरूणां, संवीतचित्रमृगचर्मपटेव भूमिः।। हर० 20/56

उक्त वर्णन को देखकर प्रतीत होता है कि रस और अलङ्कार की अनुपम निर्भरता का उस युग में विशेष आदर था। अच्छोद सरोवर के प्रसङ्ग में बाण ने अलङ्कारात्मक विशेषणों की लड़िया लगा दी हैं, क्योंकि अलङ्कारों का जो चाकचिक्य पूर्ववर्ती भारवि, भट्टि, कुमारदास, माघ के माध्यम से चला आ रहा था, उसे बाण ने अपनी लेखनी से अक्षुण्ण रखा।

तस्य तरूखण्डस्य मध्यभागे मणिदर्पणमिवं त्रैलोक्यलक्ष्म्याः, निर्गमन मार्गामिव सागराणाम्, निःस्यन्दमिव दिशाम्, अंशावतारमिव गगनतलस्य, कैलाशमिव द्रवतामापन्नम्, चन्द्रातपमिवरसतामुपेतम्, हराट्टहासमिव जलीभूतं ––– मदनध्वजमिव मकराधिष्ठितम्, ––– अतिमनोहरम् अच्छोदं नामसरो दृष्टवान्।

कादम्बरी अच्छोद वर्णन पृष्ठ– 197–200

"वीचीसमीरधुतकाञ्चनपुण्डरीकपर्यस्तकेसरपरागपिशङ्गिताम्भः।
अच्छोदमैच्छत स देवपुरन्ध्रिपादलाक्षारूणीकृतशिलातलतीरलेखम्।। हर०– 30/19

इनके समुद्रवर्णन में शैली का जितना स्फुट रूप उभरा है उतना ही रत्नाकर के अन्धक राजधानी प्रसङ्ग में स्फुट रूप दृष्टिगोचर होता है। देखिए–

"सन्नागमक्षततिमिश्रितमुत्प्रवाल मुद्रागमाकुलमलङ्घनताम् वाप्तम्।
सश्रीफलस्पृहतरप्लवगं वनौघमुत्तालमुच्चमरसत्त्वजुषं वहन्तम्।। हर0–30/60–69

इतना ही नहीं भिन्न प्रसङ्गों यथा युद्ध, शोक, आदेश आदि में भी रत्नाकर की शैली बाण से प्रभावित दीख पड़ती थी। शैली का चरम उत्कर्ष इनके वर्णनों में है।

रत्नाकर ने इसी भाव एवं शैली का सम्यक् अनुधावन कर वर्ण्य विषय में अद्‌भुत चमत्कार पैदा किया। कालमुसल के वर्णन में, मृगयाविहार वर्णन में, विरह वर्णन में, मन्दर पर्वत के वर्णन में, प्रत्यूष वर्णन में, श्रृङ्गारिक चित्रणों में बाण की शैली का रत्नाकर ने पूर्णरूपेण अनुधावन किया। इतना ही नहीं रत्नाकर के 38वे सर्ग में उपस्थित दूतगर्जन के प्रसङ्ग में बाण के शुकनासोपदेश का पूर्णरूपेण साम्य दिखाई पड़ रहा है– देखिए–

"गुरूवचनमभलमपि सलिलमिव महदुपजनयति श्रवणस्थितं शूलमभव्यस्य
इतरस्य तु करिण इव शंखाभरणमाननशोभासमुदयमधिकतरमुपजनयति"––––।।

कादम्बरी – शुकनासोपदेश

"आवर्ज्यतेऽवसर एव हि चित्तवृत्तिरत्यन्तदक्षिणतया सुजनस्य वाग्भिः।
प्राप्त मधावविरतं नवयूतयष्टिरूल्लास्यते मलयमारूतवेल्लनाभिः।। हर0– 38/14

बाण की विरोधाभास सम्पन्न शैली कैसे–कैसे प्रसङ्गों में श्लोक रूप में परिणत हो गयी है उसी का भाव हरविजय महाकाव्य की काव्यभूमि में देखिए–

शैलाभिघातश्कलीकृतमव्यखण्डमाकृष्टरत्नमपि रत्ननिधित्वमाप्तम्।
लक्ष्मीमदग्धदशमप्यसभौर्ववह्नि दाहाकुलं चिरगतामपि नोत्सृजन्तम्।। हर0–30/47

ऐसे ही श्लेष–प्रधान स्थलों में भी कादम्बरी की शैली हरविजय की शैली से साम्य रखती प्रतीत होती है। देखिए–

"निरन्तरश्लेषघनाः सुजातयो महास्रजश्चम्पयककुड्मलैरिव"। कादम्बरी –

इनके 'हरविजय' महाकाव्य में बाण की उत्प्रेक्षा का भाव भी सूक्ष्म दृष्टया विद्यमान है। अलङ्कृत गद्य शैली की उत्प्रेक्षा पद्य शैली की उत्प्रेक्षा से किसी भी दृष्टिकोण में न्यून नहीं है– देखिए–

ऊर्ध्वमुखैः –– ऊष्मपैस्तपोधनैरिव परिपीयमानतेजः प्रसरो विरलातपो दिवसस्तनिमानमभजत्। क्वापि विहृत्य दिवसावसाने लोहिततारका तपोवन धेनुरिव कपिला परिवर्तमाना सन्ध्या मुनिभिरदृश्यत। कादम्बरी – पृ0 81, 82

"लावयणनिर्भर पुरन्ध्रिमुखावधूतच्छायो दधत्कलुषतां हृदयेन यस्याम्।
इन्दुर्निशासु मणिकुट्टिमबिम्ब्यमान मूर्तिच्छलेन विशतीव रसातलान्तः।।हर0–1/31

इसी महाप्राण शैली की उपर्युक्त विशेषता का भयङ्कर रूप में निदर्शन करते हुए श्री बेवर ने कहा है – "An Indian wood where all progress in rendered impossible by the undergrowth until a traveler cuts out a paths for himself and when even than he has to reckon with malicious wild fasts in the shape of unknown words that affright him.[1]

कविवर रत्नाकर बाण की शैली से ही अनुपाणित नहीं थे, बल्कि माघ की कृत्रिम एवं अलङ्कृत शैली से भी प्रभावित थे। रत्नाकर तथा हरिचन्द्र भाव तथा कल्पनाओं के क्षेत्र में माघ के पर्याप्त ऋणी कहे जा सकते हैं। इस सन्दर्भ में रत्नाकर ने दावा किया था, कि उसके काव्य को पढ़ने पर अकवि शिशु भी कवि हो सकता है।[2] जहाँ तक कलावादी पद्धतिं का प्रश्न है, निःसन्देह माघ उस ढर्रे की कविता बनाकर अभ्यास को देने में रत्नाकर से कम सफल नहीं हैं। कविवर रत्नाकर अपने पाण्डित्य के बलबूते पर ही परम्परागत काव्य प्रवृत्ति के क्षेत्र में अग्रसर होते है। अलङ्कृत शैली की झङ्कार का बेसुध रूप प्रस्तुत कर माघ की प्रतिभा को भी हतप्रभ कर दिया। देखिए ऐसे ही कुछ दृश्य जिन पर माघ का प्रभाव पूर्णरूपेण परिलक्षित होता है।

---

1. Webver, Indische Studien 1, 308-86
2. "अपि शिशुरकविः कविः प्रभावात् भवति महाकविः क्रमेण"। हरविजयम्– भूमिका

शिशुपाल	हरविजय
1. समय एव करोति बलाबलं प्रणिगदन्त इतीव शरीरिणाम्। शरदि हंसरवाः परूषीकृताः स्वरमयूरमयूर रमणीयताम्।। शिशु0 – 6/44	1. समय एव गुणोऽप्युपयुज्यते, सपरिरम्भरुचिं दयितं स्त्रियाः। स्तनयुगोष्मभर शिशिरागमे, यदकरोदकरोष्णिमगोपतौ।। हर0 – 3/83
2. नवपलाश पलाशवनं पुरः स्फुटपरागपरागतपङ्कजम्। मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः।। शिशु0 – 6/2	2. मधुपराजिपराजितमानिनी जनमनः सुमनः सुरभिश्रियम्। अमृतवारितवारिजविप्लवां, स्फुटिता।। हर0 – 3/2

उक्त उदाहरणों को देखकर विदित होता है, कि जैसे माघ ने भारवि के पदचिह्नों पर चलकर उनकी शैली का सम्यक् अनुसरण करके उनकी प्रतिभा को हतप्रभ कर दिया था, उसी प्रकार कविवर रत्नाकर भी माघ की अलङ्कृत एवं कृत्रिम शैली का सम्यक् अनुसरण करते हुए माघ की कीर्ति को ढक देने का प्रयास किया और अपनी कीर्ति को दिग्दिगन्तर में प्रसृत किया।

अन्त में हम यही कहेंगे कि जिस प्रकार माघ ने अपने काव्य से अपनी भीतरी स्थिति को मजबूत कर काव्य जगत् में एक सर्जनात्मक प्रवृत्ति को जन्म दिया था,[1] वैसे ही रत्नाकर ने उनकी प्रतिभा का अतिक्रमण कर सम्यक् सुख्याति को प्राप्त किया। माघ वैष्णव थे, रत्नाकर शैव। जहाँ माघ के काव्य को "लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्रचारू"[2] कहा गया वहीं रत्नाकर के काव्य को "चन्द्रार्धचूड़चरिताश्रयचारू" के विरूद् से सुशोभित किया गया।[3]

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि कालिदासोत्तर कवियों ने काव्य के बुद्धिवैभव के शास्त्राभ्यास को प्राप्त करने के लिए सीमा का अतिक्रमण कर दिया, जिससे नियमों में क्लिष्टता होने के कारण कविता–कामिनी विवश रूप में प्रतीत होने लगी। भारवि के द्वारा जो मानदण्ड स्थापित हुआ माघ ने उसमें चमत्कार और उत्कर्ष उत्पादित किया, लेकिन रत्नाकर के द्वारा तो वह पराकाष्ठा को प्राप्त हो गयी। रत्नाकर के काव्य–अध्ययन के बिना चमत्कार–युग के काव्यों का हम वास्तविक मूल्याङ्कन नहीं कर सकते।

---

1. माघकृत शिशुपालवध – कविवंश वर्णन वर्ग – 20/5 पण्डित दुर्गा प्रसाद और दधीचि पण्डित, शिवदत्त, विरचित टीका – पृ0 522,
2. हरविजय प्रशस्ति – श्लोक 1
3. महाकवि रत्नाकर विरचित – हरविजय – डॉ0 कृष्णकान्त शुक्ल, संस्करण द्वितीय 1981, प्रकाशन– 'शारदा सदन' मुजफ्फरनगर।

पञ्चम अध्याय

हरिचन्द्र का धर्मशर्माभ्युदय – 'कविवर हरिचन्द्र' संस्कृत–साहित्याकाश के प्रख्यातनामा कवि एवं मूर्धन्य विद्वान थे। कोमलकान्त शब्दावली द्वारा नवीन अर्थ का सृजन इनकी अपनी विशेषता है। इनका 'धर्मशर्माभ्युदय' महाकाव्य संस्कृत के जैन महाकाव्यों में से एक उच्चकोटि का काव्यग्रन्थ है। जिसकी भाषा शैली अत्यधिक सुगम एवं हृदय को भाव–विभोर करने वाली है।[1]

'कविवर हरिचन्द्र' ने अपने 'धर्मशर्माभ्युदय' महाकाव्य के इक्कीस सर्गों में चौबीस तीर्थङ्करों में परिगणित पन्द्रहवें तीर्थङ्कर धर्मनाथ के जीवन चरित का रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है। कवि ने मंगलाचरण में सज्जन–दुर्जनादि के वर्णन के साथ उनके पिता रत्नपुराधिपति महासेन के वर्णन से प्रारम्भ कर तीर्थङ्कर की वैराग्य प्राप्ति का वर्णन कर तथा जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर ग्रन्थ की समाप्ति की है।[2] डा० डे० के अनुसार धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य (एकादश शतक) अपने समय का प्रतिनिधि काव्य है। धर्मनाथ के प्रति रतिभाव प्रदर्शन के कारण सम्पूर्ण काव्य एक भाव–प्रधान काव्य है। इक्कीस सर्गों के महाकाव्य में वीररस का अभाव सा है। केवल 19वें सर्ग में वीररस का स्थल प्राप्त होता है। इनके चित्रयुद्ध वर्णन में किसी प्रकार का वैशिष्ट्य नहीं प्राप्त होता है।

'कविवर हरिचन्द्र' ने धर्मनाथ जैसे महापुरूष का वर्णन कर अपनी रूचि पौराणिक आख्यानों की ओर ध्यानाकृष्ट किया है। क्योंकि कवि को पौराणिक–ऐतिहासिक घटनाओं को लेकर नये–नये काव्य सृजन करने का विशेष शौख था। इस काव्य को कवि हरिचन्द्र ने अपनी अनुपम श्रुतिमधुर रसमयी लेखनी से ऐसी काव्यमयी भाषा में परिणत किया है जिसकी प्रशस्ति अनेक कवियों ने की है। 'कविवर महाकवि हरिचन्द्र' का व्यक्तित्त्व एवं कर्तृत्व दोनों महान् था। इनकी गणना कालिदास, भारवि, भट्टि, माघ, रत्नाकर जैसे प्रकाण्ड पण्डितों की सरणि में ही की जाती थी।

---

1. 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' – रामदेव साहू
2. परस्य तुच्छेऽपि परोऽनुरागो महत्यपि स्वस्य गुणे न तोषः।
   एवं विधो यस्य मनोविवेकः किं प्रार्थ्यते सोऽत्र हिताय साधुः।। धर्म0– प्रथम / 18

इन्होंने अपने काव्य ग्रन्थ में काव्य के समस्त अवयवों का यथाविधि पालन कर उसका सम्यक् निर्वाह किया है। रस, गुण, रीति (वैदर्भी और पाञ्चाली), शब्दवैचित्र्य, अर्थवैचित्र्य ध्वनि के विविध भेदों को प्रदर्शित किया है। एक से एक कौतूहलपूर्ण वर्णनों को अपनी भावपूर्ण भाषा से सजा–सवाँरकर काव्य–जगत् में अपने वैदुष्य का सम्यक् परिचय दिया है।[1] इतना ही नहीं महाकाव्य के विविध वर्ण्य विषयों यथा जलक्रीड़ा, केलिक्रीड़ा, चन्द्रोदय, सूर्योदय, ऋतुवर्णन, सांध्यकालीन वर्णन, पानगोष्ठी, समुद्रतट वर्णन, पर्वतवर्णन, उद्यानवर्णन, मृगया वर्णन, वन वर्णन, युद्धवर्णन, नदी वर्णन इत्यादि का यथोचित चित्रण कर महाकाव्य की विविधता को घटने नहीं दिया है।

संस्कृत वाङ्मय में काव्यों की एक विशाल श्रृङ्खला का क्रम चला आ रहा था। उसी श्रृंखला में हम आचार्य जिनसेन के पार्श्वाभ्युदय का भी नाम सुनते हैं। इस ग्रन्थ में जिनसेन ने कुलगुरू कालिदास के लघुत्रयी (रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत) में परिगणित मेघदूत नामक गीतिकाव्य के सम्पूर्ण श्लोकों को समस्या पूर्ति के रूप में ग्रहण कर 23वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का दिव्य चरित वर्णित किया है। नवम शती0 के शिवस्वामी का 'कप्फिणाभ्युदय' का कुछ अपना अलग ही महत्त्व है। बीस सर्गों में कवि ने कप्फिण नामक राजा के बौद्ध बनने का वृत्तान्त वर्णित किया है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में (भारवि, माघ, रत्नाकर की तरह) इन्होंने 'शिव' शब्द को सम्बोधित करके काव्य को 'शिवाङ्क' पद से विभूषित किया है। इन्होंने स्वयं अपने को 'सुविज्ञ' कहकर चित्रकाव्य का उपदेशक 'यमक कवि' कहा है। इनके वैचित्र्यपूर्ण काव्य का अध्ययन करने से यह विदित होता है कि शिवस्वामी ने भी कालिदास, अश्वघोष, भर्तृमेण्ठ, दण्डी, इत्यादि को अपना उपजीव्य माना होगा तभी काव्य में उनके जैसे भावों को वे जन्म दे सके। इसके अलावा अन्य महाकाव्य यथा यादवाभ्युदय, भरतेश्वराभ्युदय, सालवाभ्युदय, रामाभ्युदय, नलाभ्युदय, अच्युतरामाभ्युदय, और रघुनाथाभ्युदय भी इसी श्रृङ्खला में परिगणित किये गये हैं, जिनके द्वारा संस्कृत साहित्य की परम्परा समृद्ध हुई है। इसी श्रेणी में महाकवि हरिचन्द्र का धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य आता है।

---

1. वाणी भवेत्कस्यचिदेव पुण्यैः शब्दार्थसन्दर्भविशेषगर्भा।
इन्दु विनान्यस्य न दृश्यते द्युतमो धुनाना च सुधाधुनीव।। धर्म0 – 1/16

कवि हरिचद्र ने क्षत्रिय वंशोत्पन्न धीरोदात्त नायक के गुणों से ओत–प्रेत तीर्थङ्कर धर्मनाथ को काव्य का नायक बनाकर एक विशिष्ट परम्परा को जन्म दिया है। वह रानी सुव्रता तो धन्य है ही साथ ही वह कवि भी कृतकृत्य हो गया, जिसने भावपूर्ण आलङ्कारिक भाषा में इनका वर्ण्य विषय प्रस्तुत किया। इसी प्रकरण में कवि ने सुमेरूपर्वत[1], समुद्रमन्थन[2], एवं विशिष्ट प्रकार की देवसेना का रमणीय वर्णन कर श्रोता एवं पाठक को बरबस अपनी ओर आकृष्ट किया है। यह कवि के शब्दगत भावों का कमाल था जिसमें बहुविध रूप से वैदर्भी एवं पाञ्चाली जन्य पदों की लड़ियाँ समायोजित थी। पुत्र के अभाव से राजा महासेन बहुत चिन्तातुर दिखाई देतें हैं। इसकी अलौकिक कल्पना को कवि ने शब्द और अर्थ के माध्यम से कैसे सराहनीय ढंग से वर्णित किया है – देखिए –

क्व यामि तत्किं नु करोमि दुष्करं सुरेश्वरं वा कमुपैमि कामदम्।
इतीष्टचिन्ताचयचक्रचालितं क्वचिन्न चेतोऽस्य बभूव निश्चलम्।। धर्म0 – 2/74

–कहाँ जाऊँ, कौन सा कठिन कार्य करूँ, अपने मनोरथ को पूर्ण करने वाले किस देवेन्द्र की शरण गहूँ– इस प्रकार इष्ट पदार्थ विषयक चिन्तासमूहरूपी चक्र से चलाया हुआ राजा का मन किसी भी स्थान पर निश्चल नहीं हो रहा था।

उक्त वर्णन को देखकर प्रतीत होता है कि कवि की विषयावगाहिनी बुद्धि निश्चित ही शब्द और अर्थ का युगपद् वर्णन लेकर सर्वत्र प्रवृत्त हुई है। इनकी चमत्कारिणी प्रतिभा का परिचय तो उस समय होता है जब महाराज धर्मनाथ विदर्भदेश के राजा प्रतापराज की पुत्री श्रृङ्गारवती के स्वयम्बर में सम्मिलित होने के लिए जाते हैं। मार्ग में पवित्र गङ्गा नदी को पार करते हुए राजा धर्मनाथ विन्ध्याचल पर्वत पहुँचते है। उस समय का विन्ध्याचल का वर्णन हृदय को आह्लादित करने वाला है क्योंकि एक साथ छहों ऋतुओं का उदय उसी शोभा में अभूतपूर्व वृद्धि कर देता है। विन्ध्याचल के फलपुष्प शोभित वन में पुष्पावचयकरती हुई रमणियाँ जब थक गयी तो उनके अङ्ग

---

1. परिस्फुरत्काञ्चनकायमाराद्विभावरीवासरयोर्भ्रमेण।
विडम्बयन्तं नवदम्पतीभ्यां परीयमाणानलपुञ्जलीलाम्।। धर्म0–7/22

2. प्रशयितुमिवार्ति दुर्वहामौर्ववह्ने र्यदधिरजनि चान्द्रीः शीलयामास भासः।
तदयमिति मतिर्मे क्षीरसिन्धुर्जनानामजनि हृदयहारी हारनीहारगौरः।। धर्म0–8/17

पसीने की छोटी–छोटी बूँदों से कैसे व्याप्त हो गये तब जलक्रीड़ा के के हेतु वे नर्मदा नदी के तटप्रान्तों की ओर उन्मुख हुई। ऐसी थकी एवं क्लान्त स्त्रियों का वर्णन देखिए–

"द्विगुणितमिव यात्रया वनानां स्तनजघनोद्वहनश्रमं वहन्तयः।
जलविहरणवाञ्छया सकान्ता ययुरथ मेकलकन्यकां तरूण्यः।।" धर्म0–13/1

"तदनन्तर वनविहार से जो मानो दूना हो गया था ऐसा स्तन तथा जघन धारण करने का खेद वहन करने वालीं तरूण स्त्रियाँ जलक्रीड़ा की इच्छा से अपने–अपने पतियों के साथ नर्मदा की ओर चलीं।"

ऐसे प्रकृति जन्य चित्रों से माघ, रत्नाकर इत्यादि ने भी अपने काव्य को समृद्ध बनाया। माघने रैवतक पर्वत पर एक साथ छह ऋतुओं का वर्णन जैसे किया था, वैसा ही वर्णन कविवर हरिचद्र ने भी धर्मशर्माभ्युदय में किया। इतना ही नहीं जलक्रीड़ा, पुष्पावचय, पानगोष्ठी, सांध्यकालीन वर्णन, नदी वर्णन इत्यादि का दृश्य 71 श्लोकों में माघ ने अष्टम सर्ग में बहुविध उपादानों द्वारा व्यक्त किया। वहीं सम्पूर्ण 13वाँ सर्ग कविवर हरिचन्द्र ने इन्हीं दृश्यों से परिपूर्ण कर माघ से आगे बढ़ जाने की अपनी रूचि प्रदर्शित की। कविवर हरिचन्द्र की शैली पूर्णरूपेण अपने पूर्ववर्ती कवियों का अनुधावन करती हुई प्रतीत होती है। देखिए –

कथमपि तटिनीम गाहमानाश्चकितदृशः प्रतिमाच्छलेन तन्व्यः।
इह पयसि भुजावलम्बनार्थं समभिसृता इव वारिदेवताभिः।। धर्म0 – 13/19

कितनी ही चञ्चल–लोचना स्त्रियाँ नदी के पास जाकर भी उसमें प्रवेश नहीं कर रही थीं परन्तु पानी में उनके प्रतिविम्ब पड़ रहे थे जिससे वे ऐसी जान पड़ती थी मानों उनकी भुजाएं पकड़ने के लिए जलदेवियाँ ही उनके सम्मुख आयी हों।

ऐसा ही चित्रण माघ ने भी प्रस्तुत किया है–

आसीना तटभुवि सस्मितेन भर्त्रा रम्भोरूरवतरितुं सरस्यनिच्छुः।
धुन्वाना करयुगमीक्षितुं विलासाञ्शीतालुः सवितगतेन सिच्यते स्म।। शिशु0–8/19

"कोई एक स्त्री ठण्ड का बहाना लेकर नदी तट पर बैठी हुई सरोवर में प्रवेश करने के लिए कतरा रही है। उसका पति पानी में प्रवेश कर चुका है। पति के कहने

पर भी वह पानी में प्रवेश नहीं कर रही है मात्र दोनों हाथ मिलाकर मना कर रही है तब पति उसकी विलास– चेष्टाएँ देखने के लिए मुसकराता हुआ उस पर पानी उछाल रहा है। उक्त प्रसङ्गों को देखकर यह भली भाँति मालूम होता है कि हरिचन्द्र और माघ दोनों ही कवि आख्यानात्मक अंश से उतने अनुरक्त नहीं जान पड़ते जितने कि वर्णनात्मक अंश से।

कविवर हरिचन्द्र की भाषा में सरसता, सरलता, माधुर्य और रमणीयता है। वैदर्भी रीति का पद–पद पर सम्यक् प्रयोग हुआ है। शैली की सरसता तथा भावों की भव्यता इन दोनों का मधुमय सामञ्जस्य सर्वत्र दृष्टिगत होता है। इनका भाषा विषयक दृष्टिकोण भारवि, माघ, रत्नाकर की भांति अत्यधिक अलङ्कृत एवं कृत्रिम नहीं है। कविवर हरिचन्द्र की भाषा में अभी भी वह कालिदास का सरस प्रभाव व्याप्त था जिसकी समाप्ति पूर्णरूपेण नहीं हुई थी। फलतः इनका ध्यान शब्दसौन्दर्य की सृष्टि की ओर उतना नहीं गया जब भी प्रसन्न गम्भीर पदा सरस्वती किस सहृदय को बलात् अपनी ओर आवर्जन नहीं कर लेती। कविवर हरिचन्द्र ने अपनी वाक्सिद्धि के माध्यम एवं ललित पद के सन्निवेश से भाषा को पण्डित जनों की भाषा में परिवर्तित कर दिया है। इसी भाषा में परिवर्तित कर दिया है। इसी भाषा में कहीं श्लेष और यमक की भरमार है तो कहीं उपमा और रूपक की आँख मिचौनी है। तो कहीं उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति की धूप–छाँव। ऐसा प्रतीत होता है भाषा को चमत्कृत तथा आह्लाद पूर्ण बनाने के लिए अलङ्कार शास्त्र इनकी प्रतिभा के आगे सदैव हाथ जोड़े समर्पित रहता है। इतना ही नहीं इनका श्लेष प्रयोग के प्रति विशेष आग्रह चरम को प्राप्त हो गया है। श्लेष का यह उदाहरण देखिए –

"स्वस्थो धृताच्छद्मगुरूपदेशः श्रीदानवारातिविराजमानः।
यस्यां करोल्लासितवज्रमुदः पौरो जनो जिष्णुरिवावभाति।। धर्म0 4/23

जिस नगरी में नगरवारी लोग इन्द्र के समान शोभायमान है क्योंकि जिस प्रकार इन्द्र स्वस्थ हैं– स्वर्ग में स्थित है उसी प्रकार नगरवासी लोग भी स्वस्थ हैं। निरोग है, जिस प्रकार इन्द्र छलरहित गुरू–वृहस्पति के उपदेश को धारण करते हैं, जिस प्रकार इन्द्र श्रीदानवाराति विराजमान–लक्ष्मी सम्पन्न उपेन्द्र से सुशोभित रहता है उसी प्रकार

नगरनिवासी लोग भी श्री दानवारातिविजराजमान लक्ष्मी के दान जल से अत्यन्त सुशोभित है और इन्द्र जिस प्रकार करोल्लासितवज्रमुद्रहाथ में वज्रायुध को धारण करताहै उसी प्रकार नगरनिवासी लोग भी करोल्लासितवज्रमुद्र किरणों से सुशोभित हीरे की अँगूठियों से सहित हैं।

कालिदास की उपमा तो जग विख्यात थी, लेकिन हरिचन्द्र की उपमा श्लेष, वक्रोक्ति, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों के साथ मिलकर कवि की अलौकिक निपुणता को एवं प्रतिभा को व्यक्त करती है। कवि ने धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य में त्रिपथगा गङ्गा का और दशवें सर्ग में विन्ध्याचल पर्वत का विभिन्न छन्दों में वर्णन किया है जो पाठकों के लिए प्रेरणाप्रद है।[1] ऐसे महाकाव्य विषयक प्रसङ्गों को प्रस्तुत करने से कवि की प्रतिभा सहज ही चमत्कृत हो उठी है।[2] इन प्रसङ्गों की सौष्ठव भाषा एवं कौतूहलपूर्ण सरस शैली ने जनमानस को झकझोर कर रख दिया है। कविकुलगुरू कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य के नवम सर्ग को जिस प्रकार द्रुतविलम्बित और यमक के माध्यम से सँजाया सँवारा ठीक वैसी ही काव्यसुधा माघ ने अपने षष्ठ सर्ग में प्रवाहित की। इतना ही नहीं कविवर हरिचन्द्र ने भी उन्हीं का अनुकरण करते हुए उनसे भी ज्यादा सरल एवं परिनिष्ठित भाषा में[3] एकादश सर्ग के ऋतुवर्णन को व्यक्त कर अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया। शब्दश्लेष का चमत्कार देखिए– साथ ही एकवचन और बहुवचन का श्लेष किस प्रकार कवि के कौशल को व्यक्त करता है–

कान्तारतरवो नैते कामोन्मादकृतः परम्।
अभवन्नः प्रीतये सोऽव्युद्यन्मधु पराशयः।। धर्म0 – 3/23
उल्लसत्केसरो रक्तपलाशः कुञ्जराजितः।
कण्ठीरव इवारामः कं न व्याकुलयत्यसौ।। धर्म0 – 3/25

यद्यपि कवि हरिचन्द्र ने यमक अलङ्कार की छटा सर्वत्र विकीर्णित की है, लेकिन दसवें एवं एकादश सर्ग में तो उसकी पूर्ण प्रधानता दृष्टिगत होती है।

"मन्दाक्षमन्दा क्षणमत्र तावन्नव्यापि न व्यापि मनोभर्वन।
रामा वरा भावनिरन्य पुष्टवध्वा नवध्वानवशा न यावत्।। धर्म0 – 10/36

---

1. अनेक सुरसुन्दरीनयनवल्लभोऽयं दधन् मदान्धघन सिन्धुरभ्रमरूचिः सहस्त्राक्षताम्।
   महागहन भक्तितो मुकुलिताग्रभास्वत्करः पुरस्तव पुरन्दरद्युतिमुपैति पृथ्वीधरः। धर्म0–10/17
2. संस्कृत साहित्य का इतिहास –
3. तदभिधानपदैरिव षट्पदैः शबलिताभ्रतरोरिह मञ्जरी।
   कनक भल्लिखि स्मरधन्विनो जनमदारमदारयदञ्जसा।।धर्म0 – 11/12

चित्रालङ्कार की छटा तो कवि ने उन्नीसवें सर्ग में प्रदर्शित की है। कहने को तो यह जैन महाकाव्य है लेकिन यह किसी भी कीमत में शिशुपाल वध और नैषधीयचरित से कम नहीं है। अलङ्कारों के कलात्मक प्रयोग ने भाषा के उत्कर्ष को तो बढ़ाया ही है एक ओर जहाँ भारवि ने 15वें सर्ग में और माघ ने 19वे सर्ग में चित्रालङ्कारों का विराट रूप प्रदर्शित कर भारवि से कहीं ज्यादा श्रेष्ठ बनने की कोशिश में अपनी प्रतिभा को ही धूमिल बना दिया वहीं और आगे आने पर रत्नाकर ने तो उसका चरम निदर्शन प्रस्तुत कर भाव पक्ष को काव्य से एकदम बाहर कर दिया यह होड़ प्रत्येक कवि में अपने पूर्ववर्ती कवियों के अनुकरण पर आश्रित थी।[1] उदाहरणस्वरूप अतालब्य, प्रतिलोमानुलोमपाद, गोमूत्रिकाबन्ध, मुरजबन्ध, चक्रबन्ध, अर्धभ्रम षोऽशदलकमलबन्ध आदि चित्रकाव्यों से कवि की प्रतिभा का अनुमान लगाया जा सकता है। जबकि महाकवि हरिचन्द्र ने अपनी एतद्विषयक कुशलता सम्पूर्ण सर्ग में प्रदर्शित की है। इस सर्ग में कवि ने न केवल शब्दालङ्कार व अर्थालङ्कार का प्रयोग किया है बल्कि श्लेषालङ्कार का भी चरम निदर्शन प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार शिशुपाल वध में शिशुपाल का दूत, श्रीकृष्ण की सभा में जाकर द्वयर्थक श्लोकों के द्वारा स्तुति और निन्दा का पक्ष प्रस्तुत करता है उसी प्रकार धर्मशर्माभ्युदय के इस उन्नीसवें सर्ग में भी अङ्गादि देशों के राजकुमारों के द्वारा सुषेण सेनापति के पास भेजा हुआ दूत भी द्वयर्थक श्लोकों के द्वारा निन्दा और स्तुति के पक्ष को रखता है। देखिए –

परमस्नेहनिष्ठास्ते, परदानकृतोद्यमाः।
समुन्नतिं तवेच्छन्ति प्रधनेन महापदाम्।। धर्म० – 19/18

"अत्यधिक स्नेह रखने वाले एवं उत्कृष्ट दान करने में उद्यमशील वे सब राजा प्रकृष्टधन के द्वारा महान् पद–स्थान से युक्त आपकी उन्नति चाहते हैं अर्थात् आपको बहुत भारी धन देकर उत्कृष्ट पद प्रदान करेंगे (पक्ष में– वे सब राजा आपके साथ अत्यन्त अस्नेह–अप्रीति रखते हैं और पर–शत्रु को खण्ड–खण्ड करने में सदा उद्यमी रहते हैं। अतः युद्ध के द्वारा आपको हर्षाभाव से युक्त–मुदो हर्षस्य ततिर्मुन्नतिस्तया महिता तां समुन्नतिम्–महापदा–महती आपत्ति की प्राप्ति हो ऐसी इच्छा रखते हैं)।"

कविवर हरिचन्द्र की मेधाशक्ति तीक्ष्ण थी। इन्होंने माघ, रत्नाकर की काव्यशैली के अनुकरण पर ही अपने काव्य सन्धान को स्फुटित किया। शान्त रस प्रधान इस ग्रन्थ में यथावश्यक रीतियों, गुणों कल्पनाओं का उचित सामञ्जस्य प्रस्तुत कर काव्य को सरस एवं रोचक बना दिया है। साहित्यिक क्षेत्र में गुण को रस का धर्म माना जाता है इस दृष्टिकोण से शान्त रस में माधुर्य का सन्निवेश कर कविवर हरिचन्द्र ने बहुत ही सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है–

हेलोत्तरतुङ्गमतङ्गजावलीकपोलपालीगलितैर्मदाम्बुभिः।
गङ्गाजलं गज्जलमञ्जुलीकृतंकलिन्दकन्योदकविभ्रमं दधौ।। धर्म0 9/75

शान्तरस का एक दृष्टान्त चतुर्थ सर्ग में राजा दशरथ के वैराग्य चिन्तन में दिखाया है। वे किस प्रकार संसार के क्षणभङ्गुर दृश्यों को देखकर विरक्त हुये थे।[1]

अङ्ग रसों में कवि ने श्रृङ्गार का बेहद परिनिष्ठित रूप व्यक्त किया है। पन्द्रहवें सर्ग का सुरत वर्णन देखिए जहाँ श्रृङ्गार की रस धारा निरन्तर प्रवहमान है। शान्तरस प्रधान इस महाकाव्य में अनुष्टुप छन्द तथा चित्रालङ्कारों की विवशता के कारण यद्यपि इसमें वीर रस का उचित परिपाक नहीं हो पाया है जैसा माघ, भारवि, रत्नाकर इत्यादि कवियों ने अपने काव्य में दिखाया है फिर भी शाब्दी वैचित्र्य में कहीं–कहीं उन्होंने वीररस का उचित समावेश कर दिया है। देखिये –

"गुणदोषानविज्ञाय भर्तुर्भक्ताधिका जन्यः।
स्तुतिमुच्चावचामुच्चैः कां न कां रचयन्त्यमी।।" –धर्मशर्माभ्युदय

दूत के उत्तर में सुषेण कहता है– ये भक्ताधिक– भोजन से परिपूर्ण अथवा श्राद्धों में अधिक दिखने वाले– पिण्डीशूर लोग गुण और दोषों को जाने बिना ही अपने स्वामी की, ऊँची–नीची क्या क्या स्तुति नहीं करते हैं? अर्थात् खाने के लोभी सभी लोग अपने स्वामियों की मिथ्या प्रशंसा में लगे हुए हैं।

इस प्रकार कविवर हरिचन्द्र की प्रतिभा अपने पूर्ववर्ती कवि भारवि, भट्टि, कुमारदास, माघ, रत्नाकर, बाण, वीरनन्दी इत्यादि के अनुकरण पर ही यथावत फलीभूत हुई।

---

1. देखिए – धर्मशर्माभ्युदय – 4/44–60 में

कविवर हरिचन्द्र ने कालिदास के रघुवंश में वर्णित इन्दुमती स्वयम्बर के आधार पर ही अपने ग्रन्थ धर्मशर्माभ्युदय में श्रृङ्गारवती के स्वयम्बर की कल्पना की है।[1] समलङ्कृत स्वयम्बर मण्डप में युवराज धर्मनाथ के प्रवेश करते ही अन्य राजाओं की क्या स्थिति हो जाती है–? उसी सुन्दरता का वर्णन कवि ने अपनी सालङ्कार वाणी से किया है –

अयं स कामो नियतं भ्रमेण कमप्यधाक्षीद् गिरिशस्तदानीम्।
इत्यद्भुतं रूपमवेक्ष्य जैनं जनाधिनाथाः प्रतिपेदिरेते।। धर्म0– 17/6

"जितेन्द्र धर्मनाथ के स्वयम्बर मण्डप पर पहुँचते ही लोगों ने उनके चित्ताकर्षक रूप को देखकर यह समझा कि सचमुच यह कामदेव तो नहीं है। उस समय महादेव ने भ्रम से किसी दूसरे को जलाया था।"

कविवर हरिचन्द्र ने बाणभट्ट की कादम्बरी में दिये गये शुकनासोपदेश से प्रेरणा लेकर जिस परम्परा को आगे बढ़ाया था उसका और भी कवियों ने सम्यक् पालन किया। भारवि ने युधिष्ठिरोपदेश द्वारा, माघ ने उद्धवोपदेश द्वारा और वीरनन्दी ने चन्द्रप्रभचरित में श्रीषेण द्वारा जिस उपदेश का पालन किया है[1] उसी को और आगे बढ़ाते हुए जो उपदेश धर्मनाथ को दिलाया है वह उसी परम्परा की सम्पुष्टि है।[2] यह चमत्कार प्रियता समाज में व्याप्त हो चुकी थी। उसकी मांग पद–पद पर पण्डित समाज में होती थी। अब रस का भाव नाममात्र भी नही रह गया था। सर्वत्र नक्काशी ही नक्काशी का बोलबाला जाग्रत हो गया था।

इस प्रकार धर्मशर्माभ्युदय का अनुशीलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् यह विदित होता है कि कविवर हरिचन्द्र एक उच्च कोटि के कवि थे। इनकी शैली पर कालिदास के रघुवंश, भारवि के किरातार्जुनीयम्, माघ के शिशुपालवध, बाण की कादम्बरी तथा वीरनन्दी के 'चन्द्रप्रभचरित' की शैली का पूर्णरूपेण प्रभाव व्याप्त था। इतना ही नहीं रस, गुण, अलङ्कार तथा शब्द विन्यास की शैली भी लगभग एक समान है। शिशुपालवध में जहाँ कवि ने रैवतक पर्वत का वर्णन दारूक से कराया है तो धर्मशर्माभ्युदय में कवि ने प्रभाकर से कराया है–

---

1. समागमो निर्व्यसनस्य राज्ञः स्यात्संपदां निर्व्यसनत्वमस्य।
वश्ये स्वकीये परिवार एव तस्मिन्न वश्ये व्यसनं गरीयः।। चन्द्रप्रभचरित – 4/37
2. अचिन्त्यचिन्तामणिमर्थसंपदां यशस्तरोः स्थानकमेकमक्षतम्।
अशेषभूभृत्परिवारमातरं कृतज्ञतां तामनिशं त्वमाश्रयं।। धर्म0 – 18/21

उच्चारणज्ञोऽथ गिरां दधानमुच्चा रणत्पक्षिगणस्तटीस्तम्।
उत्कं धरं द्रष्टुमवेक्ष्य शौरिमुत्कंधरं दारूक इत्युवाच।। शिशु0 4/18
सुहृत्तमः सोऽथ सभासु हृत्तमः प्रभाकरश्छेत्तुमिति प्रभाकरः।
धरे क्षणं व्यापृतकंधरेक्षणं तमीश्वरं प्राह जगत्तमीश्वरम्।। धर्म0 10/15

इस प्रकार काव्य के विविध विधानों का जैसा चमत्कारी रूप कविवर हरिचन्द्र के ग्रन्थ में उपलब्ध हुआ है वैसा वर्णन अन्यत्र कम मिलता है। इसकी ख्याति का यही कारण है कि इस महाकाव्य में जीवन की पवित्रता का वर्णन पद–पद पर किया गया है। 21वें सर्ग का जैन सिद्धान्त वर्णन बेहद रोचक एवं प्रशंसनीय है। इस ग्रन्थ का अध्ययन करने के बाद यह प्रतीत होता है कि इसकी काव्यशैली में भले ही वैदर्भी पाञ्चाली आदि रीतियों के भाव समायोजित हो फिर भी यह किसी भी कीमत में माघ, भारवि, रत्नाकर की शैली से कम नहीं है। इसी परम्परा को विरासत रूप में आगे आने वाले कवियों ने अपनाया जैसे कि हरिचन्द्र ने अपने पूर्ववर्तियों से प्रेरणा ग्रहण किया था। इनकी रसानुरूप छन्दों की लयबद्धता रूपी काव्य भारती की प्रशंसा करते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र ने कहा है– कि कविवर हरिचन्द्र ने छन्दों का वैशिष्ट्य बड़ी छान–बीन के बाद किया।[1] इतना ही नहीं आगे आने वाले कवियों ने धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य को उपजीव्य बनाकर ही संस्कृत, अपभ्रंश प्राकृत आदि में कितने महाकाव्यों को नया जीवन एवं नया आयाम दिया। महाकवि हरिचन्द्र के विषय में विद्वानों ने कहा है– "महाकवि हरिचन्द्र के हृदय में न जाने कितने असंख्य शब्दों का भण्डार भरा हुआ है। रस के अनुरूप काव्यगत शब्द सौष्ठव को प्रकट करना इनकी विशेषता है।"

<u>कविराजकृत – राघवपाण्डवीयम् :–</u> एक ही काव्यरत्न में दो या दो से अधिक कथाशों का समावेश केवल श्लेष के माध्यम से सम्भव है, उसी को अन्य शब्दों में सन्धान काव्य के पद से सम्बोधित किया गया है। इस द्विसन्धान काव्यरत्न का उद्भव एवं विकास जैन कवि धनञ्जय से आरम्भ हुआ है। एक ही काव्य ग्रन्थ में दो, तीन, चार कथाशों को एक साथ सन्निहित करके विद्वद्गण अपनी चमत्कृति जन्य प्रतिभा को प्रदर्शित करते हैं। ऐसे ही अर्थो का द्योतन कराने वाली प्रवृत्ति क्रमशः

---

1. क्षेमेन्द्रकृत – सुवृत्त तिलक

कवियों में परिवर्धित होती चली गयी और लोगों ने इसी विशेष परम्परा से काव्य का समारम्भ किया। इन्हीं सन्धान कवियों में कविराज का राघवपाण्डवीयम् भी अपना विशेष एवं महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यह महाकाव्य काव्यालङ्कार भामह, काव्यालङ्कार रूद्रट, काव्यादर्शकार दण्डी आदि द्वारा दिये गये महाकाव्य के लक्षण से पूरी तरह ओत–प्रोत है। मङ्गलाचरण के त्रिविध प्रकारों में से 'राघवपाण्डवीयम्' महाकाव्य का प्रारम्भ नमस्कारात्मक मङ्गलाचारण से हुआ है। तेरह सर्गों में ग्रथित इस महाकाव्य का वितान बेहद चमत्कृत शैली से परिपूर्ण है जिसमें पुरूषोत्तम राम तथा युधिष्ठिर जैसे धीरोदात्त नायक का चित्रण अत्यधिक परमार्जित रूप में अङ्कित किया गया है।[1]

इतना ही नहीं इस महाकाव्य का काव्यकलेवर भी अद्भुत है जिसमें (अर्थात् इस राघवपाण्डवीयम् महाकाव्य में) रामायण तथा महाभारत की कथा साथ–साथ स्फुरित होती है। इसीलिए इसे द्विसन्धान की श्रेणी में परिगणित किया गया है। यद्यपि उक्त काव्यग्रन्थ राघवपाण्डवीयम् को महाकाव्य कहा गया है, किन्तु यह पूरी तरह महाकाव्य के लक्षण में खरा नहीं उतरता है। क्योंकि कवि ने अपना विशेष प्रयोजन प्रदर्शित करने में ही इतनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया है कि नगर, ऋतु, इत्यादि के वर्णन में उसकी रूचि ही नहीं प्रतीत होती, क्योंकि ऐसे द्विसन्धान काव्य की पदवी से मण्डित काव्यों में प्राकृतिक प्रसङ्गों से सम्बन्धित चित्रण की कल्पना नहीं की जा सकती। ऐसे ग्रन्थों की रचना में कवि के आश्रयभूत राजा कामदेव की ही प्रेरणा स्पृहणीय थी, क्योंकि कवि ने स्वयं उच्चरित किया है–

"तस्यावदातैः कविसूक्तिसूत्रैः संस्यूतनानागुणरत्नराशेः।
विनोदहेतोः कविराज सूरिर्निबन्धनद्वन्दमिदं विधत्ते"।। रा०पा०– 1/35

कविराज ने पूर्ववर्ती कवियों यथा– भारवि, माघ, रत्नाकर इत्यादि के ही समान अपने काव्य राघवपाण्डवीयम् के सभी सर्गों के अन्तिम श्लोक में 'कामदेव' शब्द का प्रयोग किया है। अतः इस काव्य को 'कामदेवाङ्क' काव्य भी कहा जाता है। कदम्बवंश के राजा कामदेव के आश्रित रहते हुए 'आचार्य कविराज' ने अपने पूर्ववर्ती धनञ्जय के

---

1. धीरोदत्त नायक का लक्षण – महासत्त्वो अतिगम्भीरः क्षमावान विकत्थनः।
स्थिरोनिगूढ़ाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढ़व्रतः।।
आचार्य धनञ्जयकृत– दशरूपक

राघवपाण्डवीयम् काव्य से अपने राघव पाण्डवीयम काव्य की ज्यादा, प्रशंसा की है और उस धनञ्जय के राघवपाण्डवीयम् से अपने राघवपाण्डवीयम् काव्य को सर्वश्रेष्ठ भी बताया है। इन्होंने कामदेव राजा का वर्णन करते हुए लिखा है –

श्री विद्याशोभिनो यस्य श्री मुञ्जादियतो भिदा।
धारापतिरसावासीदयं तावद्धरापतिः।।" रा0पा – 1/18

इतना ही नहीं इन्होंने – "सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराजइति त्रयः। वक्रोक्ति मार्ग निपुणाश्चतुर्थो विद्यते वा"।। इत्यादि श्लोक लिखकर अपनी इस कृति को सुबन्धुकृत वासवदत्ता तथा बाणकृत कादम्बरी के तुल्य मानते हुए अन्य कवियों की सभी कृतियों को अधः स्थित माना।

ऐसा प्रतीत होता है कि महाकवि वाल्मीकि की काव्य सरणि का अवलम्बन लेकर तथा अपने पर्वूवर्ती कवियों से प्रेरणा लेकर अपने–अपने काव्य कलेवर को पूर्ण रूप से परिवर्धित एवं विकसित किया तथा काव्य की अतिशयता को चरम बिन्दु पर पहुँचाया। शैली भले ही अपनी–अपनी थी लेकिन सभी का एकमात्र उद्देश्य अपने पूर्ववर्ती कवि को हर तरह से (भाषा, भावशैली) पराभूत कर उनसे आगे बढ़ जाने की थी। इस प्रकार प्रथम शता0 से लेकर बारहवी शता0 तक दिन प्रतिदिन काव्य का उत्कर्ष होता गया। ऐसे समयावधि में कितने काव्य दीपों की भाँति प्रकाशित हुए और कितने काव्य रङ्गमञ्च पर आकर तिरोभूत हुए हैं। इस बात का पता लगाना असम्भव है।

ऐसे ही समय जब काव्य के भावपक्ष को पूरी तरह से गौण बना दिया गया था तथा कलापक्ष को प्रकृष्ट रूप से मुखरित करने एवं विकास के चरमबिन्दु पर पहुँचाने के लिए कविजन विविध मार्गों का अवलम्बन ले बेहद परिनिष्ठत भाषा तथा अलङ्कारों से सुसज्जित कर अपनी काव्यकला के हस्तकौशल को प्रकट करने में लग गये थे। उसी समय से श्लेष एवं चित्रकाव्यों का निर्माण होने लगा था और लोग अपने काव्य–वैभव को यथासम्भव बेहद चमत्कृत शैली से सुसज्जित करने में रत हो गये थे। वैसे भी ग्याहरवीं बारहवीं शता0 का युग इस चमत्कार पूर्ण शैली का केन्द्र बिन्दु बन चुका था। इस प्रकार इस युग के कवियों ने अपने कलाजन्य काव्यशिल्प के मनोरथ को श्लेष एवं चित्रबन्धों द्वारा पूर्ण करने में ही अपना मनोरथ समझा। चित्रकाव्य प्रधान उक्त

राघवपाण्डवीयम् ग्रन्थ के सदृश कई अनेक ऐसे काव्यबन्धों का निर्माण हुआ जिनमें धनञ्जयकृत 18 सर्गों में बद्ध राघवपाण्डवीयम दशम शता0 का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। हरिदत्त सूरि का राघवनैषधीय जिसमें श्रीराम एवं राजा नल क चरित्र को श्लेष के द्वारा निबद्ध किया गया है। विद्यामाधव का पार्वती रूक्मिणीय नामक नवसर्ग का काव्य जिसमें युगपद रूप में पार्वती और रूक्मिणी के विवाह का श्लेष शब्दों में एक साथ वर्णन किया है। यादव राघवीय नामक एक 300 श्लोक में लघु काव्य है। जिसमें विलोम पद्धति से राम और कृष्ण दोनों के चरित्रों का एक साथ वर्णन किया गया है। यह श्लेष काव्य तो नहीं कहा जा सकता, अपितु विलोम काव्य कहा जा सकता है, क्योंकि साधारण दृष्टि से पढ़ने पर इसमें राम के चरित्र का बोध होता है और उल्टे क्रम से पढ़ने पर कृष्ण के चरित्र का बोध होता है। इसी प्रकार का एक काव्य चिदम्बरसुमति ने राघवपाण्डवयादवीय लिखा जिसमें श्लेषनिष्ठ भाषा के द्वारा रामायण, महाभारत तथा भागवत् की कथाओं का त्रिवेणी संगम दर्शाया गया है। ऐसे ही काव्यों की श्रेणी में कविराज के राघवपाण्डवीयम् को भी परिगणित किया गया है, जिसमें कविराज ने श्लेष के विविध उपादानों द्वारा विविध प्रसङ्गों का दृष्टान्त उपस्थित किया है।[1]

प्रायः प्रकरणैक्यैन विशेषण विशेष्ययोः,
परिवृत्त्या क्वचित्तद्वदुपमानोपमेययोः। राघवपाण्डवीयम्— 1/37

इस महाकाव्य में श्लेष के वैशिष्ट्य से सर्वत्र रामायण, महाभारत के प्रत्येक सर्ग की कथा को क्रमशः चमत्कृतिजन्य शैली में वर्णित किया गया है। कुशाग्रबुद्धि कवि अपनी उर्वर कल्पनाओं प्रतिभा एवं पाण्डित्य को शब्दालङ्कार संरचनाओं के माध्यम से प्रदर्शित करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्लेष काव्यों की रचना का कार्य केवल दुष्कर ही नहीं, अपितु अत्यधिक दुष्कर है। इस प्रकार के काव्यों में यथार्थ रूप से भावों की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। क्योंकि श्लेष काव्य के भी कुछ अपने परिनिष्ठित उद्देश्य होते हैं (1) कुछ श्लेष तो केवल अनेकार्य बोधक होते हैं। (2) कुछ काव्य श्लेष के द्वारा व्याकरणादि शास्त्र की सरस रूप में शिक्षा देते है। (3) कुछ श्लेष काव्य शब्द विन्यास के वैचित्र्य से युक्त होते हैं जैसे विलोम काव्य इत्यादि।

---

1. राघवपाण्डवीयम् एक अध्ययन – लेखिका – डॉ0 लक्ष्मी मिश्रा

यह तो सभी को विदित है कि पुरातन समय से ही संस्कृत भाषा में प्रत्येक शब्द के अनेक अर्थ व्यवहृत होते रहे हैं। वैसे भी चाटूक्ति के क्षेत्र में तीन ही कवियों को प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। 1– रामचरित के रचनाकार सन्ध्याकरनन्दी, द्विसन्धान महाकाव्य के प्रणेता जैन कवि धनञ्जय एवं राघवपाण्डवीयम् के प्रणेता कविराजपण्डित। ऐसे श्लिष्ट काव्यों की श्रृङ्खला में परिगणित कविराज के अद्भुत पाण्डित्य पूर्ण काव्यवैभव की जितनी भी प्रशंसा की जाए उतनी ही कम है।

ऐसे ही विविध प्रसङ्गों को कविराज ने वक्रोक्ति के माध्यम से श्लेषनिष्ठ भाषा में वर्णित किया है। इन्होंने यथावसर श्लेष को सहृदय पण्डितों की जिह्वा तक पहुंचाने के लिए विभिन्न कोशों की (मेदिनीकोश, विश्वकोष, एकाक्षरकोष) पक्तियों को भी अपने श्लोक के कई स्थलों में वर्णित किया है। वक्रोक्ति (वैदग्ध्यभङ्गीभणिति) द्वारा काव्य की श्लेषनिष्ठ कथा में कविराज ने अपने अभूतपूर्व वैभव का परिचय दिया है– देखिए ऐसे ही कुछ दृष्टान्त–

योसौ वितानाहितसोमकार्यः क्षोणीभृताहं जनकेन तेन।
लब्धायि कृष्णाजिनशोभितायां क्षितौ कलत्रे तनयेव सीता।। राघ0 – 5/25

रामायण पक्षे– हे! जो यह राजा यज्ञ में सोमरस पान करने वाले है उस राजा जनक के द्वारा पत्नी में पुत्री के समान कृष्णमृगचर्म से सुशोभित भूमि में प्राप्त हुई मैं सीता हूँ।

महाभारत पक्षे– हे! जो यह यज्ञ में सोमरस पान करने वाला है उस पिता द्रुपद राजा के द्वारा पत्नी के रहने पर भी यज्ञभूमि में राजा जनक के द्वारा पुत्री सीता के समान मृगचर्म से शोभित यज्ञभूमि में प्राप्त की गई मैं द्रौपदी हूँ।

कविवर कविराज के भाषा, भाव, शैली का चामत्कारिक विन्यास साथ ही विविध चित्रबन्धों का यथावसर विन्यास उनकी कृति को अलग ही काव्य जगत में स्थान दिलाता है। कविराज अपने काव्य वैभव के प्रचार–प्रसार में लगे होने पर भी वे अपने पूर्ववर्ती भारवि, माघ, रत्नाकर से प्रतिस्पर्धा करना नहीं भूलते। इनके प्रत्येक वर्णनों पर अभिव्यक्ति और कल्पना की अतीव समृद्धि वर्तमान होते हुए भी ओज एवं माधुर्य के सौन्दर्य की न्यूनता नहीं हैं– इनकी लावण्यमयी भाषा निश्चय ही सहृदयों की हार है।

भाषा प्रासादिक प्रवाहपूर्ण एवं प्राञ्जल है। इनकी शैली शुद्ध वैदर्भी रीति का उत्कृष्ट उदाहरण है। श्लेष प्रधान शैली से आच्छन्न इनकी कविता में सुबन्धु और बाण के प्रत्यक्षर श्लेषमय शब्दों की लड़िया विराजमान है। इस दृष्टि से कविराज का काव्य कौतूहलपूर्ण हैं, पाण्डित्यपूर्ण हैं, और चमत्कार युक्त भी। इनकी श्लेषपूर्ण शैली को देखिए –

वैदर्भी – गमनमलसयानैः' कुम्भलक्ष्मीं कुचाभ्या–
मविकलकरशोभामूरूकाण्डद्वयेन।
यदियमहरदेषां हेतुना तेन नूनं
निजवपुषि करीन्द्राः पांसुपूरं क्षिपन्ति''।। राघ0 – 2/18

''क्योंकि इस सीता ने, दूसरे पक्ष में– द्रौपदी ने इन हाथियों की गमन शोभा अपने मन्दगमन से, मस्तक की शोभा दोनों स्तनों से, सम्पूर्ण शुण्ड की शोभा दोनों ऊरूदण्डों से, छीन ली है इस कारण से निश्चित ये हाथी अपने शरीर पर अनादर की बुद्धि उत्पन्न होने से धूलियों का ढेर डाल लेते हैं।''

गौड़ी का उदाहरण देखिए –

लूनस्यन्दनकेतुपत्तितुरगच्छत्राक्षधूर्बन्धुराः,
सैन्यस्त्रीकुचकुम्भमौक्तिकबहिष्कारस्फुरत्साहसाः।
वीरोरःस्थलदारणारूणमुखाः सैन्येषुदेवद्विषां
प्राणोन्मोचननिर्विकारचरिताश्चेरूस्तदीयाः शराः।। राघ0 – 8/22

प.ञ्चाली का उदाहरण देखिए –

असन्ततेः सन्ति कुतः सुखानीत्यसौ विचिनत्य प्रतिपन्नमन्युः।
सार्धं स्वदारैर्नियतः सुतार्थे, राजा सुरप्रार्थनततरोऽभूत्।। राघ0– 1/62

अलङ्कारों में कविराज ने श्लेष, यमक, अनुप्रास आदि को प्रमुखता दिलायी तथापि श्लेष अलङ्कार इन सभी में सर्वाधिक अनुसरणीय बना। इस श्लेष का प्रयोग जब श्लोक के एक या दो पदों में न होकर समस्त पदों में होने लगा तभी तो द्विसन्धान विधान का उद्भव हुआ। श्लेष के माध्यम से ही भावों का चमत्कार सम्भव था। देखिए–

नृपेण कन्यां जनकेन दित्सितामयोनिजां लम्भयितुं स्वयंवरे।
द्विजप्रवर्येण स धर्मनन्दनः सहानुजस्तां भुवमप्यनीयत्।। राघ0 2/1

रामायण पक्षे– जनक नामक राजा के द्वारा स्वयंवर में देने के लिए निश्चित की हुई अयोनि अर्थात् भूमि से उत्पन्न पुत्री सीता को प्राप्त कराने के लिए भाई लक्ष्मण के

साथ धर्म का पालन करने वाले राम ब्राह्मण श्रेष्ठ विश्वामित्र के द्वारा जनकपुरा लाये गये।

महाभारत पक्षे – पिजा राजा द्रुपद के द्वारा स्वयंवर में देने के लिए निश्चित की गयी अयोनि अर्थात् यज्ञ से उत्पन्न पुत्री द्रौपदी को प्राप्त कराने के लिए भाई भीम आदि के साथ वह राजकुमार युधिष्ठिर समीप में रहने वाले ब्राह्मण श्रेष्ठ के द्वारा पाञ्चालनगरी पहुँचा दिये गये।

कविराज की स्वाभावोक्ति का कहना ही क्या है? चतुर्थ सर्ग में अर्जुन कृत तपस्या के फलस्वरूप भगवान शङ्कर के दर्शन को रामकृत अगस्त्य ऋषि के दर्शन से मिलाकर क्या ही वैचित्र्यपूर्ण स्वाभावोक्ति का प्रसङ्ग उपस्थित किया है– देखिए –

शिरांसि तद्विशिखमुखार्पितान्यलं निषादिनां नभसि निगृह्य चञ्चुभिः।
पतत्रिणः क्षणकृतमण्डलभ्रमाः पदं दधुः परबलकेतुमूर्धसु।। राघ0 – 4/30

पाँचवे सर्ग के वर्षा वर्णन तथा शरद्वर्णन में कविराज ने अपने कलात्मक सौष्ठव का निदर्शन किया है– इन्होंने आवश्यक किसी वर्ण्यविषय का विस्तार न करके पण्डितों की अभिरूचि के अनुरूप अपने काव्य को सजाया है। इस युग तक शैली का वह माधुर्य, काव्यों का वह हृद्य वैशद्य सुकुमार संघटन, अलङ्कारों का मनोरम सौन्दर्य तथा रसों का वह दिव्य परिपाक अलभ्य हो गया जो वाल्मीकि, कालिदास इत्यादि के भावों में विद्यमान था। अलङ्कारों की भरमार इस काव्य में सर्वत्र परिलक्षित होती है। जगह–जगह उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा इत्यादि अलङ्कारों का भी प्रावल्य वर्णित है। देखिए – चमत्कारपूर्ण उत्प्रेक्षा की भावभीनी भाषा –

कान्तिः श्रीकण्ठकण्ठस्य जयत्यालिङ्गनोत्सुका।
स्कन्धारूढ़ेव कालिन्दी मौलिमन्दाकिनीर्ष्यया।। राघ0– 1/5

"शिर पर अवस्थित गङ्गा जी की ईर्ष्या से मानो आलिङ्गन के लिए उत्सुक कन्धे पर चढ़ी हुई यमुना की तरह भासमान शङ्कर जी के गले की कान्ति विजयी है अर्थात् सर्वश्रेष्ठ होने के कारण प्रणम्य है।

उपमा का चमत्कार देखिए –

निरस्तरत्नाभरणापि गेहाद्विनिर्गता सा निजयैव भासा।
विद्योतयामास नरेन्द्रमार्गं तडिल्लता मेघविनिर्गतेव।। राघ0– 3/33

निःसन्देह कविराज की शैली का प्रभाव श्रीहर्ष इत्यादि की शैली पर भी पड़ा जिसमें यथास्थान उचित अनुचित प्रसङ्गों की कल्पना की गयी। रूढ़ियों के पराधीन होकर ही इन्होंने प्राकृतिक वर्णनों का विस्तार किया। शरदऋतु का दृश्य देखिए–

अस्याः स्फुटं माल्यकदामशोभिवेणीगुणोत्कर्षमलिम्लुचानाम्।
कलापिनां कल्पयतीव दण्डं शिखण्डभारक्षपणाद् घनान्तः।। रा०पा० – 5/16

"शरदऋतु का समय इस सीता के, दूसरे पक्ष में– द्रौपदी के मालाओं की लरी से सुशोभित गूंथे हुए बालों की श्रेष्ठता चुराने वाले मयूरों का बर्हसमूह काट देने से मानों स्पष्ट रूप से दण्ड करता है।"

उक्त प्रसङ्गों को देखकर विदित होता है कि इनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। इनको चित्रकाव्य के प्रणयन में भी अभूतपूर्व सफलता मिली। इनका चित्रवंध केवल शब्दों के वैचित्र्य को ही नहीं वर्णित करता बल्कि शब्द और अर्थ के मञ्जुल सामञ्जस्य को अभिव्यक्त करता है।

कविराज ने राघवपाण्डवीयम् में प्रसादगुण की अभिव्यक्ति के लिए क्लिष्ट छन्दों का परित्याग करके सरल छन्दों का प्रयोग किया है। स्रग्धरा, महास्रग्धरा, अनुष्टुप, उपजाति, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, मालिनी, वंशस्थ आदि छन्दों का प्रयोग बाहुल्येन दिखाई देता है। पदलालित्य हेतु कवि ने ऐसे चारू छन्दों का प्रयोग किया जिससे भाषा व लय में समानता परिलक्षित होने लगी। देखिए कुछ छन्दों का वैविध्य–

अनुष्टुप – अस्ति कादम्बसन्तान–सन्तानकनवाङ्कुरः।
कामदेवः' क्षमादेव–कामधेनुर्जनेश्वरः।।

कादम्बवंश रूपी कल्पवृक्ष का नवप्ररोह स्वरूप ब्राह्मणों को अभिलषित वस्तु देने वाला कामदेव नाम का राजा है। इन्द्रवज्रा का प्रयोग तो कवि ने द्वितीय सर्ग में राम के जनकपुर तथा युधिष्ठिर को पाञ्चाल नरेश द्रुपद के यहाँ द्रौपदी के स्वयम्बर में पहुँचने पर किया है– देखिए–

पुष्पैर्विचित्रैर्ग्रथितो विरेजे तस्या घनः कुञ्चितकेशपाशः।
तद्वक्त्रपद्मोत्तमगन्धलोभात् सान्द्रीभवद्भृङ्गपरम्परेव।। रा०पा०– 2/12

द्रुतविलम्बित छन्द का स्पष्टतया प्रयोग 12वें सर्ग में मिलता है – देखिए–

जनितशङ्करवानर कुञ्जरक्षतजरञ्जितदिक् त्रिदिवौकसाम्।
प्रतिभटावटशल्य मुखोद्भटा परचमूर्मनुजेश्वरमावृणोत्।। रा0पा0– 12/42

इस प्रकार कविराज ने श्लेष काव्य का पूर्ण निर्वाह करते हुए विविध छन्दों का प्रयोग किया इतनाही नहीं अद्भुत कल्पना शक्ति का परिचय देते हुए इनको छन्दों के प्रयोग में जो सफलता मिली वह निःसंदेह प्रशंसनीय है।[1]

अन्ततः कविराज के काव्य शिल्प का विविध प्रकार से अध्ययन करने के उपरान्त हम यहीं कहेंगे कि इन्होंने अपनी चमत्कारिणी एवं अलौकिक प्रतिभा से संस्कृत वाङ्मय को जिस प्रकार समृद्धता की चादर से परिवेष्टित कर उसे उस विकसित परम्परा की श्रेणी में खड़ा किया जिसको भारवि, माघ, रत्नाकर इत्यादिने प्रवर्तित किया था तथा उसको सफलता की ऊँचाईयों पर पहुँचाया था रत्नाकर और कविराज जैसे कवियों ने। भावना की अनुचरी बनकर ही कवि की विम्ब योजना सर्वत्र फलीभूत हुई है। अलौकिक प्रतिभा के धनी कविराज का कवि कर्म भी इसका अपवाद है। उनका मुख्य उद्देश्यो पाठकों के सामने सम्पूर्ण रामायण एवं महाभारत की कथा को संक्षेप में रखना था न कि अपना प्रखर पाण्डित्य दिखाना था। हां इतना अवश्य है कि कवि के इस श्लेषालङ्कार के प्रयोग के कारण सर्वत्र दुरूहता आ गयी है। जो किसी भी टीका के अभाव में सुलझाना कठिन है। इतने से हम इसको निकृष्ट कोटि का काव्य नहीं कह सकते। इसमें न तो वह गर्वोक्ति है न प्रतिस्पर्धा और न पाण्डित्य प्रदर्शन की भावना या लालसा इसकी यत्किञ्चित् दुरूहता भी बोध्य है। इन सभी तर्कों के बाद हम यह अवश्य कह सकते है कि संस्कृत साहित्य में यह एक अनूठा चित्रकाव्य है जिसमें शब्द अर्थ तथा भावों के चित्रों की एक साथ झांकी देखने को मिलती है।

श्री हर्ष और उनका पञ्चनली :– कवि कुलगुरू कालिदास द्वारा प्रवर्तित रचना शैली का आदर्श माघोत्तर कवियों ने स्वीकार न कर भट्टि, भारवि तथा माघ द्वारा प्रवर्तित शैली को ही स्वीकार किया। आचार्यों, कविगणों ने कालिदास की सहज स्वाभाविक कविता की अपेक्षा कलात्मक चाकचिक्य को ही अधिक प्रधानता दिया। काव्य में शाब्दीक्रीड़ा को ही मात्र काव्य समझा जाने लगा। काव्य में पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति कालिदास के पश्चात् से बढ़ती ही चली गयी। भारवि, माघ, भट्टि आदि कवियों की रचनाएं कविता के रूप में नहीं, पाण्डित्य के रूप में व्यक्त होने लगी। इस परम्परागत प्रवृत्ति का विकास एक ओर विकट एवं गाढबन्ध चित्रकाव्यों से हुआ, जिसमें नलोदय, युधिष्ठिरविजय आदि यमक अलङ्कारयुक्त काव्य तथा कविराजकृत राघवपाण्डवीयम् और हरिदत्तसूरिकृत राघवनैषधीय आदि श्लेषनिष्ठ काव्यरत्नों को लिया जा सकता है। दूसरी ओर चरित काव्यों में हुआ जिनमें प्रधानतः राजाओं के चरित का चित्रण अलङ्कृत शैली में निर्मित किया गया। ऐसी रचनाओं में विल्हणकृत ऐतिहासिक महाकाव्य विक्रमांकदेवचरित, और पद्मगुप्त कृत "नवसाहसाङ्कचरित" आदि को लिया जा सकता है।[1] उक्त ये सभी ग्रन्थ चमत्कृत एवं अलङ्कृत शैली में लिखे गये और इन लोगों ने कविता को पाण्डित्य प्रदर्शन का एक बहाना बनाया यह परम्परा भारवि और माघ से होती हुई श्रीहर्ष में अपने चरम विकास पर पहुँचती है जिसने अपनी कृति नैषधीयचरित" में नल–दमयन्ती के प्रणव के चित्रण के साथ–साथ अपने अतुल पाण्डित्य की अभिव्यक्ति की। उस समय के कविगणों की प्रकृति बौद्धिक चमत्कार जन्य प्रतिभा को अधिक पसन्द करती थी जिसकी संतुष्टि के लिए ही इस प्रकार की सरणि का काव्यरत्नों में निरन्तर विकास होता गया। ऐसे पण्डितों की कसौटी में श्रीहर्ष के काव्य को अत्यन्त उच्च स्थान प्राप्त होना स्वाभाविक था और पुरातन पण्डितों ने इस काव्य को सबसे ऊँचा स्थान दिया भी –

"तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।
उदिते नैषधेकाव्ये क्व माघः क्व च भारविः।।

---

1. संस्कृत काव्यकार – डा0 हरिदत्त शास्त्री

तात्पर्य यह है कि माघ और भारवि की शोभा तभी तक भाती है जब तक नैषध काव्य का उदय नहीं होता है। नैषध काव्य के उदय होने पर तो कहाँ माघ और कहाँ भारवि? अर्थात् सभी पीछे छूट जाते है। यद्यपि श्रीहर्ष के पूर्व साहित्य का प्रवाह अपनी उन्नत परिपक्वावस्था को पहुँच चुका था कला विज्ञान, साहित्य, संगीत के प्रत्येक विभाग में अभिनव सर्जना का भाव प्रायः दशम शती० तक समायोजित हो चुका था। साहित्य रचना में मौलिक चिन्तन और नूतन रचनात्मक कार्य का अभाव स्पष्ट दिखाई देने लगा था। उस काल की काव्य रचना पूर्वकालीन कवियों की केवल अनुकृतिमात्र रह गयी थी, फलतः उन्हीं पुराने विषयों पर पुराने ढंग से छन्द रचना होने लगी थी जिसकी कल्पना पूर्वचर्चित प्रत्येक काव्य को देखने से सहज ही मालूम हो सकती थी। इधर यदा–कदा किसी प्रतिभा सम्पन्न कवि की अवश्य उपलब्धि हो जाती है, किन्तु इस प्रदीर्घ युग की रचनाओं का एक सा स्वरूप उसे आच्छादित कर देता है। निश्चय से यह प्रगति न होकर अवनति थी। अस्तु, नैषधकार ने यद्यपि अपने नैषध को ऐसे काव्यमार्ग का पथिक बनाया है जिसे अन्य कवियों ने देखा तक नहीं है। इसे सदा अभिनय प्रमेयों से सम्पन्न कहा है। जैसा कि हमने पहले बताया है कि कालिदास द्वारा प्रवर्तित कुछ काव्य रूढ़ियाँ परवर्ती कवियों को इतनी आकर्षित करती रहीं कि उन्होंने अपने काव्य में नियोजित कर काव्य को अलङ्कृत अवश्य किया है किन्तु वे कालिदास की रचना शैली की आत्मा को न पहचान पाये इसलिए कालिदास द्वारा वर्णित उन रूढ़ियों का रूप इन परवर्ती काव्यों में आकार और प्रकार में कुछ भिन्न हो गया।

कविवर श्रीहर्ष, भारवि और माघ की परम्परा के कवि है। अपनी रस प्रवर्तनी लेखनी से उन्होंने जो लिखा वह काव्यमर्मज्ञों हेतु लिखा है। उनके वर्ण्य विषय में नवीन कल्पनाओं का विलास सर्वत्र प्रतिबिम्बित है। नयी कल्पनाओं के निर्माण में उनका मानस पटल भारवि और माघ से कहीं अधिक है। किसी भी बात को एक नया मोड़ देकर कहने की क्षमता श्रीहर्ष में ही है, जो कि अत्यन्त श्लाघनीय है। इन्होंने अपने काव्य को आपादमस्तक अलङ्कारों से सजाया है। उनके विविध वर्णन उनके विविध शास्त्रज्ञान के स्पष्ट परिचायक है। उनकी भाषा में सुन्दर

प्रवाह है यमक और श्लेष के प्रयोग में वे अतिनिष्णात् हैं। यमक व श्लेष का प्रयोग वे बड़े सहज रूप में करते हैं।[1] कविवर श्रीहर्ष ने माघ आदि कवियों के समान अनावश्यक वस्तु वर्णनों का सन्निवेश अपने काव्य में नहीं किया है। उनके वर्णनों में बौद्धिक चमत्कार अधिक है, हृदय पक्ष उतना नहीं झलकता है। इसलिए श्रीहर्ष अपने युग के सर्वश्रेष्ठ कविरत्न सिद्ध हुए। जिस प्रकार कविता का आरम्भिक युग कुलगुरू कालिदास को पाकर धन्य हुआ है उसी प्रकार यह युग भी सरस्वती के वरदपुत्र महाकवि श्रीहर्ष को पाकर कृतकृत्य हो गया है।[2]

यद्यपि श्रीहर्ष ने अपने सम्बन्ध में कुछ विस्तार से नहीं कहा, लेकिन थेड़े से शब्दों में उन्होंने अपना परिचय बाइसवें सर्ग के अन्त में अवश्य दिया है जो निम्नांकित कविप्रशस्ति है –

ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्,
यः साक्षाद् कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम्।
यत्–काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः
श्री श्रीहर्षकवेः' कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम्।। नैषधकाव्य का अन्त

महाकवि श्रीहर्ष की अमर कृति "नैषधीयचरितम्' महाकाव्यों की बृहत्त्रयी में प्रमुख स्थान रखती है। यह काव्य महाकवि भारवि द्वारा प्रारम्भ की गयी पाण्डित्य प्रदर्शन की शैली की पराकाष्ठा है। कवि ने विविध स्थलें पर कथा की सरसता को गौण बनाकर पाण्डितय प्रदर्शन को प्रमुख स्थान दिया है। पाण्डित्य प्रदर्शन करने वाली यह कृति सम्भवतः द्वादश शती में निर्मित हुई थी। इस स्थल पर प्रबन्ध पर्यन्त जिस रस से सहृदय सर्वदा आप्लावित रहता है वह है श्रृङ्गार। कवि ने निषधराज नल का विदर्भराज की कन्या दमयन्ती से मधुर संयोग कराया है। समस्त काव्य इस एक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सोपान परम्परा के रूप में है। प्रारम्भ के 16 सर्ग इसी परम्परा के विभिन्न प्रस्तर खण्ड है। अन्त के 6 सर्ग भी इसी की पुष्टि के लिए विरचित है। श्रृङ्गार रस प्रधान इस महाकाव्य में अन्य रसों के लिए स्थल की प्रचुरता का अभाव सा है। फिर भी यत्र–तत्र अन्य रसों की झांकी दृष्टिगत होती है।

---

1. वृहत्त्रयी – एक तुलनात्मक अध्ययन – डा0 सुषमा कुलश्रेष्ठ
2. संस्कृत साहित्य का इतिहास – शिवबालक द्विवेदी – पृ0 73

22 सर्गों में निबद्ध इस नैषधीयचरित काव्य का उपजीव्य महाभारत के वनपर्व में उपस्थितनलोपाख्यान है। इसके अलावा क्षेमेन्द्र की वृहत्कथामञ्जरी तथा सोमदेव के कथासरित्सागर में भी यह कथा विस्तार से वर्णित है, लेकिन मूलरूपेण यह महाभारत पर ही अवलम्बित है श्रीहर्ष ने अपना कथानक यहीं से लेकर उनमें यथास्थान घटनाओं का सङ्कोच और विस्तार किया तथा कहीं–कहीं नूतन घटनाओं की उद्‌भावना का समावेश किया। श्रृङ्गार रस प्रधान इस काव्य को कवि ने काव्य के ब्याज से कामशास्त्र को ही काव्य का रूप दे दिया है, क्योंकि उत्तम काव्य वही माना जाता है जिसमें कवि के हृदय का सच्चा स्वर सुनाई पड़ता है।

श्रीहर्ष संस्कृत साहित्य के उस युग में हुये थे जब कविता केवल भाव तथा रस से पूर्ण एक लोकोत्तर आनन्द की ही वस्तु नहीं रह गयी थी, अपितु कवि की विभिन्न शास्त्रज्ञता के प्रदर्शन की रङ्गभूमि बन गयी थी।[1] दर्शन, आयुर्वेद, पशुविज्ञान, संगीत आदि सभी विभागों में अधिक उन्नति होने के कारण तात्कालिक कवि को सबसे अभिज्ञ होना पड़ा था, संस्कृत काव्य का इतिहास लिखने वाले विद्वानों ने जब अपने को नैषधीयचरितम् के मूल्यांकन में प्रवृत्त किया तब वे वाल्मीकि, कालिदास व बाणभट्ट सभी को भूल गये और उन्होंने कवि प्रतिभा के सर्वोच्च निकष का सौभाग्य नैषधीयचरित को ही देना उचित समझा। वस्तुतः होता यह था कि प्रणयजनोचित कहानियाँ कथा या आख्यायिका की परिभाषा में गद्यकाव्यों में ही निबद्ध की जाती थी, जिसमें मानव मन की सैकड़ों संवेदनाओं एवं कवि स्फुरित कल्पना की अनेक उड़ानों के लिए खुला आकाश होता था और काव्य प्रणयन की सरणि उससे अलग हो जाती थी।[2] तब उसका रूप न तो लोकोत्तर होता है न इस लोक का होता है फिर भी वह अनन्य होता है। उसे हम सर्वथा नवीन कहेंगे।[3] नैषध के लिए यह अतिशयोक्ति कि "उदिते नैषधेकाव्ये" बहुत पुरानी है। तीनों महाकाव्यों में नैषध का स्थान ऊँचा है। श्रीहर्ष केवल प्रथम श्रेणी के कवि

---

1. संस्कृत ललित साहित्य का इतिहास – डा0 कुँवरलाल व्यासशिष्य 'इतिहासविद्याप्रकाशन' दिल्ली प्रथम संस्करण
2. कवि ओर काव्यशास्त्र – सुरेश चन्द्र पाण्डेय – राका प्रकाशन, प्रथम संस्करण पृष्ठ 17
3. भामहकृत काव्यालङ्कार

ही नहीं थे प्रत्युत ऊँचे दर्जे के प्रकाण्ड पण्डित भी थे। उनमें पाण्डित्य तथा वैदग्ध्य का अनुपम सम्मिलन था। ये जिस प्रकार हृदयकली को खिलाने वाली स्वभावमधुरा कविता लिखने में दक्ष थे, उसी प्रकार मस्तिष्क को आश्चर्यान्वित करने वाली, अनेक पण्डितों का मद चूर्ण करने वाली तर्क कर्कशा वाणी के गुम्फन में भी अत्यन्त प्रवीण थे। जिस श्रीहर्ष ने काव्यकला के अनुपम श्रृङ्गारभूत नैषधीयकाव्य की रचना की उसी श्रीहर्ष ने प्रखर पाण्डित्य प्रदर्शन रूप 'खण्डनखण्डखाद्य' की रचना की।[1] श्रीहर्ष का भाषा, अलङ्कार, भाव प्रकाशन पर पूर्ण अधिकार था। उन्होंने स्वयं इस बात को साफ शब्दों में कहा कि कोई भी विज्ञ पुरूष मेरे ग्रन्थ से खिलवाड़ न करे, क्योंकि यह एक अत्यन्त दुर्भेद्य काव्य है जिसको हर कोई नहीं समझ सकता।[2] यह ग्रन्थ काव्य रसिकों के लिए है जिसका अन्तर्मन इसको पढ़ने के लिए उत्सुक रहता है।[3]

भाषा, अलङ्कार, शब्द सौष्ठव, अर्थवैचित्र्य, शब्दविच्छत्ति, ध्वनि, व्यञ्जना, रसमयता सभी में नैषधकाव्य शिशुपाल वध और किरातार्जुनीयम् से बढ़–चढ़ कर है। श्रीहर्ष का काव्य भारवि के नारिकेल फल सदृश कठोर ही नहीं अन्दर से और बाहर से मधुर रस युक्त भी है।[4] कविवर भारवि का अर्थगौरव जगत्प्रसिद्ध है माघ की प्रतिभा तीनों गुणों में ख्यात है, परन्तु श्रीहर्ष के नैषध में सभी गुण इन काव्यों से बढ़े हुए है। यथा श्लेष, अनुप्रास, यमक के साथ अर्थगौरव और पदलालित्य भी प्रायः प्रत्येक पद्य में मिलता है।

"नलिनं मलिनंविवृण्वती पृषतीमस्पृशतीतदीक्षणे।
चेतोनलंकामयतेमदीयम् नाऽन्यत्रकुत्रापि च साभिलाषम्"। नैषध० – 2/23
मेराचित्तनल को चाहता है अन्यत्र कहीं भी उसकी अभिलाषा नहीं है।
मेरा चित्त न लङ्का की ओर जाता है, न तो कहीं अन्यत्र भी उसकी अभिलाषा है।

---

1. पण्डित वल्देव उपाध्यायकृत – संस्कृत साहित्य का इतिहास
2. संस्कृत साहित्य का इतिहास – डॉ० कुँवर लाल व्यास शिष्य
इतिहास विद्या प्रकाशन, प्रथम संस्करण
3. श्रीहर्ष ने कहा है– "प्रज्ञंमन्यमना हठेन पठितीभास्मिन् खलखेलतुः"।
देवनारायण मिश्र द्वारा सम्पादित नैषधीयचरित, पृ० 14
4. नैषध – 3/67

त्रयोदश सर्ग की रचना श्रीहर्ष के कुशल कवि कर्म की परिचायिका है। इस सर्ग को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि ने नलरूपधारी प्रत्येक पुरूष को समान महत्त्व देने के लिए श्लोक संख्या पहले निश्चित कर तब सर्ग की रचना की है। सर्ग के प्रारम्भ के दो श्लोकों में दमयन्ती द्वारा तुल्याकृति पाँच पुरूषों के देखे जाने और सरस्वती द्वारा उनका परिचय देना प्रारम्भ करने का वर्णन है। इस सर्ग में श्रीहर्ष ने अपने श्लेष रचना प्रावीण्य को प्रकट किया है। इस श्लेष रचना द्वारा वे अनेक प्रयोजन सिद्ध करने में सफल हुए है। इस सर्ग के 21 श्लोक जिसमें श्लेष है अत्यन्त क्लिष्ट है, तथापि अवसर तथा प्रयोजन की दृष्टि से उनका विशिष्ट महत्त्व है। दमयन्ती की श्लेष रचना शक्ति दर्शनीय है –

"का नाम वाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषंकथयेदलज्जा"। नैषध0– 3/59

1– अर्थात् हे द्विज (पक्षी) कौन निर्लज्ज बाला (स्त्री) राजा (नल) से पाणिग्रहण की अभिलाषा कहेगी।

2– हे द्विजराज! कौन निर्लज्ज बाला (स्त्री) अपने पाणिग्रहण की अभिलाषा कहेगी।

3– कौन निर्लज्ज वाला द्विजराज (चन्द्रमा) को पकड़ने की अपनी अभिलाषा कहेगी।

इस वाक्य से तथा इसी प्रकार के अन्य वाक्यों से प्रभावित हुए हंस द्वारा दमयन्ती को श्लेष कवि इस उपाधि की प्राप्ति हुई थी। इतना ही नहीं श्रीहर्ष ने अपनी द्वयर्थक भाषा के प्रयोग की शक्ति का पूर्णतया सदुपयोग उस प्रसिद्ध दृश्य के चित्रण में किया है, जिसमें दमयन्ती अपने सम्मुख आपाततः बिल्कुल समान रूप में पाँच व्यक्तियों को देखती है और उनमें से अपना प्रेमी कौन है इसका निर्णय नहीं कर पाती। उनकी इसबात में कितना चमत्कार है जिसका अवलोकन कर सहृदय क्या, नीरस व्यक्ति को भी झूमने लगता है।

विष्णु के द्वारा सरस्वती को स्वयम्बर में दमयन्ती की अभिन्न सखी बनाकर भेजना कवि की अपनी योजना की चमत्कृतिधरता है। स्वयम्बर में पुष्करद्वीप, शाकद्वीप, क्रौञ्चद्वीप, कुशद्वीप, शाल्मलिद्वीप, प्लक्षद्वीप, जम्बूद्वीप के राजा आये। जिनके वर्णन को वैविध्य को कवि ने अपनी प्रतिभा के द्वारा

प्रकट किया है।[1] सरस्वती सर्वप्रथम दमयन्ती को देव समाज की ओर ले गई फिर क्रमशः राक्षस, गन्धर्व, विद्याधर तथा यक्षों का परिचय दिया, किन्तु उसकी रूचि किसी ओर नहीं हुई क्योंकि वह तो पूर्णरूपेण नल पर आसक्त थी। नल के सिवा उसे सभी कुछ नीरस प्रतीत होता था वह सरस्वती के द्वारा किसी और राजा का बखान या उनके गुणों को सुनना ही नहीं चाहती थी यहाँ तक कि मथुराधिनाथ पृथु का गुणवर्णन सुनते समय दमयन्ती दूसरी ओर देख रही थी। काशिराज की विशेषताएं भी उसे न लुभा सकी। इतना ही नहीं स्वयम्बर समाज में आये नवागतों अयोध्याधिपति, पाण्डेयश्वर, महेन्द्राधिपति मिथिलाधिपति के आने पर दमयन्ती की सखियों ने व्यङ्ग्य भरा उपहास किया साथ ही उत्कल नरेश के यशोगान के समय दमयन्ती ने नल के ध्यान में आँखे बन्द कर ली। बौद्धराज कीकटाधिप की लम्बी प्रशंसा सुनकर भी दमयन्ती को कोई आकर्षण नहीं हुआ।

और अन्त में हुआ क्या कि शिविका वाहक भीम पुत्री दमयन्ती को उस राजमण्डल से हटाकर नल रूप धारी पाँच वीरों के निकट ले गये। सर्वप्रथम देवी सरस्वती ने शचीपति इन्द्र को सङ्केत करके उनके विषय में कहना शुरू किया जिससे इन्द्र का ही ज्ञान हो कपट रूपधारी नल का भाव न प्रकाशित हो दमयन्ती घबड़ा गयी और सोचने को मजबूर हुई कि ये नल है या इन्द्र तभी सरस्वती ने अग्निदेवता की ओर सङ्केत किया श्लेषनिष्ठ इस वर्णन को सुनकर भी दमयन्ती विह्वल हो गयी और उसके अन्तर्मन में द्वैधभाव जाग्रत हो गया एक कहता है यह नल है दूसरा कहता है यह अनल (नल नहीं अग्नि) है। दमयन्ती इसी द्वैध भाव में लिप्त रही कि देवी सरस्वती ने यमराज का वर्णन करना प्रारम्भ कर दिया। यम तथा नल में समान रूप से घटित होने वाली सरस्वती की वाग्रचना ने अनेक नल को देखकर संशयापन्न दमयन्ती के चित्त में जो शङ्का उत्पन्न हुई थी उसे पुष्ट कर दिया और पुनः वरूण की ओर लक्ष्य करके देवी सरस्वती ने उनका वर्णन करना प्रारम्भ किया। वह परिचय भी पूर्व की भाँति संशयकारक ही रहा। उसमें भी वरूण और नल दोनों का अर्थ निकलता था। अन्त में उन्होंने वास्तविक नल का भी वर्णन इस ढंग से किया कि नल के साथ कभी इन्द्र का, कभी अग्नि का, कभी यम का,

कभी वरूण का अर्थ निकलता था और एक स्थल पर तो पांचों का अर्थ एक साथ। दमयन्ती अधीर हो उठी उसे लगा जैसे उसके ऊपर विपत्ति कापहाड़ ही टूट पड़ा हो। वह कुछ भी निर्णय लेने में असमर्थ हो रही थी। उसके मानसपटल को अनेक उथल पुथल बातों ने झकझोर कर रख दिया था। वह आश्चर्य चकित थी कि विधाता का यह कैसा प्रताप है? अन्ततः विवश हो उसने नल प्राप्ति के लिए देवजनों को प्रसन्न करना ही अपना कर्तव्य समझा। स्वयम्बर गृह में ही उनकी विधिवत् पूजा अर्चना की और एकाग्रचित होकर उनका स्मरण किया। शीघ्र ही देवगण प्रसन्न हो गये। तदुपरान्त दमयन्ती को सरस्वतीकृत पाँचों नलों के विषय का वर्णन अत्यन्त स्पष्ट हो गया। उसने पाँचवे नल को वास्तविक नल समझा और उसी समय देवी ने भी कपट रूप त्याग कर अपना–अपना वास्तविक रूप धारण कर लिया। भीमपुत्री दमयन्ती ने देवताओं की आज्ञा लेकर सात्विक भावों के साथ दूव और अङ्कुर से सुशोभित बेहद सुगन्धयुक्त मधूक पुष्पों की माला राजा नल के गले में पहना दिया। कल्याणकारी मंगलगान होने लगे और सभी देवताओं ने प्रसन्न होकर अलग–अलग वर–वधू को वरदान दिये और नरेश दमयन्ती को न पाने के कारण क्षुब्ध तथा खिन्न थे। अतः दमयन्ती ने अपने पिता से अनुनय –विनय कर प्रत्येक को अपनी एक–एक सुन्दरी सखी दिलवायी। उधर नल स्वयम्बर मण्डप से अपने निवास स्थान को गये। इधर दमयन्ती के विवाहोत्सव का समारम्भ करने में विदर्भनरेश संलग्न हो गये। दोनों का विवाह यथाविधि सम्पन्न हुआ। अद्‌भुत दिव्य उपहारों से संपृक्त कर राजा भीम ने पुत्री दमयन्ती और जामाता नल को अपने राज्य की सीमा तक सहर्ष विदा किया। फिर जैसे पिता पति गृह जाने पर शिष्टाचार विषयक बातों को उपदिष्ट करता है– वैसे आचरण युक्त उपदेशों से पुत्री को रोते हुए विदा किया– "बेटी अब तुम्हारा अपना पुण्य ही पिता है तुम्हारी क्षमाशीलता ही तुम्हारी सारी विपत्ति को नष्ट करने वाली होगी, संतोष ही तुम्हारा धन होगा, महाराज नल ही तुम्हारे सर्वस्व होंगे और बेटी! अब से मैं तुम्हारा कोई न रहा"।

"पितात्मनः पुण्यमनापदः क्षमाधनं मनस्तुष्टिरथाखिलं नलः।
अतः परं पुत्रि न कोऽपि तेऽहमित्यदस्त्रुरेष व्यसृजन्निजौरसीम्"।।[1]

तदुपरान्त वर–वधू अपनी नगरी के समीप पहुँचने पर राजा नल ने जिन मंत्रियों पर राज्य का शासन भार सौंपा था उन सबों ने कुतूहल से उत्कण्ठित हो उनका स्वागत किया। इस प्रकार राजा नल की कथा चिरकाल से लोकविश्रुत रही है। इतना ही नहीं काव्यप्रतिभा की दृष्टि से नैषध का अनुशीलन अत्यधिक प्रभावोत्पादक है। काव्य के विविध अवयव यथा– अलङ्कार, गुण, रीति, शैली, भाषा आदि विशिष्ट तत्त्वों का उचित सन्निवेश अपने ग्रन्थ में यथावसर किया है। स्वयम्बर वर्णन में श्रीहर्ष की सरस्वती विषयिणी कल्पना सबसे अधिक कलापूर्ण एवं सफल है, उसका श्लेषनिष्ठ चमत्कृत वर्णन सरस्वती ही कर सकती थी। सरस्वती की वाग्रचना वस्तुतः स्पृहणीय थी जो काव्योत्कर्ष को बढ़ाने वाली थी। इस जगह श्रीहर्ष को अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करना उद्देश्य नहीं था, बल्कि अपनी प्रतिभा को अवश्य प्रकट करना था। अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करने के लिए उन्हें अच्छा अवसर मिला। वह (दमयन्ती स्वयम्बर) सभा कविवर श्रीहर्ष के अद्भुत कल्पना नेत्रों को प्रत्यक्ष सी थी– उन्होंने स्वयं श्लेष रूप से कहा है–क्या किन्नरों ने सानन्द उसका सेवन नहीं किया? अथवा क्या महर्षियों ने उसे हर्ष (1. आनन्द, 2. कवि श्रीहर्ष) के साथ न देखा?[1] स्वयम्बर में राजपरिचय के लिए आने वाली सरस्वती श्रीहर्ष की अपनी ही सरस्वती है। उन्होंने उसके स्वरूप का जो रूपक बांधा है उसके द्वारा अपने अधीन ज्ञान का परिचय दिया है।[2] अब जब स्वयं सरस्वती ही वर्णन कर रही है तो किसी भी प्रकार की दुरूह कल्पना सम्भव हो सकती है, शैली कितनी भी उत्कृष्ट एवं कितनी भी वक्र हो सकती है। उक्त वर्णन के देखने से विदित होता है कि– उनका भाषा सौष्ठव शब्दविन्यास की दुरूहता से अवश्य संवलित था लेकिन उनमें पूर्णतया रसमयता भी विद्यमान थी। उनके बीहड़ काव्य

---

1. सा किन्नरैः किं न रसादसेवि नादर्शिहर्षेण महर्षिणावा? नैषध0– 10/56
2. नैषध0 – 10/74–88

रूपी गहन वन में बिछे शब्दरूपी कण्टकों और अलङ्कार रूपी झाड़ झंखाड़ों से होकर जाना किसी भी मानव के लिए बिना किसी उचित मार्गदर्शन के पार करना असम्भव है।[1] उन्होंने स्वयं अपने ग्रन्थ में अनेक उलझी हुई गाँठो को सम्मिट किया जिससे काव्य इतना दुरूह हो गया कि सामान्य पुरूष क्या पण्डितजन के मस्तिष्क को भी व्यायाम करना पड़ा।

"ग्रन्थ ग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया,
प्राज्ञमन्यमना हठेन पठतीमास्मिन् खलः खेलतु।
श्रद्धाराद्धागुरूश्लथी कृतदृढ़ग्रन्थिः समायादय–
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जन सुखव्या सज्जन सज्जनः।।" नैषध0– 22/150

उन्होंने अन्यत्र भी कहा है –

"यथा यूनस्तद्रत् परमरमणीयापि रमणी,
कुमाराणामन्तः करण हरणं नैव कुरूते।
मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः किमस्या,
नामस्यादरसपुरूषाराधनरसैः।।[2] नैषध0 – 22/150

भाषा की कुटिलता तथा दुरूहता का प्रथम कारण अप्रचलित और अपरिमार्जित शब्दों का अंधाधुंध प्रयोग है। फाल, 1/17, अक्रपार, अगदङ्कार, इन्दिन्दिर, मिहिकारूच आदि अनेक अप्रचलित शब्द उनके काव्य में यत्र–तत्र यथावसर सन्निविष्ट किये गये है। व्याकरण का सहारा लेकर उन्होंने अनेक नये शब्दों का निर्माण किया यथा–शूननायक, प्रतीतचर अधिगामुका आदि।[3] इतना ही नहीं भाषा की जटिलता का दूसरा कारण प्रभूत मात्रा में श्लेष और यमक जैसे अलङ्कारों का अत्यधिक प्रयोग है। जब दमयन्ती हंस को पकड़ने का समुद्यत होती है तो वह स्वर्णिम हंस कितनी सुकुमारता से युक्त वचनों का प्रयोग करता है–

"धार्यः कथङ्कारमहं भवत्या वियद्विहारी वसुधैकगत्या।
अहो! शिशुत्वं तव खण्डितं न स्मरस्य सख्या वयसाऽप्यनेन।।" नैषध–3/15

---

1. 'नैषध परिशीलन' – डा0 चण्डिका प्रसाद शुक्ल पृ0 85
2. श्रीहर्ष विरचित नैषधीयचरित – डॉ0 देवनारायण मिश्र, पृ0– 23,
3. संस्कृत साहित्य का इतिहास– शिव बालक द्विवेदी

श्री हर्ष की भाषा मुहावरों की दृष्टि से भी प्रसिद्ध है। वे मुहावरे आज भी प्रान्तीय भाषाओं में रूपान्तर से प्रचलित है 'कथमास्य दर्शयिताहे' (मैं अपना मुँह कैसे दिखलाऊँ) ''नवीनम्–श्रावि–तवाननादितम्'' यह तो मैने तुम्हारे मुख से एकदम नवीन बात सुनी इत्यादि। श्रीहर्ष ने जहाँ कहीं भी प्रतिभा का विलास दिखाना चाहा है वहाँ श्लेष का ही विधान किया है। श्रीहर्ष के पूर्ववर्ती जितने कवि हुए हैं यथा माघ, बाण, सुबन्धु, दण्डी, त्रिविक्रम आदि महाकवियों की प्रसिद्धि का कारण उनकी श्लेष पटुता ही थी। रसानुगुण भाषा में प्रसाद, माधुर्य या ओजगुणों का समन्वय है। भाषा सजीव, शक्त एवं नवीन पदावली से संपृक्त है। भाषा में काव्य सौन्दर्य और नादसौन्दर्य का मणि–काञ्चन संयोग है। तभी तो पण्डितजन हर्षाकुलित होकर कहने 'उदिते नैषर्धकाव्यें'। इनकी शब्द श्रेणी भावभङ्गिमायुक्त भाषा संगीतमयी सुमधुर छन्दोयोजना को देखकर विद्वन्मण्डली मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करने लग गयी– 'नैषधे पदलालित्यम्'। एक ओर जहाँ कालिदास वैदर्भी का प्रवर्तक बनकर चलते है। वही नैषधकार श्रीहर्ष उसका सम्यक्रूपेण अनुधावन करते हुए प्रतीत होते हैं। जहॉ कालिदास ने वैदर्भी रीति का प्रयोग करते हुए भाषा में समासों को लाकर उसे बोझिल नहीं बनाया है वहीं श्रीहर्ष ने उसको दुरूह शब्दविन्यासों की लड़ियों से समलङ्कृत कर दिया है। प्रसाद एवं माधुर्य गुण के अनुपम संयोग से अनुस्यूत कवि की वैदर्भी रीति पाठकों को उसी तरह अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। जिस प्रकार अपनी भावभङ्गिमा एवं हाव–भाव के वैविध्य से दमयन्ती नल को आकृष्ट कर लेती है–

''धन्याऽसि वैदर्भि! गुणैरूदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति।। नै0 – 3/115

''हे विदर्भ देश की राजकुमारी! आप धन्य हैं, जिन आपने नल को भी आकृष्ट कर दिया है। जो चन्द्रिका समुद्र को भी क्षुब्ध कर देती है, इससे अधिक उसका क्या वर्णन किया जा सकता है''?

उक्त श्लोक कों देखकर विदित होता है कि वाकई श्रीहर्ष का पदविन्यास उत्कृष्ट है भावों की सरिता श्लिष्ट छन्दों को पढ़कर स्वयं निःसृत होने लगती है

कितनी तीव्रता है भावों के प्रदर्शन में कितनी ओजस्विता है। यह तो सर्वविदित है कि श्रीहर्ष संस्कृत साहित्याकाश के मूर्धन्य महाकवियों में एक है। उन्होंने स्वयं अपनी शैली को 'वैदर्भी' के नाम से सम्बोधित किया। एक ओर तो "धन्यासि वैदर्भी" कहा तो दूसरी ओर चौदहवें सर्ग में तो "भवित्री वैदर्भीमधिकमधिकमधिक कण्ठं रचयितुं परीरम्भक्रीड़ाचरणशरणामन्वाहनम हम्"। – नैषध० – 14/90 स्वयं ही उल्लिखित किया है और कहा कि नैषध वैदर्भी रीति, श्लेष के अतिशय चमत्कार, वक्रोक्ति विलास, गुण, रस आदि से मण्डित है।[1] प्रथम सर्ग में ही हंस के करूणार्द्र विलाप का क्या सजीव चित्रण वैदर्भी रीति के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है– देखिए–

"मदेक पुत्रा जननी जरातुरा, नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो! विधे! त्वां करूणा रूणद्धिनो।।[2]

किन्तु इतना ही नहीं यत्र तत्र श्रीहर्ष की शैली लम्बे समासों से ओतप्रोत होकर गौड़ी शैली के भी निकट पहुँच जाती है।

"रसैः कथा यस्य सुधाऽवधीरिणी नलः स भूजानिरभूद्गुणाद्भुतः।
सुवर्णदण्डैकसितापतत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः।।" नैषध०– 1/2

"जिन (नल) का उपाख्यान, स्वाद वा श्रृङ्गार आदि रसों से अमृत को भी तिरस्कार करने वाला है, ऐसे महाराज नल दीप्यमान प्रतापपङ्क्ति को सुवर्णदण्ड और कीर्तिमण्डल को एक सफेद छत्र बनाने वाले अतएव शौर्य एवं दाक्षिण्य आदि गुणों से आश्चर्य रूप थे।"

डॉ० भोलाशंकर व्यास ने तो श्रीहर्ष की शैली को पाञ्चाली शैली कहा है' उनका कहना है कि नैषध के कवि के लिए उसकी रीति कुछ भी हो हमें उसमें पाञ्चाली के ही लक्षण विशेष दिखाई पड़ते है।[3]

---

1. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास – डा० कपिल देव द्विवेदी पृ०– 226
2. नैषध० – 1/135
3. श्रीहर्ष विरचित – नैषधीयचरित – डा० देव नारायण मिश्र पृ० 25

वैदर्भी के परम उपासक श्रीहर्ष की शैलीगत विशिष्टताओं में ललित कल्पनाओं का हृद्यवैशद्य इतना आकर्षक है कि पाठक हठात् उसकी ओर मुड़ जाता है।

इस प्रकार नल और दमयन्ती का चरित्र वर्णित करने में कवि ने तो अपनी कल्पनाओं की सीमा को ही तोड़ दिया है। यह कल्पना अत्यन्त चमत्कारिणी है, जिसकी उड़ानों में स्फुरित हो कवि ने कलम ही तोड़ दी। वस्तुतः उनकी कल्पना शक्ति कल्पनातीत दौड़ करने में पूर्णतया सक्षम है। श्रीहर्ष वस्तुतः कल्पना के शिल्पी ही हैं। ऐसा प्रतीत होता है। इनमें काव्य प्रतिभा का अभाव नहीं है, बल्कि प्रतिभा का दुरूपयोग है, जो अपने चमत्कार के लिए स्वाभाविक चित्रों की उपेक्षा करके कृत्रिमता की अद्भुत पराकाष्ठा को अपनाती है।[1] सच है श्रीहर्ष युगीन काव्यरूढ़ियाँ नितान्त कामुकतापूर्ण थी। नैषध की पञ्चनली प्रसिद्ध ही है जिसमें कवि ने चार–चार श्लोकों के माध्यम से क्रमशः इन्द्र, अग्नि, यम, वरूण का अलग–अलग चमत्कारिक वर्णन किया है फिर चार श्लोकों के द्वारा राजा नल का वर्णन किया जाता है। तदुपरान्त एक शिलष्ट वर्णन के द्वारा क्रमशः इन्द्र, अग्नि, यम और वरूण का वर्णन करते हुए पुनः एक श्लोक में चार देवों तथा नल इन पाँचों का वर्णन होता है।[2] इन श्लेष निष्ठ श्लोकों के माध्यम से कवि ने अपने कई उद्देश्यों को सार्थक बनाया है।[3] देव–सन्देश कहते समय नल ने दमयन्ती को कई बार 'विदुषी' कहा है।[4] पन्द्रहवे सर्ग से लेकर 22वे सर्ग तक की सारी कथाएं यथा– विवाह का समारम्भ, नगर की सजावट इत्यादि प्रसङ्गों का अत्यन्त हृदयग्राही चित्रण हुआ है। सम्पूर्ण पञ्चदश सर्ग तो इन चित्रों की वीथी जैसा प्रतीत होता है। इसके पश्चात् वरयात्रा, वर स्वागत इत्यादि प्रसङ्गों का सारा विशद वर्णन प्रस्तुत किया गया है। ऐसे विभिन्न प्रसङ्गों से सम्बन्धित चित्रण प्रस्तुत करने पर भी वर्णन में कहीं नीरसता का आगम नहीं हो पाया है।

---

1. 'काल किरातः स्फुटपद्मकस्य, वधं व्यधाद् यस्य दिनद्विपस्य।
2. तस्येव सन्ध्या रूचिरास्त्र धारा, ताराश्च कुम्भस्थलमौक्तिकानि।। नैषध0–22/9
3. शिलष्यन्ति वाचो यदमूरमुष्याः कवित्वशक्तेः खलु ते विलासः। नै0– 14/16
4. विद्याविदर्भेन्द्रसुताधरोष्ठे नृत्यन्तिकत्यन्तरभेदभाजः।
   इतीवरेखाभिरपश्रमस्ताः संख्यातवान् कौतुकवान् विधाता।। नै0 7/41
5. विदुषिब्रुवा – नै0 9/43, विदुषि नै0 – 9/49

इतना ही नहीं श्रीहर्ष प्रकाण्ड दार्शनिक भी थे। लेकिन इनका सबसे अधिक दुर्निवार अहं नैषध पर 'था जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है– षष्ठः खण्डन खण्डतोकृपि सहजात्'' 6/113। इसके अलावा उनके तर्कशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान का परिचय हमें 'वर्कष्वप्यसमश्रमः' इस वाक्य से ही हो जाता है। महाकवि श्रीहर्ष श्रृङ्गार व्यञ्जना में भी भारवि और माघ से बढ़कर है। इनके नैषध में प्रारम्भ से अन्त तक श्रृङ्गार की धारा अबाध गति के साथ प्रवाहित होती हुई दृष्टिगत होती है। सातवें सर्ग के नखशिख सौन्दर्य में कवि ने अपने पूर्ववर्ती कवियों का अनुकरण करते हुए दमयन्ती के अङ्ग–प्रत्यंग का चित्राङ्कन कर दिया है।

''यानेन तन्वया जितदन्तिनायौ, पदाब्जराजौ परिशुद्ध पार्ष्णी।
जाने न शुश्रूषयितुं स्वमिच्छू नतेन मूर्ध्ना कतरस्य राज्ञः।।'' नै0–

श्रीहर्ष का कहना है कि काव्य का प्रधान आह्लादक तत्त्व होता है– भावानुभूति या रसानुभूति। किन्तु अलङ्कारवादी कवियों के लिए काव्यानन्द वह है जो चमत्कार जन्य होता है, जिसमें अलङ्कार, रीति, गुण इत्यादि की प्रधानता रहती है। रस में तो आलम्बन विभाव का चित्रण यदि सफल हो गया तो पाठक या सहृदय सभी को रसोद्बोध निश्ंचत हो जाता है। उदाहरणार्थ– करूण रस का आलम्बन जिस प्रकार वाल्मीकि के आश्रम में लक्ष्मण द्वारा परित्यक्त उन्मुक्त रोदन करने वाली सती सीता हो सकती है[1] उसी प्रकार राम के स्वर्गारोहण के पश्चात् कुश द्वारा परित्यक्त उजड़ी अयोध्या भी हो सकती है।[2] दमयन्ती का प्रेम सती का प्रेम था। क्योंकि वह नल को आँख भर इसीलिए नहीं देख सकती थी कि पर पुरूष को देखना उसके सतीत्व के प्रतिकूल पड़ता था–[3]

वृणेदिशीशानिति का कथा तथा त्वयीति नेक्षेनलभामपीहया।
सतीवृतेऽग्नौ तृणयामि जीवित स्मरस्तुकिंवस्तुतदस्तु मस्गयाः।। नै0 9/70

---

1. रघु0– 14 सर्ग
2. रघु0 – 16 सर्ग
3. नैषध परिशीलन – डा0 चण्डिकाप्रसाद शुक्ल – पृ0 164

स्वयम्बर में पाँच नलों के समक्ष पहुँचने पर दमयन्ती के उद्विग्नता, सन्देह, विकल्प आदि भावों का अत्यन्त रमणीय चित्रण किया गया है।[1] श्रृङ्गार रस के संभोग पक्ष का आरम्भ तो स्वयम्बर मण्डल से ही हो जाता है।[2] ''जब दमयन्ती ने देव प्रसाद से नल को स्पष्ट रूप से पृथक् देखा तो वरमाला पहिनाने के लिए उसकी मानसी धारा में त्वरा जनित वेग कुछ वैसा ही हुआ होगा जैसे– वर्षा से उमड़ी नदी की धारा में बाँध के टूटने पर होता है। किन्तु लज्जा की अर्गला भी वहाँ उतनी ही प्रबल है। अतः त्वरा और त्रपा के बीच दमयन्ती की अद्भुत दशा हो जाती है।[3] श्री हर्ष ने सुन्दरी की लज्जा का एक अत्यन्त मनोरम चित्र दिया है–

''कर स्त्रजा सज्जतरस्तदीयः प्रियोन्मुखः सन्विरराम भूयः।
प्रियाननस्यार्ध पथं ययौ च प्रत्याययौ चातिचलः कटाक्षः।।'' नैषध0–14/28

वैसे भी दमयन्ती द्वारा नल को वरमाला डालने के बाद प्रेम की पक्की रजिस्ट्री तो हो ही गयी थी और उसमें सात्त्विक काव्यों का उदय होना स्वाभाविक था। यद्यपि श्रीहर्ष ऊँचे दर्जे के कवि है। लेकिन कालिदास की शैली ने जिस बहुमुखी अद्वितीय चमत्कार को योजना अपने काव्य में किया है उसकी तुलना श्रीहर्ष से कथमपि नहीं की जा सकती। श्रीहर्ष अलङ्कृत शैली के सर्वश्रेष्ठ रचयिता है। उनका श्रृङ्गार वर्णन कवि हृदय का स्वाभाविक उद्गम न होकर वात्स्यायन के कामसूत्र पर आधारित शास्त्रीय विवेचन की अपेक्षा करता है।[4] ऐसे स्थलों में कलापक्ष का अतिशय चमत्कार प्राधान्य है। वियोग श्रृङ्गार में कवि ज्यादा सफल नहीं हुआ है इनकी वियोगात्मक उक्तियाँ उहोक्तिपूर्ण लगती है। इस प्रसङ्ग में चन्द्रोपालम्भ के विषय में उनकी उक्तियाँ बड़ी ही अनूठी है।

'विरहिभिबर्हुमानमवापि यः स बहुलः खलु पक्ष इहाजनि।' नै0–4/63

---

1. अस्ति द्विचन्द्रमतिरस्ति जनस्य तत्र भ्रान्तौ दिगन्तचिपिटीकरणादिरादिः।
स्वच्छोपसर्पणमति प्रतिमाभिमाने भेदभ्रमे पुनरमीषु न मे निमित्तम्।। नै0 13/42
2. विशेष अध्यन हेतु देखें– नैषध0– 13/46
3. संस्कृत साहित्य का इतिहास – बलदेव उपाध्याय – पृष्ठ 233 नैषध0 14/25
4. संस्कृत साहित्य का इतिहास – बलदेव उपाध्याय – पृष्ठ 233

स्थान—स्थान पर कवि ने वीररस के चित्रण में निपुणता प्राप्त की है। दमयन्ती स्वयम्बर में कवि को इसी रस में सफलता मिली है। यह प्रस्तुत प्रसङ्गों को देखकर यह विदित होता है कि सर्वत्र पाण्डित्य ही विद्यमान नहीं है सरसता और सौकुमार्यता भी विराजमान है। जब नल ने हंस को पकड़ लिया तो उसके साथी अन्य हंसों ने निनाद किया। कवि कल्पना करता है कि वह कलहंस निनाद, मानो सुवर्ण हंस के पकड़े जाने से रूष्ट होकर उस सर को छोड़कर जाती हुई लक्ष्मी के चरणों के नूपुरों की झङ्कार है—

"पतत्रिणा तद्रचिरेण वञ्चितं श्रियः प्रयान्त्याः प्रविहाय पल्लवम्।
चलत्पदाम्भोरूहनूपरोपमा चुकूज कूले कलहंसमण्डली।। नैषध0— 1/127

वास्तव में उत्प्रेक्षाओं में कवि ने अत्यधिक मौलिकता और अद्‌भुत चमत्कार प्रदर्शित किया है। अपने लिए दी गयी 'उत्प्रेक्षाकवि' की पदवी उन्हें बिना हिचक दी जा सकती है। श्री हर्ष की शैली पर वक्रोक्ति समुदाय का भी प्रभाव प्रतीत होता है। यही इनकी शैली की विशेषता है। वह दमयन्ती को साधारण सा विशेषण कृशोदरी न कहकर 'सदसत्संशयगोचरोदरी' (नै0—2/40) तथा ईशाणिमैश्वर्य विवर्तमध्ये—(नै0—3/64) आदि विशेषणों का प्रयोग करते है। क्योंकि काव्य में चमत्कार के लिए वैदुष्य प्रदर्शन वाले युग में कवियों ने तो अलङ्कार तथा वक्रोक्ति को अपनाया। भणितिभङ्गी ही उनका प्रधान लक्ष्य होता है। देखिए —

"निषेधवेषो विधिरेष तेऽथवा तवैव युक्ता खलुवाचि वक्रता।
विजृम्भितं यस्य किल ध्वनेरिदं विदग्धनारीवदनंतदाकारः।।" नैषध0—9/50

उक्त श्लोक द्वारा श्रीहर्ष ने बड़े कौशल के साथ अपने नैषध की रचना शैली का भी परिचय दे दिया है। ध्यान से देखा जाय तो नैषध में प्रायः सर्वत्र विदग्ध (विदुषी) नारियों के मुख से कही हुई बातें हैं। सर्वप्रथम दमयन्ती की वचनभङ्गी का प्रदर्शन हंस के साथ, चन्द्रमदनोपालम्भ में, सखियों के साथ, देवदूतियों के साथ तथा नल के साथ होता है। फिर पञ्चसर्गात्मक स्वयम्वर वर्णन (10—14) में विदग्ध सरस्वती का वचनभङ्गी का चमत्कार है बीसवे सर्ग में सखियों के हास—परिहास में भी थोड़ी वक्रता नहीं है। इक्कीसवे सर्ग के अन्त में शुक—सारिका प्रलाप में भी

नारी की ही विदग्धता है और अन्त में सन्ध्याचन्द्र वर्णन में भी दमयन्ती की वचन भङ्गी का वैभव देखने को मिलता है। इतना ही नहीं श्रीहर्ष ने चमत्कार प्रदर्शन के लिए अतिशयोक्ति का भी सहारा लिया। नैषध की अतिशयोक्ति भामह की वक्रोक्ति ही है, किन्तु श्रीहर्ष ने उस अतिशयोक्ति को सभी अलङ्कारों का मूल नहीं माना है क्योंकि भणिति भङ्गी के अभाव वाले भामह कुन्तक द्वारा अस्वीकृत स्वाभावोक्ति, विशेषोक्ति, हेतु सूक्ष्म, लेश आशीः आदि अलङ्कारों का भी सौन्दर्य नैषध में पर्याप्त मात्रा में देखने को मिलता है।

सा भङ्गिरस्याः खलुवाचिकापि पद्भारती मूर्तिमतीयमेव।
श्लिष्टं निगद्यादृत वासवादीन्वितशिष्य में नैषधमप्यवादीत्।। नै0 14/14

नैषधकार श्री हर्ष ने यमक, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति का भी यथावसर प्रयोग किया है– लेकिन यमक के मुरजबन्ध, सर्वतोभद्र आदि चित्रबंधों का कोई आदर नहीं किया है। क्योकि श्लेषानुपाणित अलङ्कारों में बुद्धिवैभव का ही चमत्कार देखा जाता है। हृदयपक्ष का नही। श्रीहर्ष ने स्वयं अपनी रचना को "परिरम्भक्रीड़ाचरणशरण" कहा है। अभङ्ग श्लेष में चमत्कार देखिए– "स्वयम्वर सभा में नल से अपना कपटपूर्ण परिचय देते हुए देवगण कहते हैं– जो आपके सौन्दर्य को स्वयं देखकर भी हम मूर्खता में पड़े बैठे है। इससे हमारी इस दुराशाधीनता को धिक्कार है, तथा हमारे इस विवुधत्त्व को धिक्कार है।"[1]

यहाँ अधिगत्य (जानकर, लेकर) आशापतिता (आशा में पड़े हुए, दिशाओं के स्वामित्व) तथा विवुधत्व (देवत्व पण्डितत्व) में अभङ्ग पद श्लेष है। कवि का कहना है कि अभङ्ग की अपेक्षा सभङ्ग श्लेष रचना में अधिक चमत्कार अपेक्षित होता है। त्रिविक्रम भट्ट ने विनय–निगूढ़ गर्व के साथ अपनी सभङ्ग श्लेष रचना को "बाहुओं से तैरकर समुद्र पार करने के समान एक दुष्कर कार्य बताया है–[2]' श्लेष

---

1. "असाम यन्नाम तवेह रूपं स्वेनाधिगत्य श्रितमुग्धभावाः।
तन्नो धिगाशापतितान्नरेन्द्र! धिक्चेदमस्मद्विवुधत्वमस्तु।। नै0–10/48

2. भङ्गश्लेष–कथाबन्धं दुष्करं कुर्वता मया।
दुर्गस्तरीतुमारब्धोबाहुभ्यामम्भसां पतिः।। नलचम्पू – 1/22

का अत्यन्त प्रौढ़रूप स्वयम्बर में बैठे पाँच नलों के परिचय में दिखाई पड़ता है। प्रत्येक के परिचय में अनेक श्लोक कहे गये है। उदाहरणार्थ– प्रत्येक का एक–एक श्लोक उद्धृत किया जाता है। इन्द्र का परिचय देती हुई दमयन्ती किस युक्ति के साथ इन्द्र नल दोनों का परिचय दे डालती है।

इन्द्र पक्ष में– "सुन्दरि, बलनामक शत्रु के विजयी पराक्रम वाले इनकी वीर सेना के सामर्थ्य का मैं क्या वर्णन करूँ? स्वयं भगवान गजवदन तथा विष्णु इनकी सेना में सैनिक के रूप में रहते हैं। तभी तो इनका रण–पराक्रम दानवों को भयभीत किये हुये है।"

नल पक्ष में– "सुन्दरि, मैं यह क्या कहूँ कि ये महाराज वीरसेन के पुत्र हैं। इन्होंने अपने पौरूष से सदा शत्रु सैन्य की विजय की है, और रणभूमि इनके सैन्य गजों के मदजल की सुगन्ध से सुगन्धित हो उठती है।"

यहाँ वीरसेनोद्भुति (1. वीरों की सेना का सामर्थ्य, वीरसेन नामक राजा से उत्पत्ति) द्विषद्बल–विजित्वर–पौरूषस्य (1. शत्रु बल नामक दैत्य के विजेता पराक्रम वाले 2. शत्रु सेना के विजेता पराक्रम वाले) में अभङ्ग श्लेष तथा सेनाचारी–भवदिभानन–दानवारिवासेन (1. सैनिक के रूप में इभाननगणेश और दानवारि विष्णु के रहने से, 2. सेना के गजों के मुख–दान जल की गंध से) एवं जनिता–सुर भी (1. असुरों को भय देने वाली, 2. जो सुगन्धित हुई हो) में सभङ्ग श्लेष है।[1]

अग्नि पक्ष में– "हे शोभनश्रवणे, इनकी उग्र ज्वालाएं अपनी दक्षता से जिन पार्थिव द्रव्यों को अपना ग्रास बनाती है, उन्हीं से बनी भस्म तपःशील महादेव के भी शरीर में लेप बनती है।"

नल पक्ष में– 'सुश्रवे', इनकी सम्पत्ति के लिए महाधन और तपस्वी लोग भी अपने दारूण शस्त्रों के कुशल प्रयोग द्वारा शत्रु राजाओं का विनाश करने से उत्पन्न हुई है वह क्षात्र तेज का ऐश्वर्य है।

---

1. ब्रूमः किमस्य वरवर्णिनि! वीरसेनोद्भूतिं द्विषद्बलविजित्वरपौरूषस्य।
सेनाचरी भवदिभाननदानंवारिवासेन यस्य जनिनतासुरभीरणश्रीः। नै० 13/3

यहाँ भूति (1. भस्म 2. ऐश्वर्य) महेश्वर (1. शिव, 2. महाधनिक) में अभङ्ग श्लेष एवं अत्यर्थ हेति पटुताकवली भक्तत्तत्पार्थिवाधिकरणप्रभव' (1. अतिशय ज्वालाओं के ग्रास बनने वाले पृथ्वी के पदार्थों क आधार से उत्पन्न, 2. अतिशय अस्त्र कौशल द्वारा पराभूत शत्रु नरेशों के साथ किये गये रण से उत्पन्न एवं अङ्गराग (1. शरीर का लेप, 2. शरीर में मात्सर्य) में सभङ्ग श्लेष है।[1] यम का परिचय देती हुई सरस्वती कहती हैं –

यमपक्ष में– और, महाराज यम के पिता मनोहर–मूर्ति साक्षात् सूर्यदेव है जिनके प्रताप के सम्मुख चन्द्रदेव का समस्त तेज क्षीण हो जाता है। इनकी उत्क्रान्ति नाम की शक्ति (अस्त्रविशेष) भला किसके ऊपर नहीं चल सकती है। अन्य लोगों में रोग उत्पन्न करने के कारण महाराज यम का वर्ण श्याम हो गया है।

नल पक्ष में– और, भगवान सूर्य तथा कामदेव के समान मनोहर मूर्तिवाले तथा अपने प्रताप से समस्त राजमण्डल के तेज को क्षीण करने वाले महाराज इनके पिता थे। इनका शक्तिशस्त्र किसके प्राणों को नहीं हर सकता? शत्रुओं पर गदा प्रहार करने में ये स्वयं कृष्ण ही हैं या उत्कृष्ट बाणों की वेदना पैदा करने में यह स्वयं अर्जुन ही है।

यहाँ "प्रभावनमितारिवलराजतेजाः" (1. अपनी प्रभा से सम्पूर्ण राज (चन्द्र) के तेज को पराभूत करने वाले 2. अपने प्रभाव द्वारा सारे राजाओं के तेज को परास्त करने वाले) 'अम्बरमणीरमणीयमूर्तिः' (1. रमणीयमूर्ति वाले सूर्य 2. अम्बर मणि (सूर्य) तथा कामदेव के समान सुन्दर शरीर वाले) तथा "कृष्णत्वमस्य च परेषु गदान्नियोक्तुः" (1. दूसरों में रोग उत्पन्न करने वाले इनकी कालिमा 2. परेषु (उत्कृष्ट बाणों) की पीड़ा से उत्पन्न करने वाले इनका कृष्णत्त्व (अर्जुनत्व)) में सभङ्ग श्लेष एवं देव (1. सूर्यदेव 2. राजा) तथा शक्ति (1. शक्ति नामक अस्त्र 2. सामर्थ्य) में अभङ्ग श्लेष है।[2]

---

1. अत्यर्थहेतिपटुताकवलींभवत्तत्तत्पार्थिवाधिकरण प्रभवास्यभूतिः।
   अप्यङ्गरागजननाय महेश्वरस्य सञ्जायते रूचिरकर्णि तपस्विनोऽपि।। नै0 13/11
2. किं च प्रभावन मिताखिलराजतेजा देवः पिताम्बरमणी रमणीयमूर्तिः।
   उत्क्रान्तिदा मकनु न प्रतिभाति शक्तिः कृष्णत्त्वमस्य च परेषुगदान्नियोक्तुः।। नै0 13/18

वरूण का परिचय देती हुई सरस्वती कहती है–

वरूण पक्ष में – देखो, शोणनद इनके चरणों का अनुरागी एक साधारण सेवक है और की क्या, स्वयं सरस्वती नदी इनकी सेवा में रहती है। तो सुन्दरि, तुम भी इन जलाधिपति को स्वीकार करो। क्या सभी कमलाशय (जलाशय) इनकी सेवा नहीं करते।

नल पक्ष में – सौभाग्यशालिनि, देखो अरूणवर्ण स्वयं इनके चरणों का अनुरागी है। (इनके चरण अरूण हैं)। स्वयं सरस्वती इन्हें नहीं छोड़ती। सुन्दरि, तुम इन लोकनाथ को स्वीकार करो। धन की आशा से इनकी सेवा कोन नहीं करता?

यहाँ 'शोण' (1. सोननदी, 2. रक्तवर्ण) 'सरस्वती' (1. सरस्वती नदी 2. वाणी या विद्या) तथा भुवनाधिनाथ (1. जलाधिप 2. जगत्पति) में अभङ्ग श्लेष और 'कमलाशया' (1. जलाशय 2. लक्ष्मी या धन के आशा से) में सभङ्ग श्लेष है।[1]

फिर पाँचवे (वास्तविक) नल का परिचय चार श्लिष्ट श्लोकों में दिया गया है जिनमें नल के साथ क्रम से इन्द्र, अग्नि, यम तथा वरूण का भी बोध होता है उदाहरणार्थ एक श्लोक देखिए– नल के साथ महेन्द्र का भी परिचय देती हुई देवी कहती है–

नल पक्ष में – अनेक संग्रामों में विजय पाने वाले श्रीमान महाराज नल को क्या तुम नहीं जानती? याचकों को दान देने में तत्पर रहने के कारण इन्हें कौन व्यक्ति साक्षात् जीमूतवाहन नहीं समझेगा।

इन्द्र पक्ष में– क्या तुम महेन्द्र को नहीं पहचानती? पुत्र विजय (अर्जुन, जयन्त) के द्वारा इनके वंश की वृद्धि हुई है। आप अत्यन्त तेजस्वी तथा उत्सवशील हैं। सैकड़ों दानव शत्रुओं का संहार करने वाले इन्हें देखकर कौन इन्द्र न समझेगा?

---

1. शोणं पदप्रणयिनं गुणमस्य पश्च किं चास्य सेवन–परैव सरस्वती सा।
एनं भजस्व सुभगे! भुवनाधिनाथं किं वा भजन्ति मिर्म कमलाशया न।। नै0 – 13/25

यहाँ 'अत्याजिलब्धविजयप्रसर' (1. जिसे संग्राम में विपुल विजय मिली है 2. अनेक संग्रामों वाले तथा अर्जुन या जयन्त द्वारा वंश के विस्तार वाले) और 'प्रत्यर्थिदानवशताहित चेष्टया' (1. प्रत्येक याचक के प्रति अपने दानीपन के कारण की गयी चेष्टा से 2. सैकड़ों शत्रु दानवों का अहित करने से) में सभङ्ग श्लेष है तथा महीमहेन्द्र (1. पृथ्वी का श्रेष्ठ राजा 2. उत्सव वाले इन्द्र) एवं जीमूतवाहन (विद्याधरों का प्रसिद्ध दानी राजा 2. इन्द्र) में अभङ्ग श्लेष है। और अन्त में देवी सरस्वती अपनी सुमधुर वाणी से इन्द्र, अग्नि, यम, वरूण चारों दिक्वालों तथा नल का भी क्रम से परिचय एक श्लोक के द्वारा ही देती है–

देवः पतिर्विदुषि नैघधराजगत्या निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्मा।
नायं नलः खलु तवातिमहानलाभों यद्येनमुज्झसि वरः कतरः परास्ते।। नै0 –13/34

इस श्लोक के माध्यम से श्रीहर्ष ने अपने श्लेष विलास को पूर्ण रूप से प्रदर्शित कियाहै। यही नहीं कि इसके केवल पाँच नलों में घटित होने वाले पाँच ही अर्थ हो अपितु एक–एक के प्रति भी अनेक अर्थ उन्हीं पदों से सभङ्ग श्लेष द्वारा निकलते है। चमत्कार होने के कारण प्रत्येक के प्रति घटित होने वाला केवल एक–एक प्रदर्शित किया जा रहा है–

1. इन्द्र पक्ष में– हे विदुषि, एष देवः धरा जगत्या (पृथ्वी के) पतिर्न भवत्या किमु न निर्णीयते, न व्रियते। अयं खलु नलो न। (अयम्) तव नलाभः (नल के समान कान्तिशाली) (यतः) अतिमहाः (अतितेजस्वी) यदि एनम् (अ (विष्णु) के इन (स्वामी) अर्थात् बड़े भाई को) उज्झसि, ते परः कतरः वरः।

   हे चतुरे! ये देव पृथ्वी के स्वामी नहीं है। आप क्या विचार नहीं कर रही हैं? इन्हें नहीं वर रही हैं? ये नल तो नहीं हैं (किन्तु) तुम्हारे नल के समान कान्तिवाले हैं। ये अत्यन्त तेजस्वी हैं। यदि विष्णु के बड़े भाई इनको त्यागोगी तो तुम्हारा दूसरा कौन वर होगा?

2. अग्नि पक्ष में– हे विदुषि, धरा जगत्या (अपने वाहन अज की गति से) पतिः (रक्षक) एष देवः भवत्या न निर्णीयते (इति) न (तर्हि) किमु न व्रियते अयं खलु

तव नलो न (अपितु) अति महान लाभः (अत्यन्त महान अग्नि की कान्ति वाले) यदि इन्हें छोड़ोगी तो तुम्हारा दूसरा कौन वर होगा? यदि एनं उज्झसि ते परः कतरः वरः। हे कुशले, अपने वाहन अज (वकरे) की गति से उपलक्षित रक्षक इन देव को आप नहीं पहचान रही है यह बात नहीं हैं, फिर क्यों नहीं वर रही हैं? ये आपके नल तो नहीं है (किन्तु) अति महान् अग्नि की कान्ति वाले हैं। यदि इन्हें छोड़ोगी तो तुम्हारा दूसरा कौन वर होगा?

3. यम पक्ष में – हे विदुषि, एष धरा जगत्या (पर्वतों को उखाड़ फेकनें वाले भैंसे की गति से उपलक्षित) पतिः (धर्मरूप पालक) देवः न निर्णीयते (इति) न (परं) किमु न व्रियते। अयं खलु नलो (गहन) न (वक्रोक्त्या अपितु धर्मरूपत्वात् गहन एव) यदि एनम् उज्झसि (तदा) तव अति महानलाभः ते परः वरः कतरः।

    हे कुशले, पर्वतों को उखाड़ फेंकने वाले भैंसे की गति से धर्म के रक्षक इन देव को तुम नहीं पहचान रही हो, यह बात नहीं है, फिर क्यों नहीं वर रही हो? ये धर्मरूप होने के कारण अत्यन्त महान है। यदि इन्हें छोड़ा तो तुम्हारी बड़ी हानि होगी। तुम्हारा दूसरा वर ही फिर कौन होगा?

4. वरूण पक्ष में– हे विदुषि, एष धरा जगत्या (पृथ्वी पर उत्पन्न होने वालों के जीवनोपाय जल के) पतिर्नदेवः भवत्या किमु न निर्णीयते, न व्रियते, (अपितु निर्णयः वरणीयश्च) अति महान लाभः (अति महत अति पूज्यस्य अनलस्य अभा कान्त्यभावो यस्य– वरूणोहि जलरूपत्वादग्नि विरोधीत्यर्थः) अयं खलु नलो न। यदि एनम् उज्झसि (तदा) ते वरः (श्रेष्ठः) कः परः (शत्रुः) (अपि तु अयमेव शत्रुः)–

    हे कुशले, पृथ्वी पर उत्पन्न होने वालों के जीवनोंपाय जल के पति को क्या तुम नहीं पहिचान रही हो? (क्या इन्हें) नहीं वर रही हो? ये अति महान् अग्नि की कान्ति के अभाव हैं। ये नल नहीं हैं। यदि इन्हें छोड़ा तो तुम्हारा (इनसे बड़ा) कौन शत्रु होगा?

5. नल पक्ष में– हे विदुषि, अयम नैषधराजगत्या (निषध देश के राजा के ज्ञान द्वारा, रूप में) पतिः देवः ना (मनुष्यः) किमु न निर्णीयते (किमु वा) न व्रियते। खलु तव अति महानलाभः (अति महान अस्य (विष्णोः) लाभः) यदि एनम् उज्झसि (तर्हि) ते कतरः वरः परः (अधिकः)–

हे विदुषि, इन नर देव को निषध देश के राजा के रूप में तुम नहीं पहचान रही हो? क्या इन्हें नहीं वर रही हो? (इसमें तुम्हें (साक्षात्) विष्णु का ही महान लाभ होगा। यदि इन्हें छोड़ती हो तो तुम्हारा कौन वर इनसे बड़ा (या) अधिक होगा?

इतना ही नहीं यहाँ श्लेष वक्रोक्ति (जहाँ वक्ता द्वारा कही बात की व्याख्या उत्तरदाता पदों को तोड़–मरोड़ कर दूसरे ढंग से करता है उसे श्लेष वक्रोक्ति कहते है।)[1] के द्वारा चारों दिक्पालों के न वरने की भी ध्वनि निकलती है इसके अलावा श्रीहर्ष ने अर्थ श्लेष (जहाँ एक ही वाक्य में अनेक अर्थ निकलें वहाँ अर्थ श्लेष होता है)[2] के द्वारा भी चमत्कार का प्रदर्शन किया है– देखिए–

"निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथास्तथाद्रियन्ते न वुधाः सुधामपि।
नलः सितच्छत्रित कीर्तिमण्डलः स राशिरासीन् महसां महोज्वलः"। नै0–1/1

उपरोक्त वर्णन को देखकर यह विदित होता है कि श्रीहर्ष श्लेष प्रयोग में बहुत ही ज्यादा दक्ष थे। इसके द्वारा इन्होंने दो बाते सिद्ध की। पहली बात तो अपनी काव्य रचना कीप्रौढ़ता सिद्ध की है। दूसरी बात सरस्वती की प्रतिष्ठा की रक्षा की, क्योंकि यदि ये वास्तविकता पूर्ण वर्णन करती तो देवों के रहस्य का भंडाफोड़ हो जाता, ओर इस प्रकार देवों का क्रोध भाजन बनती। तीसरी बात, श्लेष के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं था। जिससे उन पाँचों का ऐसा वर्णन किया जाता। स्व0 श्री कीथ महोदय का कहना है कि "दमयन्ती चाहे संस्कृत जानती भी रही हो पर देवी की बात को व्याख्या के बिना नहीं समझ सकती थी।" तथा

---

1. वक्रातदन्यथोक्तं व्याचष्टे चान्यथातदुत्तरदः।
वचनं यत् पदमभङ्गैर्ज्ञेया सा श्लेषवक्रोक्ति।। रूद्रट – काव्यालङ्कार – 2/14
2. श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन् यत्रानेकार्यता भवेत्। का0प0 – 10/14

सुशील कुमार डे' महोदय का कहना है कि बेचारी दमयन्ती के लिए इससे एक बड़ी भ्रान्ति कारक परिस्थिति उपस्थित होती थी, क्योंकि टीका के बिना ये श्लोक सम्भवतः उसे बोधगम्य नहीं हो सकते थे।"[1] इस वैदग्ध्य पूर्ण भङ्गिभणिति के युग में भट्टि और माघ ही श्रीहर्ष के प्रेरणास्रोत रहे एवं उनके आदर्श बने।[2] अब छन्दों और अलङ्कारों की कलाबाजी में ही सारी नवीनता प्रतिबद्ध हो गयी। स्वयं माघ में सहज काव्यप्रतिभा अवश्य थी, किन्तु उनकी कविता में उस प्रतिभा से अधिक कृत्रिमता है और उसका यह कृत्रिमाँश ही उत्तरकालीन काव्यों का आदर्श बन गया। बाद के चित्रकाव्यों तथा द्वयाश्रय एवं श्लेषनिष्ठ काव्यों में माघ के प्रभाव की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। ऐसी परिस्थिति में कला–चातुरी दिखाने के श्रम आदि की ओर अधिक ध्यान होने के कारण प्रबन्ध कल्पना का सौष्ठव कहीं दिखाई ही नहीं पड़ता।[3] श्रीहर्ष ने वर्णन शैली की प्रेरणा मात्र रघुवंश से ली, इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि नल के विषय भोग का वही आदर्श था जो अग्निवर्ण का रहा।[4] रघुवंश के पञ्चम सर्ग के प्रभात वर्णन का पूर्णतः अनुकरण श्रीहर्ष ने किया। रघुवंश की तरह कुमार सम्भव के प्रथम सर्ग में वर्णित पार्वती रूप सौन्दर्य का अनुकरण करके ही श्रीहर्ष ने अपने नैषध का सप्तम सर्ग दमयन्ती के नखसिख वर्णन में खर्च कर डाला। कुमार सम्भव के पञ्चम सर्ग की शैली पर नैषध का नवम् सर्ग पूर्णरूपेण अवलम्बित है एवं सांतवे सर्ग पर नैषध पञ्चदश और अष्टम सर्ग की शैली पर लगभग नैषध के 18 से लेकर 22 तक सभी सर्गों की रचना हुई जान पड़ती है। भले ही श्रीहर्ष ने नल दमयन्ती का कथानक महाभारत से ग्रहीत किया हो लेकिन पूर्ण रूपेण उसकी शैली का आधार कुमार सम्भव का शिवपार्वती संवाद (पञ्चम सर्ग) ही है।

श्रीहर्ष को माघ से जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रेरणा मिली थी वह थी श्लेष निष्ठ काव्य रचना पद्धति की जिसके लिए नैषध का पंचनली विषयक त्रयोदश सर्ग और सप्तदश सर्ग है क्योंकि प्राचीन काल से संस्कृत कवियों को श्लेष निष्ठ रचना

---

1. दे0 – संस्कृत साहित्य का इतिहास – पृ0 328
2. दे0 संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ 304
3. नैषधपरिशीलन – डा0 चण्डिका प्रसाद शुक्ल, पृष्ठ – 108
4. रघुवंश – 19/5

करने का कौतुक था यहाँ तक कि सुबन्धु, बाण, भारवि आदि ने यथावसर उसके प्रसङ्ग भी उपस्थित किये। इतना ही नहीं वे हरिचन्द्रकृत धर्मशर्माभ्युदय काव्य से भी पूर्णतः परिचित थे, उन्होंने अपने श्लिष्ट रचना के माध्यम से नैषध में एक स्थान पर उनका उल्लेख भी किया।[1] वरूण स्वयम्वर के अन्त में नल को वरदान देते हुए कहते हैं– "आपके अङ्ग का संयोग पाकर पुष्पों में म्लानि (मुरझाहट) न होगी, और उनमें दिव्य सगुन्ध आ जायेगी। मुझे पुष्प के अतिरिक्त कोई ऐसी वस्तु न दिखाई पड़ी जो धर्म तथा श्रेय (धर्मशर्म) दोनों का साधक हो। यद्यपि धर्मशर्म को एक साथ संयुक्त देखकर उससे धर्म शर्माभ्युदय का सङ्केत समझना द्राविड़ प्राणायाम ही है, किन्तु वर्णन शैली का 11वीं शता0 के उत्तरार्ध में होने वाले कृष्ण मिश्र के प्रतीकात्मक नाटक 'प्रबोधचन्द्रोदय' का भी कुछ प्रभाव नैषध पर था। नैषधकार को कलिसैन्य वर्णन तथा चार्वाक सिद्धान्त आदि दार्शनिक शास्त्रार्थ के प्रसङ्गों को रखने की प्रेरणा इसी प्रबोध चन्द्रोदय से मिली प्रतीत होती है। भतृहरि के नीतिशतक का भी प्रभाव कुछ–कुछ श्रीहर्ष पर प्रतिविम्बित होता है। भतृहरि ने सत्पुरूषों की वृत्ति बताते हुए उन्हें अपने स्वार्थ को त्याग कर के भी परार्थ साधने वाला कहा है–[2] नैषध में उसी उक्ति के आधार पर मदन व्यथा के सागर में डूबते हुए नल हंस को अपना अवलम्ब बताते हुए कहते हैं– आपको इस काम में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देना तो पिष्टपेषण ही है, क्योंकि सत्पुरूष स्वयं परार्थ साधने वाले होते हैं।[3] मुरारिकृत अनर्घराघव का भी श्रीहर्ष ने अपनी काव्य प्रतिभा में कुछ पर्यवसान किया। मुरारि का कहना है कि लक्ष्मी विष्णु के उस स्थल को नहीं छोड़ती कि उन्हें वहाँ अपने भाई कौस्तुभ का साथ मिलता है।[4] श्रीहर्ष ने इस भाव को कुछ परिवर्तित करके लिया है– "नल कहते है– हे विष्णु! सागर तनया लक्ष्मी स्वभाव से ही परम चञ्चला है पर वह आपके पास सदा स्थिर निवास करती है क्यों?

---

1. अम्लानिरामोदभरश्चदिव्यः पुष्पेषुभूयाद्भवदङ्सङ्गात्।
   दृष्टः प्रसूनोपमयामयान्यन्न धर्मशर्मामयकर्मठंयत्।। नैषध0 – 14/85
2. एके सत्पुरूषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये। नी0श0 74, बाम्बे संस्कृत सीरीज प्रकाशन, 1885
3. अथवा भवतः प्रवर्तना न कथं पिष्ट मियं पनष्टिनः।
   स्वतएव सतां परार्थता ग्रहणानां हि यथा यथार्थता।। नै0– 2/61
4. नाभ्रातृसंगमसुखासिकयाजहाति विष्णोः।
   सकौस्तुभमुरश्चपलापिलक्ष्मीः।। अनर्घराघव – 7/142

"जाह्नवीज़लजकौस्तुभचन्द्रान् पादपाणिहृदयेक्षणवृत्तीन्।
उत्थिताब्धिसलिलात्वयि लोला किं स्थिता परिचितान्परिचिन्त्य।।

नैषध0 – 31/106

उक्त वर्णनों को देखकर श्रीहर्ष की कल्पना एवं शैली की भूरि–भूरि प्रशंसा की जाय तो भी कम है। वह तो श्रीहर्ष का पाण्डित्य ही है मुरारी की शैली की समता देखते हुए यह निर्णय निकलना अनुचित नहीं होगा कि श्रीहर्ष ने न्याय के "कारण गुणाः कार्य गुणानारभन्ते" वाले सिद्धान्त को नैषध में कई बार कहने की प्रेरणा मुरारी से ही ली है। मुरारी ने चन्द्रमा को अत्रि मुनि का नेत्रमल कहा है।[1] श्रीहर्ष ने यहीं से प्रेरणा लेकर चन्द्रवर्णन करते हुए 22/73, 98, 110, 133 में कई बार चन्द्रमा को अत्रिन्नेत्रोद्भव कहा है।" ऐसे वर्णनों को देखकर लगता है कि यदि इस काव्य को व्याकरण तथा वेदशास्त्रों के पाण्डित्य का पानकरस कहा जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इस ग्रन्थ को पढ़ने से लगता है कि कथावस्तु की कथारस धार अत्यन्त क्षीण रूप से व्याकरण और शास्त्र की बीहड़, लम्बी, बेडौल चट्टानों के नीचे खोई हुई कहीं–कहीं बहती दिखाई देती है। इसलिए वह अपने काव्य को पण्डितों एवं कवियों के बीच दर्प के साथ कहता है कि यह काव्य श्रृङ्गाररूपी अमृत का चन्द्रमा है। "श्रृङ्गारामृतशीतगुः" (नैषध0–10/24) श्रीहर्ष ने अपने पाण्डित्य का दर्प प्रकट करने के लिए ही अपने काव्य की रचना की है। इस प्रकार अनेक काव्य रूढ़ियों का ज्वलंत प्रतीक नैषध वह घना जंगल है जिस जंगल के वृक्ष फूल और फल से हीन है। सांतवी शदी में होने वाले 'बाण' ने भी जब अपना कादम्बरी कथा काव्य लिखा तो उन्होंने भी कथा के सौन्दर्य के आधान हेतु ऐसे अभाव की सृष्टि पहले ही कर ली थी। राजा शूद्रक का वर्णन करते हुए बाण ने लिखा है– कि वह महान् प्रतापी है पृथ्वी का सारा वैभव उसके पास है–

"तस्यचाति विजिगीषुतया महासत्त्वतया च तृणमिव लघु–वृत्ति
स्त्रैणमाकलयतः प्रथमे वयसि वर्तमानस्यापि चावरोधजने।" कादo–पृ0 50

---

1. आः कीद्दगत्रिमुनिलोचनदूषिकायां पीयूषदीधितिरितिप्रथितोऽनुरागाः। अ0रा0 2/83

जब बाणभट्ट अपने नायक शूद्रक का ऐसा चित्रण करते है और यह स्पष्ट हो जाता है, कि शूद्रक के मन का अधिकांश धरातल किसी महान् अभाव से पीड़ित है, जिसके कारण वह युवतियों को अपने मन में स्थान नहीं दे पा रहा है। तब पाठक की मनोवृत्ति कुछ सोचे या न सोचे कवि बाणभट्ट कथा को एक नया मोड़ देते है। जिस "चाण्डाल कन्या को देखकर अचिरोपारूढ़ यौवनाम् अतिशय रूपाकृतिम् अनिमेषलोचनो ददर्श" लिखा है। उसी चाण्डाल कन्या को देखकर राजा की मनोवृत्ति दूसरी हो गयी और सोचने लगा– अहो! ब्रह्मा द्वारा गलत स्थान पर सौन्दर्य की सृष्टि करना अच्छा नहीं है।

"अहो विधातुरस्थाने सौंदर्य निष्पादन प्रयत्नः। तथाहि यदि नामेयमात्म–रूपोपहसिताशेष–रूप–सम्पदुत्पादिता ——–कुलेजन्म।।" कादO–पृO 92

इस प्रकार कथावस्तु की वक्रता एवं सुसम्बद्धता ही कवि का सबसे बड़ा गुण होता है और उसकी विश्रृङ्खलता ही सबसे बड़ा दोष है। इन्हीं वर्णनों से प्रभावित होकर श्रीहर्ष ने अपने पाण्डित्य को शिखर पर बैठाने का प्रयत्न किया। तभी तो कहा भी गया है कि "नैषधंविद्वदौषधम्" अर्थात् नैषध विद्वानों की विद्वता की कसौटी है। इनकी विद्वता असाधारण थी भी।[1] इनकी शैली वेद परिनिष्ठित शैली है। जो शब्द और अर्थ के नवीन सन्निवेश से एकार्थमत्यजतोनवार्थघटनाम्' की पदवी से मण्डित हो जाती है। अलङ्कारों का यथास्थान उपयुक्त प्रयोग नैसर्गिक चारूता का संभार कर देता है। काव्य के बहुविध उपादानों यथा शैली, अलङ्कार, रीति, गुण आदि इसमें सौष्ठव से विराजमान है। काव्योचित कल्पनाओं का विशेष उत्कर्ष यथास्थान दृष्टिगत होता है। इन्हीं गुणों के कारण पण्डित मण्डली को यह कहने के लिए बाध्य होना पड़ कि सचमुच "नैषध विद्वदौषधम्" उक्ति सर्वश्रेष्ठ है।–

12वीं शताO तक संस्कृत वाङ्मय का जो रूप उपस्थित था। धीरे–धीरे वह आगे–आने वाले कवियों के द्वारा ह्रास की ओर उन्मुख होने लगा। इतना ही नहीं शनैः–शनैः विचारों की सतंह पर भाषा का गेय रूप कुण्ठित होने लगा, और मनीषी जन उस भाषा को कविता की ओर बलात् ले जाने का प्रयास करने लगे। यह

प्रयास क्योंकि कविता की सहज प्राणशक्ति (रसाभावादि व्यञ्जना) और उन्मुक्त तरलता से वञ्चित होता है इसलिए अधिकतर कवि बाहरी उपादानों से उसमें यमकानुप्रासादि शब्दालङ्कार आकर्षण भरने लगते है। कहीं–कहीं भाषा का अन्तरङ्ग स्वरूप अलङ्कारों के अनुकूल होता है। वे अलङ्कार सहज ढंग से आते है और उनके बिना सारा वाक्य विन्यास या अर्थ–संगठन अधूरा लगता है। भाषा में प्रवाहमयता का भाव तभी तक रहता है, जब तक भाषा समाज तथा व्यक्ति के आन्तरिक सम्बन्धों तथा उनमें हो रही परिवर्तन की परिस्थितियों को वहन करती रहती है।

12वीं शता0 में मिथ्याप्रयुक्त चातुर्य का उत्कर्ष तीन लेखकों को प्राप्त हुआ। जिनमें सन्ध्याकर नन्दी प्रथम थे उनके रामपाल चरित के प्रत्येक पद्य में राम के चरित का और बंगाल में 11वीं शता0 के अन्त में विद्यमान राजा रामपाल का वर्णन है। उनके बाद जैन लेखक धनञ्जय द्वितीय (1124–1250) थे जो दिगम्बर सम्प्रदाय के थे। तीसरे कविराज थे जिन्होंने राघवपाण्डवीयम् नाम से अपने ग्रन्थ का उल्लेख किया। उक्त दोनों ग्रन्थों की पद्धति का शुभारम्भ बाण और सुबन्धु के शब्द श्लेष से हुआ। क्योंकि कविराज ने स्वयं इस बात को कहा है कि वक्रोक्ति के प्रयोग में उक्त दोनों कवियों को छोड़कर उनकी बराबरी कोई नहीं कर सकता। अनिश्चित समय के हरदत्तसूरिकृत राघवनैषधीयम् जिसमें श्लेष निष्ठ भाषा में राम और नल की अद्भुत कथाओं का समायोजन है। यह काव्य ह्रासकालीन कविता का सुमधुर उदाहरण है। इसमें तत्कालीन समाज की रूढ़ि व्यवस्था के अनुसार ऐसे बहुचर्चित दो नायकों को लिया गया है जिनकी उत्तम राजप्रकृति और आदर्श आज तक किसी न किसी रूप में आदर और प्रतिभा के प्रात्र बने हुये है। कालिदास के उपरान्त जैसे ही संस्कृत कविता लोक जीवन से दूर होती गयी वैसे ही क्रमशः भारवि, माघ, नैषध आदि काव्यों में कृत्रिमता एवं क्लिष्टता सन्निविष्ट होती गयी। रघुवंश महाकाव्य के नवम् सर्ग की समस्त पक्तियाँ शब्दालङ्कारों से गुथी हुई है। यथा– द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम् इत्यादि। यह अत्यन्त उत्कृष्ट अलङ्कार योजना अपने चरम परिपाक को पहुँचकर ऐसे–ऐसे काव्यों में दृष्टिगत होती है। जिससे प्रत्येक शब्द प्रत्येक भाव, दो

अलग–अलग अर्थों में व्यक्त करता हुआ प्रतीत होता है। इन काव्यों का अर्थ निकालना सामान्य जन क्या पण्डित जनों के मस्तिष्क को भी अच्छा खासा व्यायाम करा देता है। इसका एक उदाहरण तो कविराज का 'राघवपाण्डवीयम्' है। जिसकी भाषा–शैली एवं भावों के विन्यास को पहले ही वर्णित किया जा चुका है। ऐसे ही भावों से मिलता हुआ राघवनैषधीयम् महाकाव्य है। जिसमें कवि ने राम के साथ–साथ एक और युगीन महत्त्व का चरित अङ्कित किया गया है। जिस प्रकार भगवान राम राज्यसत्ता के सर्वश्रेष्ठ प्रतिष्ठाता के रूप में लिये जाते हैं उसी प्रकार राजा नल, नारी, सत्ता और अनिवार्य चारित्रिक पतन के बीच मानवीय अन्तर्द्वन्द्व के प्रतीक नायक कहे जा सकते हैं। कवि ने मानव नल के सौन्दर्य आकर्षण को देवताओं की तुलना में अधिक प्रभावशाली दिखाकर इस चरित के द्वारा कवि देवताओं पर मनुष्य की अनिवार्य विजय घोषित करते हुए प्रतीत होता है। साथ ही सत्त्ता के प्रभाव में आने पर मनुष्य के भीतर आयी हुई विलासिता और चारित्रिक शिथिलता किस तरह उसे दुःखद परिस्थितियों की तरफ खींच ले जाती है। इस बात का उदाहरण नल का चरित्र पूर्णरूपेण है।[1] सत्य ही है कि इस अलङ्कृत युग में भावना संवेगों की कमी हो जाती है। जहाँ कवि का प्रधान उद्देश्य दो व्यक्तियों को एक वाक्य में गूंथकर पाठक वर्ग को शाब्दिक चमत्कार से प्रसन्न करना है वहाँ भावसंवेग और तदनुकूल रसानुभूति के प्रति शैथिल्य स्वाभाविक ही है।[2] देखिए –

स राजहंसोवचनं महार्थं निगद्य मौनं जुजुषऽभिरामम्।
आरामभूतः प्रससाद रामो मध्येसभं सज्जनवन्दनीयः।। रा0नै0–1/18

समय चक्र चलता गया ऐसे ही समय जब हरिदत्तसूरि के राघवनैषधीय महाकाव्य को ख्याति प्राप्त हो रही थी उसी समय असंदिग्ध रूप से पिछले काल की रचना चिदम्बरकृत 'राघवपाण्डवपादवीय' महाकाव्य का उद्‌भव हो चुका था। इस महाकाव्य में तीन कथाओं के रहने की हास्यास्पदता देखी जाती है।

---

1. हरिदत्त सूरि कृत – राघवनैषधीयम्–भूमि का भाग, पृष्ठ 7, 9
2. संस्कृत साहित्य का इतिहास – कीथ – मंगलदेव शास्त्री भाषान्तरकार

सर्वप्रथम राम, पाण्डव और कृष्ण की कथाएं युगपद् प्रवर्तित होती है। तीसरी कथा भागवत पुराण से ली गयी है। इस ग्रन्थ का भी काव्य वैभव श्लेष की उसी प्रतृत्ति के व्यवस्थित ढंग को दर्शाता है, जिसका वर्णन कविराज ने अपने राघवपाण्डवीयम् ग्रन्थ में सुव्यवस्थित ढंग से किया था। 1542ई0 में अयोध्या में लक्ष्मण भट्ट के पुत्र रामचन्द्र द्वारा विरचित "विचित्ररसिकरञ्जन काव्य भी इसी प्रकार का है क्योंकि इस ग्रन्थ के पद्य भी एक प्रकार से पढ़ने पर प्रेम सम्बन्धी कविता के रूप में और दूसरे प्रकार से पढ़ने पर वैराग्य की प्रशंसा के रूप में प्रतीत होते हैं। अलङ्कृत एवं चामत्कारिक शैली के होड़ की प्रवृत्ति उक्त सभी महाकाव्यों और जैन महाकाव्यों में भी विद्यमान थी। कनकसेन वादिराज द्वारा रचित यशोधर चरित ऐसा ही काव्य है, जिसमें चार सर्ग और 296 पद्य है। इसी उपाख्यान का एक अन्य रूप मणिक्यसूरी के 'यशोधरचरित' में भी पाया जाता है जो श्वेताम्बर जैन ग्रन्थ है जबकि वादिराज का दिगम्बर जैन काव्य है। परन्तु दोनों के वर्णन एक दूसरे से स्वतंत्र है। 13वीं शता0 में देवप्रभसूरि द्वारा रचित पाण्डवचरित और 'मृगावतीचरित' का उल्लेख करना भी समुचित होगा। चारित्र सुन्दरगणी का महापाल चरित भी इसी कोटि की रचना है इसमें 14 सर्ग और 1159 पद्य है। परन्तु इन सभी महाकाव्यों का महत्त्व उनके भाषा शैली सम्बन्धी साहित्यिक गुण की अपेक्षा ज्ञानवर्धक कथाओं की दृष्टि से अधिक है। बुद्धघोषाचार्य के नाम से प्रसिद्ध पद्मचूड़ामणि महाकाव्य में यद्यपि कोई नवीन मौलिकता का समावेश नहीं है फिर भी यह कहीं–कहीं उपयुक्त दृष्टि से ही महत्त्व प्रदान करता है। 15वीं शता0 के वामन भट्ट बाण ने 30 सर्गो में रघुनाथ चरित महाकाव्य की रचनाकी जिसमें राम चरित के इतिवृत्त को निबद्ध किया गया है। 1608 ई0 में अद्वैत कवि ने 18 सर्गों में राम–लिङ्गामृत की रचना की। इसी अद्वैत कवि ने 12 सर्गों में राघवोल्लास महाकाव्य का प्रणयन किया। 17वीं शता0 के चक्रकृत ने 'जानकीपरिणय' लिखा, जिसमें वाल्मीकि रामायण से मिलती जुलती जानकी की कथा का समावेश है। इतना ही नहीं काहन स्वामी का रामरहस्य एवं 18वीं शता0 का राम–विजय महाकाव्य जो कि रघुनाथ उपाध्याय द्वारा प्रणीत है। ऐसे ही अनेक रामकथा सम्बन्धी स्फुट काव्य ग्रन्थ लिखे गये जो

भिन्न–भिन्न कोटियों में विभाजित थे। यथा श्लेष काव्य, द्विसन्धान काव्य, विलोम काव्य आदि। इन सभी काव्यों में रामायण एवं महाभारत की कथा को एक ही साथ एक ही काव्य में प्रतिपादित करने की परम्परा को देखकर दण्डी आदि ने इस प्रकार के काव्यों को 'द्विसन्धान काव्य' कहा।

इसी प्रकार विलोम काव्यों में चिदम्बर सुमतिकृत राघवपाण्डवयादवीय (16वीं शता0) तथा वेंकटाध्वरिकृत यादवराघवीयम् (17वीं शता0) एवं सूर्यदेव कृत रामकृष्ण विलोम काव्य में भी रामकथा का साङ्गोपाङ्ग वर्णन मिलता है। इन सभी महाकाव्यों में एकाधिक विषयों का समिश्रण कर कवि ने अपनी पटुता एवं विद्वता का सम्यक् परिचय दिया है। 'यादवराघवीयम्' जिसके प्रणेता वेंकटाध्वरि महाकवि है। यह महाकाव्य कुल तीस श्लोकों में बद्ध है। जिनमें सीधे पढ़ने से राम की कथा का तथा उल्टे पढ़ने से कृष्ण की कथा का यथोचित भाव मालूम होता है। ऐसा शाब्दिक कौतूहल संस्कृत के अतिरिक्त और किस भाषा में हो सकता है। इसकी चामत्कारिक शैली कविजनों के मानस को उद्वेलित कर बरबस उसे अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। ऐसे विलोम काव्यों की स्फुरणा उसी समय हुई जब शाब्दिक कौतूहल चरम कोटि पर पहुँच चुका था। ऐसे युगपद् वर्णन सामान्य जन को भले ही रोचक न प्रतीत हो किन्तु सहृदयों एवं विद्वानों के लिए तो वे अमृत तुल्य ही होते हैं। वेंकटाध्वरिमहाकवि ने अपने शब्द वैभव का विलास जिस हस्तपटुता से प्रदर्शित किय है उसका वर्णन सामान्य कवि नहीं कर सकता है। वेंकटाध्वरि ने अपनी प्रतिभा के बल से काव्यरूढ़ियों और परम्पराओं को चरम सीमा पहुँचाने हेतु जितनी खींचतान दिखाई है इतनी ही रसबोधता उनके काव्य के वैभव से बाहर होती गयी। इनमें महाकाव्य के पूरे लक्षण कौन कहे आधे भी नहीं है। रस का भी भाव सर्वत्र व्याप्त नहीं है केवल बीच–बीच में कुछ–कुछ रसों की झलक केवल प्रतिविम्बित हो गयी है वास्तव में यह नीरस ही है केवल कथामात्र प्रधान है तथा शाब्दीक्रीड़ा का अप्रतिम चमत्कार ही सर्वत्र छाया हुआ है। जिस कारण इसको इतनी प्रसिद्धि मिली हुई थी। इनका काव्य कवियों के चित्त पर जबरदस्त आघात

करने वाला है। फलतः ऐसे काव्यों के प्रणयन से साहित्य में कलात्मकता का संचारहोता गया और पण्डित तथा सहृदय केवल इसी उद्देश्य हेतु काव्य रचना में प्रवृत्त होने लगे। संस्कृत साहित्य में ऐसा काल आया, जिसमें अधिकांशतः कवियों ने ऐसे ही चरित काव्यों को लक्ष्य बनाना प्रारम्भ किया जिससे भाषा में उस अपूर्व लावण्य का अभाव हो गया जो कालिदास वाल्मीकि, अश्वघोष इत्यादि के काव्यों में विद्यमान था। अब सर्वत्र नक्काशी एवं पच्चीकारी का ही बोल–बाला हो गया और इसी युग ने क्रमशः धीरे–धीरे इस युग की कलाओं को भी अपने अधिकार में लेना शुरू कर दिया।

यह उल्लेखनीय है कि छठीं शता0 से लेकर 12वीं शता0 तक का काल अलङ्कृत शैली के चरमोत्कर्ष का काल था। भारवि द्वारा जिस मार्ग का संधान किया गया था, वह रत्नाकर, बाण, माघ, शिवस्वामी, क्षेमेन्द्र इत्यादि कवियों के समय अपने चरमोत्कर्ष को पहुँचकर विशेष ख्याति को प्राप्त कर चुका था। इस युग ने अलङ्कृत शैली के विकट रूप का प्रतिविम्बन तो किया ही साथ ही संगीत, कला, नाट्य, वास्तु, स्थापत्य, शिल्प, मूर्ति आदि सभी विधाओं को भी अपनी अलङ्कृत एवं चामत्कारिक शैली से अभिभूत किया। इस शैली ने सभी में अलङ्करण की बहुशः सर्वातिशयी प्रवृत्ति को जन्म दिया। युग भी ऐसा था कि पण्डित एवं सहृदय इसी अलङ्कृत शैली की माँग करने में डटे रहते थे, क्योंकि सीमान्त प्रदेशों में होने वाले विदेशी आक्रमणों ने कला एवं साहित्य को झकझोर कर रख दिया था। उस समय इन कलाओं में परिवर्तन होना स्वाभाविक था। परवर्ती कला अपनी पूर्ववर्ती कला से परम्परा ग्रहण करती है, यह एकदम सही है। कालिदास ने लिखा भी है कि एक दीपक से दूसरा दीपक प्रज्ज्वलित होता है। इसलिए वास्तु, मूर्ति तथा चित्रकला की विभिन्न शैलियों तथा चित्रकाव्यों में एक अतिरञ्जित समन्वय परिलक्षित होता है। ''डा0 राधाकमल मुखर्जी'' ने लिखाहै – ''भारतीय मानव वाद वास्तव में भरहुत, साँची, बोधगया और भाजा की कृतियों में

एक सूत्र में बाँधने वाले एक आत्मिक बंधन का प्रतीक है, किन्तु उन कृतियों की गत्यात्मक स्वाभाविकता तो सिंधुघाटी की कला की ही विरासत है।"[1]

भारतीय कला में वास्तु, मूर्ति और चित्र इन तीनों विधाओं का एक समन्वय परिलक्षित होता है। रामायण और महाभारत जैसे आर्षग्रन्थों के समय कला का इतना चमत्कृत रूप नहीं प्रसृत था। इन ग्रन्थों ने तो अपने युग की नवीन परिस्थिति में वैदिक काल की विराट दृष्टि को लाने का प्रयत्न किया था। युद्ध के भयङ्कर रूप का जैसे ही उपशमन हुआ, त्यों ही लोगों में निर्मल और स्वच्छ आनन्द की भावाना जगी। यज्ञों का प्रचार और विस्तार होने लगा, कला और साहित्य के सृजन के लिए उत्साह और प्रेरणा मिली तथा नाट्य, नाटक, काव्य और सहित्य की दिशा में लोगों की अभिरूचियाँ जागृत होने लगी। अब जीवन व्यापक, सर्वाङ्गीण और सर्वतोमुख हो गया। इस समय के शान्त वातावरण में साहित्य कला और दर्शन केवल अंकुरित ही नहीं हुए, बल्कि वे पुष्ट और विकसित भी हुए। इस युग में हमें साहित्य, कला और दर्शन–ग्रन्थों के अतिरिक्त मूर्ति, भित्ति, चित्र आदि के रूप में कुछ नहीं मिलता। केवल ईसापूर्व चतुर्थ तृतीय शता0 के कला अवशेषों के आधार पर इस युग की सौन्दर्य चेतना के विषय में हम केवल अनुमान कर सकते हैं। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के आधार पर जिसमें क्रमशः नाटक, नाट्य, रस, संगीत, विभाव, अनुभाव आदि का साङ्गोपाङ्ग वर्णन मिलता है, अवश्य ही वह कई शताब्दियों की विचारधारा का समन्वय और समष्टि है। नाटकों में भित्तिचित्र, चित्रपट आदि का उल्लेख साथ ही अलङ्कार और वस्त्रभूषा आदि का वर्णन है। इन सभी बातों से महाभारत के उत्तरकाल की सामूहिक और सृजन के लिए उत्सुक चेतना तथा उर्वर प्रतिभा का स्पष्ट पता लगता है। इस समय जीवन कई धाराओं में दिखाई पड़ने लगा था। एक ओर शास्त्रीय यज्ञों का जीवन है तो दूसरी ओर लोगों में वैराग्य की प्रवृत्ति अङ्कुरित होती हुई दिखाईपड़ती है। तीसरी ओर लोग आनन्द और भोग में

---

1. हिन्दी में ललित कला साहित्य – जगदीश चन्द्र चतुर्वेदी, पृ0 17

संलग्न दिखाई देते हैं, जिसमें संगीत, नृत्य, मूर्तिकला, वास्तुकला , चित्रकला आदि का सृजन करने वाली प्रवृत्तियों पर लोगों का मनन कार्य चलता है। चौथी और महत्त्वपूर्ण दिशा जनता के साधारण जीवन की है जिसमें दर्शन की गम्भीरता और शास्त्रों की उलझन तथा राजदरबारों में पली हुई कला का विलास तो नहीं है, किन्तु धर्म और नीति की मर्यादा है। साथ ही कला की सरसता और जीवन में अमित आनन्द की उत्कट कामना है। इन चारों दिशाओं में विस्तार और विकास के लिए जीवन को अनन्त अवकाश मिल गया है।[1] फलस्वरूप पहली और दूसरी शता० ई० पूर्व में साँची, भरहुत, तथा अन्य कई स्थानों पर पाये गये यक्ष और यक्षणियों की मूर्तियां आदि उस समय की कला के प्रतिनिधि स्वरूप हमें प्राप्त हुए है। ये उत्तरमौर्यकाल की सौन्दर्य भावना के प्रस्तर खण्डों में अंकित अमर प्रतीक हैं। यह नियम सत्य है कि प्रत्येक युग चूडान्त पर पहुंचने से पूर्व ही अपनी विरोधी प्रतिक्रियायें भी उत्पन्न कर देता है। एक ओर चेतना की वह धारा जिसका उद्‌गम महाभारत के उदात्त आदर्शों से हुआ था अनेक स्त्रोतो और प्रवाहों को लेकर बह रही थी। इसमें दर्शन की गम्भीर दृष्टि तथा नृत्य, संगीत, काव्य के विकास से रस की अनुभूति आदि सभी विद्यमान थे, तो दूसरी ओर बुद्ध की वैराग्यमयी करूणा का आर्विभाव था। फलतः इस शून्यता में सरस कल्पनाओं और भावों का आर्विभाव होने लगा। उनके वैराग्यमय जीवन को व्यक्त करने के लिए पहाड़ों, गिरी गुहाओं को खोदकर अनन्त धन और अथक परिश्रम द्वारा मंदिरों और भित्तिचित्रों का आयोजन किया गया जिसकी तरल धारा ने उस शून्यता को रस, आनन्द और सौन्दर्य के वैभव से भर दिया। जीवन की इस बहुमुखी धारा की अभिव्यक्ति 'मथुरा की कला' में हुई। इतनाही नहीं अजंता की चित्रकारी का प्रारम्भ इसी युग की सौन्दर्य चेतना को रंग और रूप देने के लिए हुआ। जीवन के बहुमुखी विकास और वैभव से अवश्य ही आनन्द की प्रखर अनुभूति उत्पन्न हुई होगी, उल्लास और उत्साह उमड़ा क्योंकि होगा इनके बिना पहाड़ों को खोदकर स्तम्भों प्रकोष्ठों और मंदिरों का निर्माण करना रेखाओं और रंगों से ओज, ऐश्वर्य, अनन्तकरूणा, वैराग्य, आनन्द

आदि का व्यक्त करना, पत्थर की बुद्ध मूर्तियों में टॉकी के बल से आध्यात्मिक चेतना और उदात्त जीवन को जागृत कर देना सम्भव नहीं था।

आश्चर्य नहीं कि यह चेतना यहीं तक सीमित न रह सकी, और तिब्बत, श्याम, कम्बोडिया, चीन आदि देशों में स्तूपों, मन्दिरों और मूर्तियों में अभिव्यक्त हुई। इस प्रकार बौद्धधर्म ने जिस नवीन चेतना को जागृत किया थावह हमारे सामूहिक जीवन की धारा में पूर्णरूपेण घुल–मिल गयी। एक ओर अद्वैतवाद का जागरण हुआ तो दूसरी ओर अवतारवाद भी फलीभूत हुआ। देश के वैभव सम्पन्न और शान्त वातावरण में फला सहित्य, काव्य, दर्शन और शास्त्रों का सृजन हुआ। यह भारतीय इतिहास में गुप्तकाल था। यह स्वर्ण–युग था, क्योंकि देश की आनन्दचेतना और उर्वर प्रतिभा ने अपने चरम विकास पर पहुँचकर अजंता, सारनाथ, मथुरा, यहाँ तक कि देशान्तरों में मध्यएशिया से लेकर लंका तक और फारस से लेकर चीन तक मूर्तियों और चित्रों की सृष्टि की। अजंता की कला में जो प्रौढ़ परिणति और अत्यन्त उदात्त अभिव्यक्ति प्रकट हुई है वह अन्यत्र दुर्लभ है।[1] यह एक दिव्य अलौकिक कृति है। यह कला प्रेरित कला है, जिसमें सत्यं शिवं सुन्दरम् तीनों का पुञ्जीभूत समन्वय है। अजंता की चित्रकला देवलोक की गाथा मर्त्यलोक के उपकरणों में जाती है। वाकई अजंता के गुहा मंदिर देखने योग्य हैं। इनमें चैत्य, विहार, स्तम्भ, तोरण तो स्थापत्य के भव्य आकर्षण तो हैं ही लेकिन सर्वाधिक आकर्षण का केन्द्र तो चित्रकला है। यहाँ के चित्रकार साधारण चित्रकार ही नहीं थे, बल्कि कलामर्मज्ञ चित्रकार थे। ''रेखांप्रशंसन्त्याचार्यः'' इस सिद्धान्तानुसार अजंता की कला रेखा का सर्वाधिक माहात्म्य का था तथा यही सर्वप्रमुख गुण था। क्षय और विन्यास के द्वारा रेखा–विन्यास और भी निखर उठता था। चैत्यों के बांयी ओर बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर की प्रतिमा उसकी शोभा को द्विगुणित कर देती थी। जहाँ पर उनका महाभिनिष्क्रमण चित्रित है, वह स्थान काफी महत्त्वपूर्ण है। ऐसे ही एक चित्र

---

1. सौन्दर्यशास्त्र – हरद्वारी लाल शर्मा, पृ0 27

भगवान बुद्ध का है जिसमें (बुद्ध में) पूर्ण रूपेण अमोध शक्ति का चित्र है जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इस चित्र में कलाकार नेनवाणी का प्रयोग किया है न लेखन का केवल रेखाओं के विन्यास से वह कथा को कह रहा है यह इतना विलक्षण है कि देखकर प्रतीत होता है इस पर चित्रशास्त्रों के सम्यक् अनुकरण का बलपूर्वक प्रयोग किया गया है। क्योंकि भारत की कला में विशेषकर नाट्य, मूर्ति तथा चित्र में मुद्राओं का विनियोग एक सामान्य सिद्धान्त है, अतः यह निष्कर्ष ठीक ही है कि चित्र सिद्धान्तों की जो प्रौढ़ता हमने प्राचीन शिल्पग्रन्थों में देखी। उसके कलात्मक निदर्शनों में अजंता की चित्रकारी वास्तव में एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करती है। स्थापत्य कौशल शास्त्र तथा कर्म दोनों की संयुक्त बुनियाद पर प्रतिष्ठित हुआ है। इतना ही नहीं बौद्ध चित्रकला का दूसरा रूप हमें सिंहलद्वीपीय सिगरिया में भी मिलता है। यहाँ के भित्तिचित्रों में वर्णविन्यास और वर्तनी रेखा का पूर्ण पालन दिखाई पड़ता है। बाघ की चित्रकला परतो अजंता के उत्तरवर्ती चित्रणों का प्रभाव पड़ता है। इस चित्रकला की सर्वप्रमुख विशेषता लोक चित्रण है, जबकि अजंता की प्रमुख विशेषता धर्मचित्रण है।[1] पांचवी–छठी शता0 में बौद्ध धर्म की पकड़ ढीली पड़ चुकी थी। ऐसे समय में लोक मनोवृत्ति का प्रतिविम्बन सहज था। अपने चूडान्त विकास को पहुँच कर गुप्त युग की पल्लवित और पुष्पित आनन्द चेतना शाखाओं में विभक्त होने लगी। एक ओर मंदिरों और मूर्तियों अवतार और जातक के कथानकों का अङ्कन हुआ और दूसरी ओर केवल सौन्दर्य के आस्वादन हेतु सुन्दरी और उनकी लीला और विलासों का ललित कला के रूप में सृजन हुआ। इस प्रकार धार्मिक कला और लोक कला का भेद स्पष्ट होने लगा। दोनों धाराओं का अलग–अलग विकास हुआ। धार्मिक कला में मन्दिरों मूर्तियों धाराओं का अलग–अलग विकास हुआ। धार्मिक कला में मन्दिरों मूर्तियों का निर्माण और चित्रण प्रधान था। मध्यकाल के उदय होते–होते वराह, सूर्य नन्दीश्वर, सरस्वती, लक्ष्मी

---

1. भारतीय इतिहास–संस्कृति, कला, राजनीति, धर्म दर्शन – डा0 ईश्वरी प्रसाद प्रकाशन– मीनू पब्लिकेशन्स म्योर रोड, इलाहाबाद, संस्करण– पाँचवा

आदि की अनगिनत मूर्तियों से सारा देश परिपूर्ण हो गया। वैष्णव, शैव, शाक्त की शाखाएं कला के क्षेत्र में प्रविष्ट होने लगी। फलस्वरूप उत्तर में विष्णु और वैष्णव धर्म की मूर्तियां और मन्दिर बने तथा दक्षिण में शिवमूर्तियों और शैव मन्दिरों का निर्माण हुआ। एलोरा, एलीफैंटा के मंदिर, नटराज की धातुमूर्तियाँ, जगन्नाथ, द्वारिका, सोमनाथ आदि का आविर्भाव इसी धार्मिक कला के पीछे न रही। नायक और नायिकाओं के अनगिनत भेद उनके लीला–विलासों आदि सभी आनन्द पूर्ण अवसरों का चित्रण हुआ। भुवनेश्वर खजुराहो आदि की कला ललित कला के विकास के ही नमूने हैं। कला का शास्त्रीय रूप भी स्पष्ट होने लगा तथा अनेक शिल्प तथा मुद्रा ग्रन्थों की रचना हुई । गुप्तोत्तर काल में तो विशाल मंदिरों ने कला को और भी प्रोत्साहन दिया। इन्हीं कलाओं से वास्तुशिल्पियों एवं कलाकारों की आजीविका पूर्ण होती थी। मंदिरों की भित्तियों पर उभरी आकृतियाँ तथा स्वतंत्र मूर्तियाँ जो अनेक पौराणिक घटनाओं को चित्रित करती थी।[1] शिल्पियों की कला निपुणता का बोध कराती हैं। कांस्य मूर्तियां देवी देवताओं तथा संतों से सम्बद्ध थी। इतना ही नहीं अलङ्करण के लिए जो आभूषण एवं जवाहरात बनाये जाते थे उनसे स्वर्णकार की शिल्पकारिता का संङ्केत मिलता है। इस युग ने संगीत, नाट्य तथा कला को भी विकास के चरम बिन्दु पर पहुँचाया। तंजौर मंदिर के अभिलेख स्पष्ट बताते हैं कि देवदासियाँ नर्तकों तथा गायकों के लिए भूमि तथा आवास व्यवस्था करती थी। चोलों और पाण्ड्यों के लेख यह बताते हैं कि महाभारत से सम्बद्ध पौराणिक घटनाओं का अभिनय मण्डपों में होता था। इस कला की यूरोप की मध्ययुगीन कला से तुलना करने पर विदित होता है कि यह कला गुप्तकालीन कला की प्रौढ़ता की चरमावस्था है। कला के सभी प्रकारों यथा–वास्तुकला, चित्रकला, लक्षणकला सभी में शास्त्रीय नियमों का प्रयोग किया गया था। इन्हीं का अनुसरण करते हुए कलाकारों ने अपनी कला की स्फुटता का परिचय दिया।[2]

---

1. भारतीय मूर्तिकला – रायकृष्ण दास – नागरीप्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
2. प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास – डा0 आर0एन0 पाण्डेय, पृ0 139

गुप्तोत्तरकालीन वास्तुकला में शास्त्रकारों ने तीन शैलियों (नागर, द्रविड़, वेसर) द्वारा कला का निर्धारण किया। उड़ीसा के मंदिर शुद्ध नागर शैली का प्रतिनिधित्व करते है जो सातवीं से 13वीं शता0 के मध्य निर्मित हुए थे। इसका आकर्षक भाग तो शिखर है। शिखर में स्थित खड़ी सभी धारियां उसकी अलङ्कृत शैली को प्रभावशाली बना रही हैं। इतना ही नहीं भारतीय प्रशस्तियों की वास्तुकला का गुणानुवाद करने वाला कोणार्क का सूर्य मंदिर भी अपनी प्रकृष्ट सुन्दरता हेतु विख्यात है। इसके विमान का निर्माण वास्तुकलाविद् तथा तक्षणशिल्पी की सम्मिलित प्रतिभा का परिणाम है। इसमें चारों ओर पत्थर के तराशे हुए पहिए लगे हैं जिससे इस मंदिर की प्राचीनता एवं भव्यता का अनुमान लगाया जा सकता है। मुख्य भवन के प्रवेश द्वार के सामने नाट्य मंदिर है। बनावट में कोणार्क का मंदिर कई कारणों से अद्वितीय है। मन्दिर के सभी अङ्ग शिखर, मण्डप, देवुल, जगमोहन इस प्रकार एक में समन्वित हैं कि वे एक ही भवन के अविच्छिन्न अङ्ग दिखाई देते है। इसके अतिरिक्त इसके सभी वाह्य भाग उकेरी हुई आकृतियों से सजे हैं ये सभी आकृतियाँ वात्स्यायनके कामसूत्र में वर्णित चित्रणों का आभास करती है।

आठवीं शता0 में ध्वनि का आविष्कार हो जाने पर वह दो शाखाओं में विभक्त हो गया। एक ओर रसप्रधान तो दूसरी ओर ध्वनि–प्रधान शास्त्रों का निर्माण हुआ। इसका प्रभाव कला पर पड़ा। रस प्रधान कला में भाँति–भाँति से रसों का साक्षात्कार कराने का प्रयत्न किया गया। 12वीं शता0 के आरम्भ में जब कला को जन्म देने वाली प्रतिभा और प्रेरणानिर्बल हुई तब इसी प्रवृत्ति के कारण कुछ ऐसे चित्र, साहित्य और मूर्तियों का निर्माण हुआ जिनमें श्रृङ्गार के स्थान पर कुरूचि और वासना की गन्ध आती है। उधर ध्वनि–प्रधान विचार धारा में सहानुभूति के प्रकारको समझने के लिए वक्रोक्ति, काव्यनुमिति आदिका आविष्कार हुआ। प्रत्येक रूप, रंग और रेखा के स्पष्ट सापाद् अर्थ को छोड़कर उनके ध्वन्यात्मक अथवा ध्वनित अर्थो का पता लगया गया। फलतः काव्य और कला में गम्भीरता के स्थान पर गूढ़ता और अस्पष्टता आ गयी। चित्रों की भङ्गिमा और मुद्राओं का तान्त्रिक अर्थ लगाया

जाने लगा। इस प्रकार 12वीं शता0 के साहित्य और कला रचनाओं में प्रसाद गुण का अभाव खटकने लगा तथा वे क्लिष्ट और दुरूह कल्पनाओं से ढक सी दी गयी है। अब मध्य युग आरम्भ होता है। इसके दो भाग हुए (1) पूर्वी मध्यकाल (2) उत्तर मध्य काल। पूर्व मध्यकाल 600ई0 से 900 ई0 तक दोलायमान रहा और उत्तर मध्यकाल 900–1300 ई0 तक। यद्यपि पूर्व मध्यकाल में गुप्त कला के कुछ घटक विद्यमान है इस कला के गङ्गावतरण के लिए भागीरथी की तपस्या, शिव का त्रिपुरदाह, रावण का कैलाश उत्तोलन आदि पौराणिक एवं सजीव चित्रण हैं। इस काल में मूर्तिकला के तीन केन्द्र (एलोरा, एलीफैंटा, मामल्लपुरम्) मन्दिर स्थापत्य के नमूने है। क्योंकि यहाँ के मन्दिर पहाड़ काटकर बनाये गये है।

एलीफैंटा के गुहामंदिर एलोरा के समान ही प्रसिद्ध हैं। भारतीय स्थापत्य के अद्‌भुत निदर्शन त्रिमूर्ति का कहना ही क्या है? सुमात्रा, जावा और बोरोबुदूर के स्तूपों का कहना ही क्या है? कलामर्मज्ञों ने इन्हें पत्थर में तराशे हुए महाकाव्य की उपाधि दी है जिनमें जातक तथा बुद्ध की जीवनी के अनेक दृश्य हैं। उत्तरी मध्यकाल के स्थापत्य में खजुराहो के समस्त मंदिर निर्माण कला की उत्तम पच्चीकारी को अभिव्यक्त करते हैं। यहाँ के मंदिर वास्तुकला की विशेषता शिखर है। इसकी दूसरी विशेषता दीवारों के मध्य भाग का अलङ्करण है।[1] दीवारों का मंदिर बेहद उत्कृष्ट है। यहाँ की वास्तुकला मानव चेतना से स्पन्दित है। मन्दिर के अन्दर का भाग, मण्डपों के स्तम्भ शीर्ष आदि सभी सुष्ठ आकृतियों से सुसज्जित हैं। इन सभी दृश्यों को देखकर प्रतीत होता है कि कलाकार ने कुरूपता पर सौन्दर्य की विजय या पाशविकता तथा अध्यात्मिकता का विपर्यास कला में उभारने का सफल प्रयास किया है।[2] गुप्तोत्तरकाल के राजस्थान के 5 जैन मंदिर वास्तुकला तथा तक्षण कला की दृष्टि से सुन्दर है। इनमें से दो मंदिर पञ्चायतन शैली के है। मंदिरों के स्तम्भ का प्रत्येक भाग सुरूचिपूर्ण नक्काशी से परिवेष्टित है। ओसिया का

---

1. प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति – के0सी0 श्रीवास्तव, पृ0 109
2. कला और आधुनिक प्रवृत्तियाँ – रामचन्द्र शुक्ल – पृ0 37

मंदिर उसका आकार उसका अलङ्करण उसकी शोभा को तथा उसकी शैली की चमत्कार प्रियता को बढ़ा देते हैं। इन मंदिरों के स्तम्भ पूर्ण विकसित अवस्था में है। मङ्गलघट स्तम्भों के आधार एवं शीर्ष दोनों को अलङ्कृत करता है। इतना ही नहीं लताओं को उकेरना, गङ्गा यमुना के दृश्य इत्यादि विभिन्न वितानों से मन्दिरों का अलङ्करण किया गया है। द्वारों पर दंतुरावमेहराव ऊँचे–ऊँचे ऊरूश्रृङ्ग आदि से मन्दिरों को यथावत अलङ्कृत एवं सुसज्जित किया। इतना होते हुए भी पं० भारत के मंदिरों की निर्माण शैली का चरमोत्कर्ष दिलवाड़ा के जैन मंदिरों में मिलता है। ङिन्दू चित्रकला का उद्भव भी 8वीं शता० के लगभग हो चुका था और यह 16वीं शता० तक अपने प्रकर्ष को द्योतित करता रहा। 17वीं शता० तक तो चित्रकला का पूर्ण रूप से विराम हो गया था। क्योंकि सभी कलाएं एक कालावच्छेदन नहीं पनप सकती, चित्रकला के ह्रास पर प्रसाद कला तथा मूर्ति कला पनपी। इसी कला धारा में भारत की कला की अजस्त्र धारा बहती रही और आगे चलकर इसी ने मरूस्थलों को सिञ्चित करने के लिए राजपूत चित्रकला को प्रोत्साहित किया। यद्यपि यह समय प्रसादों के उदय का समय था। इस समय के स्थापत्य की दूसरी विशेषता 'शास्त्रीयता' है। इस काल की कला की सबसे बड़ी विशेषता अध्यात्म की अभिव्यञ्जना है। इन अलङ्करणों की विशेषता यह है कि ये स्वयं अभिप्रायों के रूप में चित्रित हुए है। कला की इससे बढ़कर और क्या अभिव्यक्ति हो सकती है। जहाँ भूषण ही भूष्य बन जाता है। अतः मूर्ति स्थापत्य की समीक्षा में प्रासाद वास्तु को हम अलग नहीं कर सकते।[1] जहाँ रही बात पल्लव शिल्पकारों की उनकी वास्तुकला में तो हमें द्रविड़ शैली के प्रारम्भिक रूप का विन्यास हमें भारवि के काव्य में तथा उसका परिवर्धित एवं विकसित रूप माघ, रत्नाकर इत्यादि के ग्रन्थों में मिलता है। क्योंकि कालिदास जैसे आदर्शमय चित्रों को और आदर्शीभूत करना परवर्ती कवियों के वश के बाहर था, इसलिए उन लोगों ने एक नये पक्ष को अङ्गीकार कर चमत्कार

कला और साहित्य की दार्शनिक भूमिका – शिवशंकर अवस्थी, पृ0 103

प्रियता की नई शैली को जन्म दिया। वहाँ कला प्रधान हो उठी, शाब्दिक चमत्कार प्रदर्शन की होड़ सी लग गयी। विषयवस्तु से असम्बद्ध विस्तारी उत्प्रेक्षा, प्रधानविम्बयोजना पाठक को उद्विग्न करने लगी। तब रत्नाकर, माघ, क्षेमेन्द्र आदि कवियों ने अपनी उच्च कोटि की प्रतिभा से काव्य को उन्मेषित किया तथा उनमें सुन्दर शिल्प का हृदयग्राही वितान फैलाकर उस अलङ्कृत शैली को चरम बिन्दु पर पहुँचाया। गुप्तों मौर्यों की कलाओं में जो सजीवता एवं जीवन्तता विद्यमान थी उसका पूर्णरूपेण समापन करके एक नई विधा से उसको सजा–सवांर कर कृत्रिमता की भीनी चादर से आवेष्टित किया जिससे वह स्वाभाविकता तो नहीं रह पायी, लेकिन चमत्कृत धरता एवं अलङ्करणप्रियता का तो कहना ही क्या था? पल्लवों ने तो वास्तुकला को काष्ठकला एवं कन्दराकला से मुक्त कराने का सोंचा। क्योंकि इन्होंने अपनी चारों शैलियों से वास्तुकला को भिन्न–भिन्न आकार देना चाहा। इनके मंदिर मण्डप एवं रथ थे।[1] जिसे सप्तपैगोडा के नाम से भी अभिहित करते थे। मंदिर का आयताकार हौंना, चैत्य का त्रिकोण होना छत को ढोलाकार होना गवाक्षों पर गोपुरम का निर्माण होना उनकी विराट एवं भव्य शोभा का द्योतक था। मंदिरों का जो प्रारूप पल्लवों ने प्रकट किया वह चोलों के समय अपने चरमोंत्कर्ष को प्राप्त हो गयी। चोलों के पश्चात् पाण्ड्य आये और इनकी शैली में मंदिरों का निर्माण कार्य बंद हो गया। और नई प्रवृत्तियों का जन्म होने लगा। इन लोगों ने अपनी कुशलता का प्रमाण शिखरों और विमानों में दिखाया था, किन्तु पाण्ड्यों के काल से वह अपने कौशल का प्रदर्शन मंदिरों के वाह्यवर्ती भागों में करने लगे।[2] मंदिर तो लगभग पूर्णरूपेण उसी शैली में होते थे, लेकिन सजावट में फर्क हो गया। अब मंदिर चारों ओर से प्राचीरों से आवेष्टित होने लगे। जावा में तो 13वीं शता0 तक के मूर्तिकला के अनुपम उदाहरण प्राप्त होते है। चौदहवीं शता0 के बाद तो मूर्तिकला एक प्रकार से पंगु बन गयी थी। क्योंकि यह मुसलमानी युग था। कुम्मा के काल में

---

1. प्राचीन भारत का इतिहास – विमलचन्द्र पाण्डेय
2. कालिदास साहित्य एवं वादनकला – सुषमा कुलश्रेष्ठ – पृ0 26

कीर्तिस्तम्भ तथा कुछ मूर्तियां बनी परन्तु उ0भारत इस काल में एक प्रकार से मूर्ति स्थापत्य के लिए दरिद्र ही कहा जाएगा। पू0 मध्यकाल में निर्मित शिव नटराज की प्रतिमा का विकास उत्तर काल तक चलता रहा जो भारतीय स्थापत्य की एक महनीय निष्ठा है।[1] इसके अलावा इस काल में कृष्णदेवराय और उसकी रानियों का चित्र, विजयनगर के विष्णु का विट्ठल स्वामी मंदिर, राम के हजारा रामस्वामी नामक मंदिर दाक्षिणात्य शैली के सुंदर निदर्शन है। अभी रह गयी थी चित्रकला की बात। जिसकी दो धाराएं प्रस्फुटित हुई (1) राजपूत कला (2) मुगल कला। जिनमें राजपूत कला 19वीं शता0 तक तथा मुगलकला 18वीं शता0 तक ही दोलायमान रही। राजपूत कला पूर्णरूपेण हिन्दू थी। इसने अजन्ता की बौद्धकला का विलोपकर राजपूत कला को पनपने का एक अच्छा अवसर प्रदान किया। इस कला का प्रधान केन्द्र जयपुर था लेकिन इस शैली का विकास काँगड़ा में हुआ। इस कला में न धार्मिक चेतना है न अध्यात्म का उन्मेष बल्कि इसकी प्रमुख विशेषता 'अतिरंजन' है।

'मुगलकला'– जहाँ राजपूतकला जनतांत्रिक एवं रहस्य प्रधान है वहीं मुगल कला राजप्रधान और यथार्थमय है। मुगलचित्रकला का श्रीगणेश तो अकबर के समय में होता है। इसने ईरानी, हिन्दू सभी कलाकारों को संरक्षण दिया। जहाँगीर के समय तो यह चित्रकला विकास के चरमबिन्दु पर पहुँच गई। लेकिन शाहजहाँ के समय यह चित्रकला ह्रास की ओर झुकी क्योंकि शाहजहाँ का काल तो वास्तु स्थापत्य का स्वर्णयुग था। औरंगजेब के समय तो प्रायः सभी कलाएं मर गई। मुगल चित्रकला के दो प्रतिमान थे – (1) क्षुद्राकृति चित्रण (2) पूर्णाकार चित्रण। इसमें प्रथम कला की दृष्टि से जयादा उपयोगी थी। इनमें श्रृङ्गार, युद्ध, चित्र, दरबार पौराणिक चित्र इत्यादि सभी विषय थे। 'पूर्णाकार चित्रण' में तो इतिहास का आदिम स्त्रोत, उषा के स्वप्न की चित्रकला है।

---

1. भारतीय चित्रकला – रायकृष्ण दास – पृ0 10

18वीं शता0 में पूर्णरूपेण मुगल चित्रकला का लोप हो गया। उन्नीसवीं शता0 के अन्तिम क्षण में बंगाल में चित्रकला का नवप्रभात अवनीन्द्रनाथठाकुर के हाथों द्वारा हुआ। पराधीनता की बेड़ियों में जकड़े देश के लिए यह स्वाभाविक था कि उसे नई रोशनी मिले जिससे चित्रकला का सांस्कृतिक नवजागरण प्रस्फुटित हो उठे। इन्होंने अजंता, सिगरिया, बाघ आदि की देनों का सम्यक् अनुकरण किया और एक नयी परम्परा पल्लवित की। अतएव कला का विकास संस्कृति का विकास है। कविता, नाट्य, नृत्य, संगीत के सदृश चित्रकला की भी अपनी प्राचीनता है। संस्कृत के काव्यों की भी एक बहुत बड़ी सूची है। जिसमें चित्ररचना के सम्बन्ध में संदर्भ भरे पड़े है। कालिदास के तीनों नाटकों (अभि0, माल0 विक्र0) में यथा मालविकाग्निमित्रम् में नृत्य, विक्रमोर्वशीयं में संगीत, तथा शाकु0 में चित्रकला का समयक् ज्ञान परिलक्षित होता है। इतना ही नहीं रघुवंश एवं कुमारसम्भव के परिशीलन से प्रतीत होता है कि प्रायः प्रेमी एवं प्रेमिका अपने चित्रों को बड़े मनोयोग से सजाते थे। भावनामय चित्र की एक सुलभ कल्पना देखिए – "मत्सादृश्ययं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती"। वाक्य से केवल चित्रकला का ही प्रमाण नहीं प्राप्त होता बल्कि कालिदास के सभी शास्त्रों में निष्णात् होने की भी जानकारी प्राप्त होती है। निम्न वाक्यों से उनकी प्रतिभा आँकी जा सकती हैं–

"विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः,
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः,
प्रासादास्त्वांतुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः।।" उत्तरमेघ– 1/1

तेनाष्टौ परिगमिताः समाः कथंचिद्बालत्वादवितथसूनृर्तन सूनोः।
सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः प्रियापाः स्वप्नेषु क्षणिक समागमोत्सवैश्च।।

रघु0 8/92

वेश्मानि रामः परिबर्हवन्ति विश्राण्य सौहार्दनिधिः सुहृद्भ्यः।
बाष्पायमाणो बलिमन्निकेतमालेख्यशेषस्य पितुर्विवेश।। रघु0 – 14/15

"कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्त्रोतोवहामालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निमातुमिच्छाम्यधः,
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्।। अभि0 6/17

कालिदास की इस सरस्वती में जिस काव्य गङ्गा और चित्र यमुना के संगम का प्रोत्थान हुआ है वह बड़ा मार्मिक है। ऐसे ही उदाहरण बाण ने कादम्बरी और हर्षचरित में प्रकट किया ऐसा प्रतीत होता है। बाण के प्रत्येक प्रासाद वर्णनों में चित्रशाला का अनिवार्य साहचर्य है। चित्र प्रसार, चित्रभित्ति, चित्रभूमिबंधन सभी का उद्घाटन यथावसर किया गया है। देखिए—

''सकलदेशादिश्यमानशिल्पिसार्थागमनम्'' हर्षचरित – 142
''चित्रलेखादर्शित विचित्रसकल त्रिभुवनाकाराम्'' कादम्बरी, पृ० 176

कालिदास के ''त्वामालिख्य प्रणय कुपितां'' (उ०मे०) श्लोक में चित्रमयता पूर्ण प्रसङ्गों को बाण देख चुके थे। उसी परम्परा को और आगे पल्लवित करते हुए बाण ने कहा— ''रूपलेखयोन्मीलनकालाञ्जनवर्तिका''। कादम्बरी, पृ० 455

बाण के इन वर्णनों को देखकर प्रतीत होता है कि शायद कुशल चित्रकार को भी इतना ज्ञान न हो जितना बाण, कालिदास, भवभूति, धनपाल इत्यादि कवियों को चित्रकला का सम्यक् ज्ञान था। 12वीं शता० के उद्भट विद्वान् श्रीहर्ष में प्रौढ़ पाण्डित्य का उत्कट विलास दृष्टिगत होता है परन्तु उनके चित्र शास्त्रीय ज्ञान से कम ही लोग परिचित है ये मध्यकाल के कवि हैं। इनके समय सभी शिल्प विकास के चरम बिन्दु पर थे। इस काल की पत्रभङ्गि रचना तो प्रसिद्ध ही थी। अक्षरालेख भी पूर्णरूपेण प्रचलित था। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष ने दमयन्ती के मुखसौष्ठव, के वर्णन प्रसङ्ग में भौहों, तिलक की उपमा में ॐ (दो दल, बिन्दु तथा अर्धचन्द्र) समुत्थापित किया है। बालिका दमयन्ती के कुचों की उपमा विसर्गों से दी गयी है।

''आकल्पविच्छेदविवर्जितो यः स धर्मशास्त्रव्रज एव यस्याः।
पश्यामि मूर्द्धा श्रुतमूलशाली कण्ठे स्थितः कस्यमुदे न वृत्तः।।
भ्रुवौदलाभ्यां प्रणवस्य यस्यास्तद्बिन्दुना भालतमालपत्रम्।
तदर्द्धचन्द्रेण विधिर्विपञ्ची निक्वाणनाकोणधनुः प्रणिन्ये।।'' नै०— 10/85,86

इस प्रकार श्रीहर्ष के नैषध से चित्रशास्त्र के परम्परित सिद्धान्तों का ही ज्ञान नहीं होता, बल्कि कुछ नये उन्मेष भी दिखाई देते हैं। ओंकार, विसर्ग आदि की उद्भावना चित्रकला की देन है। शरीरावयवों का तो सुन्दर उद्घाटन इन्होंने नवें सांतवे सर्ग में दमयन्ती के नखशिख वर्णन में किया– देखिए –

"अस्यायदास्येन पुरस्तिरश्च तिरस्कृतं शीतरूचान्धकारम्।
स्फुटस्फुरद्भङ्गकचच्छलेन तदेव पश्चादिदमस्ति बद्धम्।।" नैषध0–7/21

इसी प्रकार चित्रशालाओं का समयक् दिग्दर्शन तो इन्होंने 18वें अध्याय में कराया है। जिस प्रकार महाकवि कालिदास ने शरीर मुद्राओं से सम्बन्धित चित्रों को नई उद्भावनाओं से मण्डित किया उसी प्रकार नैषधकार ने भी महनीय चित्रकार के लोकोत्तर कौशल का सफल प्रदर्शन किया। इसके अलावा ये सभी गुणवत्ताएं माघ, दण्डी, भारवि, रत्नाकर, भवभूति, राजशेखर इत्यादि कवियों में भी किसी प्रकार कम नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि भारतीय जीवन में मूर्तिकला, वास्तु, चित्रकला, संगीत, नाट्य, नाटक आदि का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि किसी देश ओर साहित्य का कलात्मक जीवन ही उसका परिचायक होता है। कवियों की कृतियों में चित्रोन्मेष की इस भावना से सर्वशास्त्र विशारद् एवं सर्वकलापटु होने का प्रमाण मिलता है। इस प्रकार ईसा की शताब्दियों में स्थापत्य सरल नहीं रह गया था, बल्कि वह भी शनैः शनैः अतिरञ्जित होता गया जो उन युगों की चमत्कार प्रियता को ठीक उसी प्रकार द्योतित करता है जैसे समकालिक संस्कृत काव्य–परम्पराएं करती रहीं। साहित्य और कला समाज की दर्पण ही नहीं, बल्कि समाज में मानवमन की नित्य बदलती प्रवृत्तियों की अभिप्रेरक भी हैं।

❐

उपसंहार

संस्कृत काव्य–जगत में उपस्थित प्रत्येक युग के महाकाव्यों में चामत्कारिक शैली का जो रूप मिलता है उसका वर्णन पिछले अध्यायों में किया जा चुका है। इतना ही नहीं संस्कृत साहित्याकाश में काव्य का उद्भव कैसे हुआ? काव्य किसे कहते है? काव्य का क्या प्रयोजन है? साथ ही काव्य के कौन–कौन से शोभाधायक तत्त्व है? इन सभी का वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

लौकिक काव्य–जगत् में आर्षकाव्य रामायण एवं महाभारत ही माने जाते है। इन्हीं दोनों महाकाव्यों से महाकाव्यों की सुदृढ़ परम्परा का आरम्भ होता है। इनमें वाल्मीकि कृत रामायण पहला आदिकाव्य है। काव्यारम्भ इसमें उपस्थित क्रौञ्चवध की मर्मस्पर्शिनी घटना से होता है। तभी ब्रह्मा द्वारा उपदिष्ट वाल्मीकि ने साक्षात् धर्म स्वरूप राम को लेकर जिस कथा का प्रणयन किया उसमें इहलोक में ही परलोक की रचना करके सत्य की असत्य पर, धर्म की अधर्म पर विजय दिखाई है।

रामायण के पश्चात् व्यास प्रणीत महाभारत आता है। व्यास का आदर्श उच्च था जिनमें मानव पुरूषार्थ अपने चरम को पहुँच गया है। महाभारत का सन्देश है कि मानव धर्म ही सब कुछ है। उसी से अर्थ और काम दोनों सिद्ध हो सकते है। जिस प्रकार दम्पत्ति वियोग का क्रन्दन रामायण में था उसी प्रकार धर्म और मानवता के वियोग का क्रन्दन महाभारत में है।

आर्ष कवियों के उपरान्त हम कालिदास और अश्वघोष के काल में प्रवेश करते है। इस काल के महाकाव्य उन सहृदयों को लक्ष्य करके लिखे गये थे जो काव्यशास्त्र से अभिज्ञ हो चुके थे। इसलिए इन महाकाव्यों के रचयिताओं का व्यक्तित्त्व वाल्मीकि और व्यास से भिन्न हो गया। कला के प्रति जितने जागरूक कालिदास और अश्वघोष दिखाई दिये उतने वाल्मीकि, व्यास नहीं। यह भेद युग के अनुसार था। कालिदास की सारस्वत–प्रधान शैली को अपनाते हुए अश्वघोष ने उच्चतम आदर्श, पारलौकिक वैराग्य को अभिव्यक्ति करने के लिए महात्मा बुद्ध जैसे उदात्त चरित्र को अपने महाकाव्य का नायक बनाया। कथाप्रवाह, वर्णनशैली, भाव–व्यञ्जना सभी में पूर्ण प्रभावोत्पादकता यहाँ विद्यमान है।

कालिदासोत्तर काल में अश्वघोष, भारवि, भट्टि, कुमारदास, माघ, रत्नाकर, बाण, सुबन्धु इत्यादि कवियों के काव्यों में भावपक्ष का प्रभाव गौण होता गया तथा उच्च कलात्मकता ने सर्वत्र अपना साम्राज्य स्थापित किया। इतना ही नही इतिवृत्तात्मक प्रसङ्गों के साथ ही भावात्मक प्रसङ्गों की योजना भी बड़ी सामञ्जस्यपूर्ण शैली में होने लगी थी। अब महाकाव्यों की रचना रूढ़िबद्ध होती चली गयी और उसका रूप भी बड़ा ही कलापूर्ण हो गया।

माघोत्तर काल में यह प्रक्रिया अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर गयी। अब काव्यों में केवल नक्काशी और सजावट ही रह गयी और रस का नामोनिशान मिट गया। माघ, रत्नाकर इत्यादि कवियों ने भी अपने-अपने महाकाव्यों में इसी विधि का अनुकरण किया। इस समय तक चामत्कारिक शैली ने सर्वत्र अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था।

12वीं शता0 के आस-पास जैनकवियों ने लोकप्रचलित कथाओं का आश्रयण कर ऐसे चरित काव्यों का निर्माण किया जिनमें प्रेम-भाव को अधिक प्रमुखता मिली। हरिश्चन्द्र का धर्मशर्माभ्युदय इसी कोटि का है जिनमें धार्मिक उपदेश ही सर्वत्र दिये गये हैं। इसके अनन्तर कुछ द्विसन्धान काव्य रचे गये जिनमें कविराज (12वीं शता0) का राघवपाण्डवीयम् कविराजमाधवभट्टकृत राघवपाण्डवीयम्, हरदत्तसूरिकृत राघवनैषधीय तथा चिदम्बरकृत राघवपाण्डवयादवीय (16वी शता0) विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इसी प्रकार विलोम काव्यों में वेंकटाध्वरिकृत यादवराघवीय एवं सूर्यदेवकृत रामकृष्णविलोमकाव्य है। राघवपाण्डवीयम् जैसे द्विकथात्मक महाकाव्यों में एकाधिक विषयों का समिश्रण कर कवियों ने अपनी चामत्कारिक शैली की अभिव्यक्ति की है। ऐसी ही चमत्कारप्रियता इस युग की कलाओं में भी विद्यमान थी। यह ठीक उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होती थी जिस प्रकार इस युग की काव्य परम्पराएं। निःसन्देह साहित्य और कला समाज के परिवर्तित हीं नहीं करते बल्कि मानव मन की सहज प्रवृत्तियों को अभिप्रेरित भी करते है। इसलिए कहा गया है कि- साहित्य समाज का दर्पण है।

सहायक ग्रन्थों की सूची

1. अभिनवसाहित्यचिन्तन – डा0 भगीरथ दीक्षित – इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, प्र0सं0

2. अभिनन्द कृत रामचरित –

3. अश्वघोषकृत बुद्ध चरित –

4. अश्वघोषकृत सौन्दरानन्द – रमाशंकर त्रिपाठी – शान्ति त्रिपाठी, वाराणसी।

5. आनन्दवर्धनकृत ध्वन्यालोक–आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि–ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, तृ0 सं0

6. कवि और काव्यकार – डा0 सुरेश चन्द्र पाण्डेय –

7. कला के सिद्धान्त – आर0जी0 कलिङ्गवुड – राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।

8. कला और आधुनिक प्रवृत्तियाँ– रामचन्द्र शुक्ल – 1958, 1963, 1974, तीनों सं0

9. कला और साहित्य की दार्शनिक भूमिका – शिवशंकर अवस्थी – सातवाहन पब्लिकेशन, दिल्ली, प्र0 सं0, 1983

10. कविराज कृत राघव पाण्डवीयम् –

11. कालिदासकृत कुमारसम्भव (पुंसवनी टीका) – पं0 गंगाधर शास्त्री – चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, तृ0 सं0

12. काव्य के मूल स्त्रोत और उनका विकास – डॉ0 शकुन्तला दुबे – हिन्दी प्रचारक प्रतिष्ठान, वाराणसी।

13. कालिदासकृत रघुवंश – डॉ0 कृष्णमणि त्रिपाठी – चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्र0 सं0

14. कालिदास के पक्षी – हरिदत्त वेदालङ्कार –

15. कालिदास और उनकी काव्यकला – वागीश्वर विद्यालङ्कार – मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, प्र0 सं0

16. कालिदास कृत मेघदूत – डॉ0 शिवराज शास्त्री – साहित्यभण्डार, मेरठ, नवीन सं0

17. कालिदास साहित्य एवं वादनकला – सुषमा कुलश्रेष्ठ – ईस्टर्न बुक लिंकर्स प्रकाशन प्र0 सं0, 1986

18. काव्यस्वरूप सौन्दर्य एवं चमत्कार – डॉ0 महेश भारतीय – शारदा बुक एजेन्सी, गाजियाबाद, प्र0 सं0, 1987

19. कालिदास कृत अभिज्ञान शाकुन्तलम् – रमाशंकर त्रिपाठी –

20. कालिदासकृत मालविकाग्निमित्रम् –

21. कालिदास का बिम्बविधान – डॉ0 अयोध्या प्रसाद द्विवेदी – अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद, सं0, 1986

22. कादम्बरी का बानस्पतिक वैभव – डॉ0 माया त्रिपाठी – राका प्रकाशन, इलाहाबाद।

23. कालिदास की समीक्षा परम्परा – राधावल्लभ त्रिपाठी – हरिसिंह गौर वि0वि0, प्र0सं0 1988,

24. कुन्तक कृत – वक्रोक्तिजीवित –

25. कुमारदासकृत – जानकीहरण – ब्रजमोहन व्यास जी

26. जयदेव कृत चन्द्रालोक – डा0 श्रीकृष्ण मणि त्रिपाठी (विमला सुधा संस्कृत हिन्दी टीका) – चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, सं0 1988

27. जैन शोध और समीक्षा – डा0 प्रेम सागर जैन –

28. जैन संस्कृत महाकाव्य परम्परा और अभय देवकृत जैन महाकाव्य जयंत विजय – राम प्रसाद त्रिपाठी – साहित्य निकेतन, कानपुर, सं0 1984,

29. दण्डीकृत काव्यादर्श –

30. धनञ्जयकृत दशमरूपकम् – श्री गोवर्धन जी शास्त्री एवं प्रो0 चन्द्र शेखर जी पाण्डेय

31. धनञ्जयकृत दशमरूपकम् – रमाशंकर त्रिपाठी – वि0वि0 प्रकाशन, वाराणसी तृतीय सं0 2001

32. नैषधपरिशीलन – डॉ0 चण्डिका प्रसाद शुक्ल – हिन्दुस्तान एकेडमी, इला0

33. पण्डित राज जगन्नाथ कृत – रसगंगाधर – पण्डित श्री बदरीनाथ झा– चौखम्बा, विद्याभवन, वाराणसी, नवम सं0 2001

34. प्रकृति और काव्य – डॉ0 रघुवंश –

35. प्रवरसेन कृत – सेतुबन्ध

36. प्राचीन भारत का इतिहास – डॉ0 विमलचन्द्र पाण्डेय – केदारनाथ रामनाथ प्रकाशन, मेरठ, 11वां सं0

37. प्राचीन भारत का इतिहास – द्विजेन्द्र नारायण झा, एवं कृष्ण मोहन श्री माली – हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

38. प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति – के0सी0 श्रीवास्तव – यूनाइटेड बुक डिपो प्रकाशन, इला0, पञ्चम सं0

39. प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास – डा0 आर0एन0 पाण्डेय –

40. प्राचीन भारत का इतिहास – रमाशंकर त्रिपाठी –

41. बाणभट्ट का साहित्य अनुशीलन – अमरनाथ पाण्डेय – भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी, नई दिल्ली, सं0 1974

42. बाणकृत कादम्बरी कथामुखम् – तरणीश झा – रामनारायण बेनी माधव, इलाहाबाद, चतुर्थ सं0

43. बाणकृत हर्ष चरितम् (शंकर कवि विरचित हिन्दी टीका) – पं0 श्री जगन्नाथ पाठक – चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, तृ0 सं0

44. वाल्मीकि की बिम्ब योजना – डा0 रामनरेश त्रिपाठी – स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद।

45. भरतकृत नाट्य शास्त्र –

46. भवभूति कृत उत्तररामचरित – – रामनारायणलाल विजयकुमार इलाहाबाद, 1995 सं0

47. भट्टिकृत भट्टिकाव्यम् – आचार्य शेषराज शर्मा शास्त्री (चन्द्रकला विद्योतिनी संस्कृत–हिन्दी व्याख्या) – चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, चतुर्थ सं0

48. भामहकृत काव्यालङ्कार –

49. भारवि कृत किरातार्जुनीयम् – डॉ0 राजेन्द्र मिश्रा – अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद।

50. भारवि कृत किरातार्जुनीयम् – समीर शर्मा – चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, चतुर्थ सं0, 1979,

51. भारवि काव्य में अर्थान्तरन्यास – उमेश प्रसाद रस्तोगी –

52. भारवि कृत किरातार्जुनीयम् – शिवबालक द्विवेदी एवं महेश नाथ चतुर्वेदी – ग्रन्थम प्रकाशक, कानपुर, पांचवा संस्करण,

53. भारतीय मूर्ति कला – रायकृष्ण दास –

54. भारतीय चित्रकला – रायकृष्ण दास –

55. भारतीय स्थापत्य – द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल – इलाहाबाद वि0वि0 प्र0सं0 1968

56. भारवि कृत किरातार्जुनीयम् – पं0 जनार्दन शास्त्री पाण्डेय – मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली पटना, वाराणसी,

57. भारतीय संस्कृति का उत्थान – डा0 राम जी उपाध्याय –

58. भोजकृतसरस्वतीकण्ठाभरण –

59. मम्मट कृत काव्य प्रकाश – आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि – ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी, षष्ठ सं0

60. महाभारत का काव्यविमर्श – मृदुला त्रिपाठी – समीक्षा प्रकाशन, बस्ती,

61. महाभारत में धर्म – डॉ0 शकुन्तला रानी तिवारी –

62. महाकवि बाणभट्ट – विजय लक्ष्मी त्रिवेदी –

63. महाभारत में लोक कल्याण की राजकीय योजनाएं – डा0 कामेश्वर नाथ मिश्रा – प्र0 सं0 1972,

64. महाकवि हरिचन्द्र एक अनुशीलन – डॉ0 पन्ना लाल साहित्याचार्य – भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र0 सं0

65. मलिक मो0 जायसी और उनका काव्य – पं0 शिवसहाय पाठक – साहित्य भवन इलाहाबाद, प्र0सं0 1976

66. मध्ययुगीन हिन्दी कृष्ण भक्ति धारा और चैतन्य सम्प्रदाय – डॉ0 मीरा श्रीवास्तव – हिन्दुस्तान एकेडमी, इलाहाबाद, प्र0 सं0 1968,

67. माघकृत शिशुपालवधम् – देव नारायण मिश्रा – साहित्य भण्डार मेरठ,

68. माघकृत शिशुपालवधम् – श्री रामजी लाल शर्मा – चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी,

69. माघकृत शिशुपालवधम् – डॉ0 आद्याप्रसाद मिश्र –

70. मोहभङ्गकाव्यम् – कु0 बेलाहाँग – श्री पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्र0सं0 1987

71. रत्नाकर कृत हरिविजय – डॉ0 जी0सी0 त्रिपाठी – राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली।

72. रसा से सदानीता तक – डा0 हरिशंकर त्रिपाठी – वेदपीठ प्रकाशन, इलाहाबाद प्र0 सं0 1991

73. रामायण मञ्जरी का साहित्यिक का साहित्यिक अनुशीलन – योगेशचन्द्रदेव – अक्षय्यवट प्रकाशन, नई दिल्ली,

74. राघव पाण्डवीयम् एक अध्ययन – लक्ष्मीमिश्रा –

75. रीति और शैली – नन्द दुलारे बाजपेई –

76. रूय्यक कृत अलङ्कार सर्वस्व –

77. रूद्रट कृत काव्यालंङ्कार –

78. वामनकृत काव्यालङ्कार सूत्र – डॉ0 वेचन झा – चौखम्बा वि0 भारती, वाराणसी, द्वि0 सं0 1976

79. विभिन्न युगों में सीता का चरित्र चित्रण – डॉ0 सुधा गुप्ता – प्रज्ञा प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र0सं0

80. विश्वनाथ कृत साहित्यदर्पण (विमला व्याख्या) – शालिग्राम शास्त्री – मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली, नवम् सं0

81. विश्वनाथ कृत साहित्य दर्पण – देवदत्त कौशिक – भारतीय विद्या प्रकाशन देहली, वाराणसी, प्र0 सं0

८2. विशाखदत्त कृत मुद्राराक्षस – आचार्य जगदीश चन्द्र मिश्र – चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, सं0 सं0 1994,

83. वृहत्त्रयी – विजय बहादुर सिंह – प्रथम सं0

84. वृहत्त्रयी एक तुलनात्मक अध्ययन – डॉ0 सुषमा कुलश्रेष्ठ ईस्टर्न बुल लिंकर्स प्रकाशन, दिल्ली, प्र0 सं0 1983

85. शैली विज्ञान का स्वरूप डॉ0 गुप्तेश्वर नाथ उपाध्याय – वि0वि0 प्रकाशन, वाराणसी, प्र0 सं0 1976

86. शूद्रक कृत मच्छकटिक – श्री निवास शास्त्री – साहित्यभण्डार, मेरठ,

87. श्रीहर्ष कृत नैषधीयचरितम् – शेषराज शर्मा – द्वितीय संस्करण

88. श्रीहर्ष कृत नैषधीयचरितम् (जीवातु मणिप्रभा) – पं0 श्री हरगोविन्द शास्त्री – चौखम्बा अमर भारती प्रकाशन, वाराणसी, षष्ठ सं0

89. श्रीहर्ष कृत नैषधीयचरितम् – डा0 देवनारायण मिश्र – साहित्य भण्डार, मेरठ, तृ0 सं0 1995

90. श्रीहर्ष कृत नैषधीयचरितम् – वायुनन्दन पाण्डेय – चौखम्बा ओरियन्टालिया वाराणसी, प्र0 सं0 1976

91. सुरथ चरित महाकाव्य एक परिशीलन – सतीश चन्द्र झा – कैपिटल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, सं0 1984,

92. संस्कृत साहित्य का इतिहास – कलानाथ शास्त्री – यूनिक ट्रेडर्स, जयपुर, सं0 1995

93. संस्कृत को रघुवंश की देन – डॉ0 शंकरदत्त ओझा –

94. संस्कृत साहित्य चिंतन – डॉ0 प्रभुदयाल अग्निहोत्री – अनादि प्रकाशन इलाहाबाद, प्र0सं0 1973

95. संस्कृत सुकवि समीक्षा – बलदेव उपाध्याय – प्र0 सं0

96. संस्कृत साहित्य का सरल सुबोध इतिहास – जितेन्द्र चन्द्र भारतीय शास्त्री – उ0प्र0 हिन्दी अकादमी, लखनऊ, प्र0सं0 1977

97. संस्कृत साहित्य में नीति एक विमर्श – डॉ0 प्रभा किरण – वाणी मन्दिर प्रकाशन, वाराणसी,

98. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा – पं0 चन्द्रशेखर एवं डॉ0 शान्ति कुमार नानू राम व्यास – साहित्य निकेतन कानपुर, संशोधिक बीसवां सं0

99. संस्कृत साहित्य का इतिहास – डॉ0 राजकिशोर सिंह एवं आचार्य देवी शंकर मिश्रा – प्रकाशन केन्द्र सीतापुर रोड, लखनऊ, पूर्णतः संशोधित सं0

100. संस्कृत काव्यकार – हरिदत्त शास्त्री – द्वितीय सं0

101. संस्कृत साहित्य का इतिहास – वी0 वरदाचारी – सं0 1962

102. संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इति0 – डा0 सूर्यकान्त –

103. संस्कृत साहित्य का इतिहास – आचार्य बलदेव उपाध्याय – शारदा निकेतन, वाराणसी, दशम सं0,

104. संस्कृत साहित्य का इतिहास – वाचस्पति गैरोला – चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, तृतीय सं0,

105. संस्कृत साहित्य का विशद् इतिहास – डॉ0 पुष्पा गुप्ता –

106. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास – डॉ0 कपिल देव द्विवेदी – शान्ति निकेतन वाराणसी, पंचम सं0

107. संस्कृत साहित्य का इतिहास – डॉ0 द्वारिका प्रसाद सक्सेना –

108. संस्कृत साहित्य का इतिहास – डॉ0 राम चन्द्र मिश्र –

109. संस्कृत कवि दर्शन – भोलाशंकर व्यास –

110. संस्कृत साहित्य में राष्ट्रीय भावना – हरिनारायण दीक्षित – देववाणी परिषद दिल्ली, प्र0सं0 1983

111. संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास – राधावल्लभ त्रिपाठी – विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम सं0

112. संस्कृत साहित्य का इतिहास – रामदेव साहू –

113. संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास – राम जी उपाध्याय – चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सं0 1993

114. संस्कृत साहित्य का इतिहास – कीथ–अनुवादक मंगल देव –

115. संस्कृत के महाकवि और काव्य – डॉ0 राम जी उपाध्याय – रामनारायण लाल बेनी माधव, इलाहाबाद, प्र0सं0 1965

116. संस्कृत गद्यालोक – सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव –

117. संस्कृत साहित्य का इतिहास – महेश चन्द्र प्रसाद

118. हरिदत्त सूरिकृत राघवनैषधीय – पं0 रामकुमार मालवीय – चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, प्र0सं0

119. हिन्दी नाटकों में भारतीय संस्कृति का स्वरूप – डॉ0 कात्यायनी सिंह – शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद सं0 1987

120. हिन्दी में ललित कला साहित्य – जगदीश चन्द्र चतुर्वेदी – साहित्य संगम, इलाहाबाद, प्र0सं0

121. हिस्ट्री ऑफ क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर – कृष्ण भाचारी – मोती लाल बनारसी दास, प्र0 सं0, 1970